ब्रह्म-साक्षात्कारके सरल उपाय

ब्रह्म-साक्षात्कारके
सरल
उपाय

साधनाके द्वारा

निष्कम्प दीपशिखाके

आकारमें अत्यन्त प्रकाशमान

तेजःपुंज परब्रह्मका साक्षात्कार

हो जाता है।

अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी

प्रकाशक :

अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी,

६३/४३, उत्तर बेनिया बाग,

वाराणसी—२२१ ००१

●

●

संवत् २०४० वि०

सन् १९८३ ई०

●

मूल्य : ५० रुपए

●

मुद्रक :

सुधीरकुमार चतुर्वेदी

सुदर्शन मुद्रक,

६३/४२, उत्तर बेनिया बाग,

वाराणसी : २२१ ००१

विनियोग

ॐ अस्य परब्रह्मसाक्षात्कारोपायग्रन्थस्य
स्वात्माराम ऋषिः निश्छन्दमयं गद्यं
प्रणवः बीजं परमेष्ठी देवता
निष्कम्पपरमज्योतिर्मयस्वरूपपरमार्थ-
तत्त्वदर्शने विनियोगः ॥

●

सोऽहम् ।

हंसः ।

तत्त्वमसि ।

अहं ब्रह्मास्मि ।

●

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

[तीनों वेद और उनके ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक, स्मृति आदि-द्वारा प्रतिपादित मत, सांख्य, योग, पाशुपतदर्शन, वैष्णव-दर्शन आदि अनेक मार्ग आपको प्राप्त करनेके लिये प्रचलित हैं जिनमेंसे लोग अपनी भिन्न रुचिके कारण कोई सरल या कुटिल मार्ग ग्रहण करके साधना करने लगते हैं किन्तु सभी अपने-अपने मार्गोंसे चलते हुए भी सब वैसे ही पहुंचते आपके ही पास हैं जैसे सभी नदियाँ समुद्रमें ही जा मिलती हैं ।]

अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी

प्रबन्ध-समिति

अध्यक्ष

पंडित कमलापति त्रिपाठी (दिल्ली)

उपाध्यक्ष

श्रीनथमल भुवालका : श्रीनन्दलाल टाँटिया
(कलकत्ता) (कलकत्ता)

व्यवस्थापक

श्रीधर्मशील चतुर्वेदी (काशी)

सदस्य

डा० हरिवंशराय बचन (बम्बई)
डा० आशुतोष (प्रतापगढ़)
डा० छबिनाथ पांडेय (मीरजापुर)
डा० रामसकल शर्मा (बंबई)
डा० दशरथराज (गोरखपुर)
डा० किशोरीलाल गुप्त (काशी)
डा० उमा मौडवेल ,,
डा० श्रीमती जयशीला पांडेय
डा० हरिराम आचार्य (जयपुर)
प्रो० उपेन्द्र पन्त (उज्जैन)

संपादक-मंडल

आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी (प्रधान सम्पादक)
आचार्य पण्डित करुणापति त्रिपाठी (काशी)
विद्यावारिधि डा० किशोरदास स्वामी (बम्बई)
डा० मनोरंजन ज्योतिषी (मोदीनगर)
डा० नारायणदत्त शर्मा (मथुरा)
डा० किशोरीलाल गुप्त (सुधवै)
पं० श्रीधर शास्त्री (प्रयाग)
डा० छबिनाथ पांडेय (मीरजापुर)
प्रो० हरनारायण चतुर्वेदी (काशी)
पं० प्रियशील चतुर्वेदी (काशी)

परिषद्की ओरसे

कृतज्ञता-प्रकाशन

संवत् २००० विक्रमीमें विक्रम द्विसहस्राब्दीके ऐतिहासिक पर्वपर महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजीने सस्ते मूल्यमें सत्साहित्यके प्रकाशन और वितरणके निमित्त अखिल भारतीय विक्रम-परिषद्की स्थापना की थी जिसकी ओरसे पिछले ४० वर्षोंमें अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका प्रकाशन हुआ जिनमेंसे कालिदास-ग्रन्थावली, अभिनव नाट्यशास्त्र, समीक्षाशास्त्र, चार खण्डोंमें तुलसी ग्रन्थावली (सरल टीका और समीक्षा-सहित), पाँच खण्डोंमें सूर-ग्रन्थावली (सरल टीका और समीक्षा-सहित) और श्रीमद्भगवद्गीतात्रयी आदि महाग्रन्थोंका इतना व्यापक सम्मान हुआ कि इन ग्रन्थोंकी एक भी प्रति हमारे पास नहीं बच पाई है !

जब हमारे प्रधान सम्पादक महोदयने समस्त भारतीय आध्यात्मिक साधनाओं, दार्शनिक पद्धतियों और धर्म-ग्रन्थोंका गंभीर मन्थन करके उनमें निर्दिष्ट विकीर्ण ब्रह्म-साक्षात्कारके प्रामाणिक उपायोंका संग्रह करनेकी सूचना दी, तब परिषद्ने यह निश्चय किया कि इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थको तत्काल प्रकाशित कर दिया जाय ।

छपाई और कागजकी महार्घता होनेपर भी सहृदय सहायकों और उदार गुण ग्राहकोंके तत्परतापूर्ण सहयोगसे इस ग्रन्थका प्रकाशन निर्विघ्न सम्पन्न हो गया ।

आरम्भमें प्रधान सम्पादक महोदयने इसमें ब्रह्म-साक्षात्कारके केवल सरल उपाय ही संकलित किए थे किन्तु अनेक जिज्ञासुओंकी उत्कट इच्छा और हमारे अनुरोधपर उन्होंने हठयोग और कुंडलिनी-योग-जैसे दुरूह तथा कठिन उपायोंका भी इसमें समावेश करके इसे सर्वाङ्गपूर्ण बना दिया है ।

हमें विश्वास है कि सभी अवस्थाओं और वृत्तियोंके सात्त्विक आध्यात्मिक साधकोंको इस ग्रन्थसे अवश्य ही बहुत प्रेरणा मिलेगी ।

सम्पादकीय निवेदन • • •

अपने एकान्तवास, आत्मचिन्तन, और स्वाध्यायके प्रसंगमें सभी शास्त्रों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा महाभारत, योगवाशिष्ठ, तन्त्र-योग, मन्त्रयोग, कुण्डलिनी-योग, पंचदशी, बोधसार आदि अनेक अध्यात्मतत्त्व और अध्यात्म-साधनाके ग्रन्थोंका गम्भीर मन्थन करनेपर यही निष्कर्ष निकला कि एक मात्र ज्ञेय अर्थात् जाननेके योग्य यदि कोई तत्त्व है तो वह ब्रह्म ही है, जिसे अनेक उपायोंसे जाना, समझा और उसका साक्षात्कार करके परमानन्द प्राप्त किया जा सकता है और जिसे जान लेनेपर फ़िर कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता।

इस गंभीर विषयपर अपने अध्ययन, चिन्तन और मननके सम्बन्धमें जब अनेक साधकों, जिज्ञासुओं और तत्त्व-चिन्तकोंसे चर्चा हुई तब उन्होंने अत्यन्त उत्कट उत्सुकताके साथ यह अभिलाषा प्रकट की कि इस सम्पूर्ण अधीत और अनुभूत ज्ञानको पुस्तक रूपमें सुरक्षित कर दिया जाय क्योंकि सब प्रकारके लोगोंके लिये इतने ग्रन्थ पढ़, समझ और संग्रह कर सकना न संभव है न व्यवहार्य। तदनुसार यह संकल्प किया गया कि ब्रह्म-साक्षात्कारके इन सम्पूर्ण उपायोंको क्रमबद्ध करके सबके लिये पुस्तक-रूपमें सुलभ कर दिया जाय।

संयोगवश स्वस्तिमती दीपशिखाने तत्परतापूर्वक यह भार सहर्ष स्वीकार करके उसकी मुद्रण-पुस्ती तैयार कर डाली और उनके कनिष्ठ भ्राता श्रीप्रमोदकुमार भी इसके शीघ्र प्रकाशनमें समुचित सहायक हो गए। श्रीप्रियशीय चतुर्वेदी और श्रीमंजुल पांडेयने भी पर्याप्त सराहनीय सहयोग दिया जिससे यह ग्रंथ अल्प ससयमें ही पूर्ण हो गया।

मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थसे अपना मानव-जीवन सफल और सार्थक करनेकी इच्छावाले अनेक जिज्ञासु साधकोंके कुतूहलकी निवृत्ति होगी और उन्हें आत्म-साधना तथा आत्मज्ञानकी

प्रेरणा मिलेगी। जो सामान्य पाठक अपने आपको अभीतक भूले बैठे थे, उन्हें भी अध्यात्म-तत्त्वकी ओर प्रवृत्त होनेके लिये इससे समुचित प्रेरणा प्राप्त हो सकेगी। भारतके ऋषियों, मुनियों, महर्षियों, साधकों और तत्त्वचिन्तकोंने अपनी साधना, अनुभव और दैवी प्रेरणासे जो ज्ञान-निधि हम लोगोंके लिये ग्रन्थ रूपमें या श्रुति-रूपमें सुरक्षित रख छोड़ी है उसीमेंसे ब्रह्म-विषयक सामग्री छाँटकर इस ग्रन्थमें संगृहीत कर दी गई है। बस।

आजके इस अनास्थामय युगमें व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र अत्यन्त कुत्सित ढंगसे ऐसे विकृत हो गए हैं कि हमारी सारी स्वस्थ मर्यादाएँ लुप्त हो गई हैं, छोटे-बड़ेका पारस्परिक व्यवहार अत्यन्त घृणित और अभद्र रूपसे व्याप्त हो गया है। छोटोंने तो अपनी मर्यादा समाप्त कर ही दी किन्तु बड़ोंने और भी अभद्र ढंगसे अपना बड़प्पन और शील खो दिया है। घर घर मटियाले चूल्हेवाली कहावत चरितार्थ हो रही है। माता-पिता और पुत्र, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, पड़ोसी और पड़ोसी सबके हृदयमें प्रचंड ईर्ष्या, द्वेष, वैर और संघर्ष छिड़ा हुआ है। आजका मनुष्य अत्यन्त स्वार्थी, लोभी और धन-लोलुप हो गया है इसलिये इस ग्रन्थमें गार्हस्थ्य-धर्मके संबंधमें विस्तारसे विवेचन किया है कि किस प्रकारके गृहस्थके यहाँ लक्ष्मीका निरन्तर बास होता है और कहाँ लक्ष्मी नहीं रहतीं।

ग्रन्थके अन्तमें चित्कण नामसे अनेक ज्ञान-सूत्र दे दिए जा रहे हैं जिनको बहुत कम लोग जानते होंगे और जिन्हें जानना आवश्यक है।

हमें विश्वास है कि केवल ब्रह्म-ज्ञानियोंके लिये ही नहीं, गृहस्थके लिये भी यह ग्रन्थ पथ-प्रदर्शक होगा और गार्हस्थ्य-जीवन सुखमय करनेमें सहायक और प्रेरक सिद्ध होगा।

सम्पादक-मंडलकी ओरसे

प्रधान सम्पादक (स्वात्माराम)

विषय—विवेक

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ब्रह्म-साक्षात्कारके सरल उपाय

समाधान

श्रीमान्‌जी !

यह बताइए कि भगवान्‌ने जो आपको यह देव-दुर्लभ साधन-धाम मानव-शरीर दिया है वह क्या इसलिये कि आप काट-कपट करके कमावें, खावें, मौज उड़ावें या अपने परिवार और परिजनोंका भरण-पोषण करें या राजनीतिक दाँव-पेंच लगाकर कोई ऊँचा पद प्राप्त करें या धर्मशाला, विद्यालय और चिकित्सालय बनवाकर दानी और लोक-सेवक कहलानेका यश कमावें या मठ-मन्दिर बनाकर गद्दी सजाकर धर्मध्वजी बनें या पैसा कमाने और भगवान्‌का नाम बेचनेके लिये कथा, कीर्तन या धर्म-प्रवचन करनेका व्यापार करें और फिर हाथ झाड़कर संसारसे चल दें ?

बड़ी कृपा करके भगवान्‌ने आपको यह मनुष्य-शरीर दिया है जो सब प्राणियोंकी देहोंसे सर्वश्रेष्ठ है और जिसका एक मात्र उद्देश्य यह है कि आप अपनेको, संसारके बनानेवालेको, जो एक मात्र जाननेयोग्य है, जिससे सब उत्पन्न हुए हैं और जिसमें सब जाकर लय हो जाते हैं, उसे जान लें और बार-बार इस संसारमें आने-जानेकी झंझटोंसे बच जायें।

आपका मूल्य

आप अपनेको चाहे जो कुछ समझते हों पर आपका मूल्य कानी कौड़ी भी नहीं है। यदि कोई आपसे पूछे कि आप क्या हैं तो आप

बड़े तपाकसे उत्तर देंगे कि मैं राज्यपाल हूँ, मन्त्री हूँ, बहुत बड़ा डाक्टर हूँ, करोड़पति हूँ, प्रोफ़ेसर हूँ, विद्वान् हूँ, महन्त हूँ, सेनापति हूँ, नेता, अभिनेता, संगीतज्ञ और न जाने क्या-क्या हूँ। किन्तु जब आप किसी वैज्ञानिकसे अपने विषयमें पूछेंगे तो वह बता देगा कि श्रीमान्‌जी ! आप भले ही कुछ भी हों और अपनेको कुछ भी समझते हों किन्तु आपका मूल्य ३०–४० पैसेसे अधिक नहीं। आप अपने जिस शरीरपर पाउडर मलते या मलती हैं, सुन्दर वस्त्र पहनते या पहनती हैं अपने शरीरके जिस मुखड़ेको आप बार-बार दर्पणमें देखकर स्वयं अपनी सुन्दरतापर रीझे फिरते या फिरती हैं, उसमें कुल आठ या नौ गैलन पानी है, चार-पाँच छोटी कीलें बनाई जा सकनेके योग्य लोहा है, दियासलाईकी अस्सी डिबियोंपर लगानेके योग्य फ़ौस्फ़ोरस है, कुछ थोड़ा-सा ओक्सीजन और ४-५ पौंड नाइट्रोजन भी है, नौ सहस्र पैन्सिल बनानेके योग्य कार्बन है, छह छोटे नमकदान भरनेके योग्य नमक है और इतना हाइड्रोजन है कि एक गुब्बारा एक मनुष्यको ढोकर ३४ सौ फीट ऊँचे उड़कर पहुँच सकता है। किन्तु न तो आपके शरीरमें रहनेवाला जल पीनेके काम आ सकता, न नाइट्रोजन गैस ही किसी काम आ सकती। कुल ३०-४० पैसेवाले जिस शरीरके पीछे आप इतने लट्टू हुए फिर रहे हैं उसे यमका डण्डा किसी भी क्षण एक चपेटमें समाप्त कर सकता है ? बड़ेसे बड़ा डाक्टर भी जब अपनेको यमके डण्डेसे नहीं बचा सकता तो आपके मनमें यह भ्रम कैसे है कि व्याधि होनेपर अमुक डाक्टरको बुलाओ, वह अच्छा कर देगा। डाक्टर या वैद्य समुचित औषधि देकर संभवतः रोगका शमन कर दे (यदि निदान ठीक हो) किन्तु वह क्या जीवन दे सकता है ? नहीं। इसीलिये सांख्यवालोंका यह कहना ठीक है कि आपको यह ज्ञान हो जाना चाहिए कि यह सब कुछ जितना प्रपञ्च है सब २५ तत्त्वोंसे बना हुआ निस्सार तथा अनित्य है। किन्तु आश्चर्य इस बातका है कि सब लोग इस बातको जानते हुए भी इस प्रपञ्चमें फँसे हुए हैं। यही तो अज्ञान, नासमझी, मूर्खता और मोह है।

आपसे यह कोई नहीं कहता कि आप संसार छोड़कर विरक्त होकर वन या पर्वतमें जा बैठें। आपसे केवल इतना ही कहना है कि आप जो कुछ भी कार्य करते हों उसे सत्य-निष्ठाके साथ कीजिए पर उसका फल भगवान्को अर्पित करते जाइए। उसकी सफलता-असफलतासे प्रभावित न होइए अर्थात् उसमें आसक्ति मत कीजिए और जो कुछ होता रहे वह सांसारिक दृष्टिसे चाहे जितना भी बुरा या भला होता चले, उसका भी आनन्द लेते रहिए।

एक प्रश्न अवश्य किया जा सकता है कि यदि शरीर अस्वस्थ हो, चोट लगी हो, गठियाका दर्द हो; शरीरके किसी अंगमें शूल हो तब कैसे आनन्द लिया जा सकता है। यदि ऐसी स्थितिमें कोई आपसे कहता है कि इसे भी भगवत्प्रसाद समझिए तो आप तत्काल कहेंगे कि यह मूर्खताकी बात है। मैं दर्दसे मरा जा रहा हूँ, आप इसे प्रसाद बता रहे हैं। पर मेरा यही कहना है कि संयम और योगकी साधनाओं-के द्वारा शरीरको स्वस्थ रखिए और अनेक प्रकारके उपचारोंके द्वारा रोगको पास ही न आने दीजिए। इसीलिये तो योगमें आसनोंके द्वारा शरीरको साधनेका विधान है। आयुर्वेदमें भी इस प्रकारके अनेक प्रयोग हैं जिनके द्वारा मनुष्य पूर्णतः स्वस्थ और बलशाली बना रह सकता है। इसलिये कहा गया है—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

(शरीर ही धर्मके साधनका सबसे प्रथम साधन है)। प्रयत्न करके शरीरके लिये मिताहार, हिताहार, युक्ताहार-विहार, युक्तकर्म, उचित समयपर सोना, जागना और संयमसे रहना इसी कारण आवश्यक बताया गया है।

उपनिषद्, भगवद्गीता, योगशास्त्र, सांख्यशास्त्र तथा अन्य अनेक ग्रन्थोंमें अनेक प्रकारकी साधनाओंका मूल इन्द्रिय-संयम ही बताया है अर्थात् सब प्रकारके विषयोंसे अपनी इन्द्रियोंको दूर रखना ही सबसे बड़ी साधना और ब्रह्मसाक्षात्कारका मूल तत्त्व बताया गया है।

जबतक मनुष्य अपने मन और अपनी इन्द्रियोंके वशमें रहता है तबतक उसे दुःख ही दुःख मिलता है। यहाँतक कि जिन पदार्थों, स्थितियों, व्यक्तियों और पदोंकी प्राप्तिसे उसे अस्थायी सुख प्रतीत होता है, वे सब भी योग-क्षेमके प्रपञ्चके कारण दुःखकारक ही होते हैं। वास्तविक सुख तो तभी मिल सकता है जब सब कुछ अपने वशमें हो—शरीर, मन, इन्द्रियाँ, संकल्प सब कुछ। मनु भगवान्‌ने सुख और दुःखकी बहुत ही व्यवस्थित परिभाषा दी है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

जब मानव-देहसे सब प्रकारके साधन किए जा सकते हैं और उन साधनोंके द्वारा परमानन्द प्राप्त किया जा सकता है तब भी मनुष्य सांसारिक विषयों और नित्य प्रति अनेक प्रकारके व्यक्तियों—साधु, सन्त, महात्मा, वैद्य, नेता, धनी, निर्धन, श्रमिक, विद्वान् आदि—के मोहमें क्यों पड़ा रहता है ? क्योंकि उसकी आँखोंपर पर्दा पड़ा हुआ है और वह यही समझता रहता है कि मैं तो अमर होकर आया हूँ, चाहे जो कर सकता हूँ। उसका देहाभिमान उसे कुठौरमें ले जा पटकता है। कबीरदासने अपने एक भजनमें इस शरीरको चादर मानकर कहा है—

सो चादर सुर-नर-मुनि ओढ़ी, ओढ़के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतनसों ओढ़ी, ज्योंकी त्यों धरि दीनी चदरिया॥

किन्तु महत्त्वकी बात तो तब है जब इस शरीर-रूपी चादरको ज्योंका त्यों धर देनेके बदले उसे और भी सँवारकर धर दिया जाय। इसीलिये उस पदके अन्तिम चरणमें ज्योंकी त्योंके बदले होना चाहिए—हम सँवारि धर दीनि चदरिया। यह भावना तभी सिद्ध हो सकती है जब यह पूर्ण विश्वास हो कि सबका नियंता, शासक, स्रष्टा और हर्ता एक परब्रह्म है जिससे सब उत्पन्न हुए हैं, जिसमें रहते हैं और जिसमें लीन हो जाते हैं। ऐसा विश्वास करनेवाले किसी भक्तने कहा है—आगे पीछे हरि खड़े, जब माँगे तब देय। किन्तु जो पूर्णतः भगवद्भावित है वह इससे भी आगे सोचकर कहता है—

आगे पीछे हरि खड़े, बिन माँगे सब देय।

यही अटल विश्वास ईश्वरकी व्यापक सत्तामें प्रबल, निश्चल और उचित विश्वास है।

मनुष्योंको चार श्रेणीमें विभक्त करते हुए किसी सूक्तिकारने कहा है—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं त्यजन्तीह ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृताः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

[एक तो ऐसे सत्पुरुष होते हैं जो अपना सारा स्वार्थ छोड़कर सदा दूसरोंके ही हितमें लगे रहते हैं। दूसरे सामान्य व्यक्ति वे होते हैं जो अपने स्वार्थका ध्यान रखनेके साथ साथ दूसरेका भी हित करते चलते हैं। किन्तु वे तो मानव-राक्षस हैं जो अपने स्वार्थके लिये दूसरेका अहित करते हैं। और जो अकारण ही दूसरोंका अहित करते रहते हैं उन्हें किस श्रेणीमें रक्खा जाय कहा नहीं जा सकता।] इसका तात्पर्य यह है कि सर्वश्रेष्ठ मनुष्य वही है जो अपना स्वार्थ छोड़कर दूसरोंका कल्याण करता रहे।

सामान्य जीव और मनुष्यमें सबसे बड़ा अन्तर यही है कि मनुष्यमें धर्म-भावना होती है या होनी चाहिए नहीं तो उसमें और पशुमें क्या अन्तर रह जाता है? धर्मकी परिभाषा करते हुए बताया गया है कि दूसरेका हित करना और दूसरेको कष्ट न देना ही धर्म है, जिसे गोस्वामी तुलसीदासने संक्षेपमें इस प्रकार कहा है—

परहित-सरिस धरम नहिं भाई।
पर - पीड़ा - सम नहिं अधमाई॥

इसीलिये कहा गया है कि अट्ठारह पुराणोंमें व्यासजीने दो ही बातें तो कही हैं कि परोपकार ही धर्म है और दूसरेको शारीरिक या मानसिक पीडा देना ही पाप है।

महात्मा भीष्मने धर्मका सर्वस्व बताते हुए यही कहा है कि मुझसे तुम धर्मका तत्त्व सुन लो और उसे अपने मनमें धारण कर लो कि जो भी बात अपनेको अच्छी न लगे वह दूसरेके लिये भी मत करो—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

महाभारतके आदिपर्व (२१३।३४)-में कहा गया है कि—

न व्याजेन चरेद् धर्मम्।

(धर्ममें धोखा-घड़ी नहीं करनी चाहिए अर्थात् दिखावेके लिये धर्म नहीं करना चाहिए)। यह सात्त्विक वृत्ति तभी उत्पन्न होती है जब मनुष्य सबको समान समझने लगे। इस समत्व बुद्धि या अनन्यताका विवेचन करते हुए हनुमान्‌जीसे रामने कहा था—

सो अनन्य, जाके असि, मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक, सचराचरऽ—रूप स्वामि भगवन्त॥

अर्थात् यह अनन्यता तब आती है जब मनुष्यके मनमें यह विश्वास हो जाय कि मैं तो सेवक हूँ और सम्पूर्ण चर और अचरके रूपवाले भगवान् मेरे स्वामी हैं। यद्यपि यह भावना सरल नहीं है तथापि अभ्यास करनेसे जब यह भावना प्रबल हो जाती है, तभी तत्काल ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है और साधक प्रत्यक्ष रूपसे उस ब्रह्मको देख सकता है, सुन सकता है, उसका ध्यान कर सकता है और तब उसे प्रतीत हो जाता है कि महर्षि याज्ञवल्क्यने ठीक ही कहा था—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः निदिध्यासितव्यः।

मानव-देह पानेका तो वास्तविक लक्ष्य यही होना चाहिए। मनुष्य इस लक्ष्यको क्यों नहीं प्राप्त कर पाता, उसका सबसे बड़ा कारण, अर्थात् पतनका सबसे बड़ा कारण लोभ है। इसी लोभके कारण मनुष्य पाप; शठता और छल-कपट करता है, इसीसे काम, माया; मोह, अभिमान, उद्दण्डता और पराधीनता आती है। इसी लोभसे

असहनशीलता, निर्लज्जता, सम्पत्ति-नाश, धर्मक्षय, चिन्ता और अपयश प्राप्त होता है, लोभसे ही कृपणता, अत्यन्त तृष्णा, शास्त्र-विरोधी कर्मोंमें प्रवृत्ति, कुल और विद्या-विषयक अभिमान, रूप और ऐश्वर्यका मद, समस्त प्राणियोंके प्रति द्रोह, सबका तिरस्कार, सबके प्रति अविश्वास तथा कुटिलतापूर्ण व्यवहार होता है। इसी लोभकी प्रवृत्तिसे मनुष्यके मनमें पराये धन या स्त्री आदिका अपहरण, वाणीका असंयम, मनकी चंचलता, निन्दाकी प्रवृत्ति, काम, बुभुक्षा, आत्महत्याकी प्रवृत्ति; ईर्ष्या, मिथ्या व्यवहार, विषयोंके प्रति इन्द्रियोंकी प्रबल आसक्ति, घृणा, अपनी प्रशंसा, मत्सरता, दुष्कर्म करनेकी ओर अकरणीय निन्द्य कार्य करनेकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये मनुष्यका सबसे बड़ा धर्म यह है कि वह लोभ और मोहको पास न फटकने दे। ऐसा होनेपर भय, क्रोध; चपलता, शोक पास नहीं आता। लोभ और मोह दूर होनेसे मनुष्यका व्यवहार सरल और सत्य हो जाता है और वह कभी दुराचारण नहीं करता। इस प्रकारकी वृत्तिके लिये ऐसे सत्पुरुषोंके सम्पर्कमें आना चाहिए जो लाभसे फूल नहीं उठते, हानिसे घबराते नहीं, ममता और अहंकार जिन्हें छू नहीं गया, जो सदा सत्त्व गुणमें स्थित और समदर्शी हैं, जो लाभ-हानि, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय और जीवन-मरणको समान मानते हैं और आध्यात्मिक उन्नतिके इच्छुक हैं।

वास्तवमें अज्ञान और लोभ दोनों ही एक दूसरेके कारण हैं। यहाँ-तक कि मोह भी अर्थात् काल-स्वरूप मोहात्मक अज्ञान ही मनुष्यको कुपंथकी ओर ले जाता है। इसी कारण मूढ मनुष्यमें अज्ञानसे लोभ और लोभसे अज्ञान होता है। इसलिये मनमें किसी भी प्रकारका किसी भी समय लोभ नहीं आने देना चाहिए। लोभका त्याग करनेसे केवल इस लोकमें ही नहीं, परलोकमें भी परमानन्द मिलता है। जन युवनाश्व, वृषाकपि, प्रसेनजित तथा अन्य अनेक राजर्षि मनसे लोभका नाश करके ही दिव्य लोकमें पहुँचे हैं। यह लोभका नाश भी ब्रह्म-साक्षात्कारमें बहुत अधिक सहायता होता है।

जो जस कीन सु तस फल चाखा

काम, क्रोध आदि दोषोंसे युक्त बुद्धिकी प्रेरणासे मनुष्यका मन पाप-कर्ममें जा लगता है जिससे उसे अपने ही कर्मसे नरक और दुःख भोगना पड़ता है। किन्तु जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, धर्म-सम्पन्न और शुभ कर्म करनेवाले होते है वे निर्बाध सुख पाते हैं। जो निरन्तर देव-पूजा और अतिथिका सत्कार करते है, उदारताके साथ सत्पात्रोंको दान देते हैं और श्रेष्ठ पुरुषोंका सत्संग करते हैं वे पुण्यात्मा मनुष्य संयत योगियोंको प्राप्त होनेके योग्य मार्गपर चलते हैं। मनुष्य जो कुछ कर्म करता है वह उसके पीछे ऐसा लग जाता है कि अपने अनेक गणनातीत पूर्व जन्मोंमे उसने जैसे-जैसे कर्म किए हैं उन सबका फल उपयुक्त अवसरपर उसे अकेले ही भोगना पड़ता है। सम्मान-अपमान, लाभ-हानि, उन्नति-अवनति, सब पूर्व जन्मके कर्मोंके अनुसार प्राप्त होते हैं जो प्रारब्ध-भोगके पश्चात् ही निवृत्त हो पाते हैं। जो मनुष्य उपवास-पूर्वक तपस्या करते हैं उन्हें शाश्वत सुख मिलता है। तपोवनमें दीर्घ कालतक तपस्या करने और धर्म-पालनसे पाप भी धुल जाते हैं और मनोरथ भी सफल हो जाते हैं इसलिये जो काम सुन्दर, अनुकूल और अपने लिये हितकर जान पड़े वही कर्म ठीक है।

आप मुझसे पूछ सकते हैं कि आप दूसरोंको तो दीपक दिखाने चले हैं पर आपने भी क्या इस विषयमें कुछ किया है या दूसरोंको ही उपदेश देना जानते हैं। तो श्रीमान्‌जी! मेरी बात सुनिए। मैंने घर-बार छोड़ दिया है। घरमें न तो मैं ही किसीसे कोई सम्बन्ध रखता न घरवाले ही कृपा करके मुझसे कोई सम्बन्ध रखते या रखना चाहते। मैंने अपने मनसे सब प्रकारके संकल्प, विकल्प, इच्छाएं, आकांक्षाएँ, अभिलाषाएं, कामनाएँ, वासनाएँ, लालसाएँ सब मिटा दी हैं, सब प्रकारकी सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और धार्मिक संस्थाओंसे सम्बन्ध तोड़ लिया है। किसी सभा, समाज, कथा, प्रवचन, भाषणमें न मैं जाता, न भाषण देता। इतना ही नहीं, मैं अपनी इन्द्रियोंको भी उनके विषयोंसे दूर रखनेकी चेष्टा कर रहा हूँ। सुगन्धित पदार्थोंमें मेरी कोई रुचि नहीं रह गई है। संगीत आदि सुननेकी भी प्रवृत्ति समाप्त हो गई है।

दो वर्षसे रेडियो सुनना बन्द कर दिया है। एक वर्षसे समाचारपत्र पढ़ना भी छोड़ दिया है। किसी प्रकारके मादक द्रव्यमें या चाय-जैसी बुरी लतवाली वस्तुओंमें तो मेरी आसक्ति कभी रही ही नहीं, चलचित्र कभी देखा नहीं, भोजनकी भी कोई विशेष रुचि नहीं रह गई है, जो सात्त्विक भोजन मिल जाता है वही पर्याप्त समझता हूँ। पत्नी, पुत्र-पौत्र, घरबार आदि किसीमें भी कोई आसक्ति शेष नहीं रह गई है। मैं परम निश्चिन्त जीवन बिता रहा हूँ, पूर्ण जीवन्मुक्तिका आनन्द ले रहा हूँ। यदि आनन्द ही ब्रह्म है, जैसा कि उपनिषदोंमें कहा गया है, तो मैंने ब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया है। यद्यपि मुझे कोई शारीरिक रोग तो नहीं, तथापि मैं अभी शरीरको निरोग रख सकनेकी शक्ति नहीं प्राप्त कर पाया हूँ। उसके लिये भी प्रयत्न करके ऐसी इच्छाशक्ति अपनेमें संचित कर रहा हूँ कि भीष्मके समान मृत्यु मेरे अधीन हो जाय, मैं मृत्युके अधीन न रहूँ। यह कोई कठिन काम नहीं है।

कुछ जिज्ञासुओंने आग्रह किया कि ब्रह्मके साक्षात्कारके सरल उपायों के साथ-साथ कठिन उपाय भी बता दिए जायँ। इसलिये इसमें ज्ञान-योग, राजयोग और हठयोगका विवरण भी दे दिया गया है। आप भी चाहें तो इमानदारीसे की जानेवाली जीविकाका काम करते हुए यहींपर इसी जीवनमें ब्रह्मसाक्षात्कारके द्वारा परम शक्ति, परम सुख और परमानन्द प्राप्त कर सकते हैं किन्तु उसके साथ आपको विदेहके समान ऐसे निर्लिप्त भावसे काम करना होगा जिसके लाभमें न आपको हर्ष हो न हानिमें शोक। दोनों दशाओंमें आपके मनकी मस्ती ज्योंकी त्यों बनी रहनी चाहिए। मनमें यह दृढ विश्वास रखना चाहिए—

आगे पीछे हरि खड़े, बिन मांगे सब देय।

फिर देखिए आपको कैसा आनन्द मिलता है और कैसे यहींपर आपको ब्रह्मका साक्षात् अनुभव होने लगता है।

जो सदासे है, सदा रहेगा वही ब्रह्म है।

प्रश्नोपनिषद्‌के अनुसार जब भरद्वाज-गोत्रीय सुकेशा, शिविके पुत्र सत्यकाम, सूर्यके पौत्र गार्ग्य, अश्वलके पुत्र कौसल्य, भार्गव वैदर्भी और कत्यके प्रपौत्र कबन्धी, सब परब्रह्मकी खोजमें महर्षि पिप्पलादके पास पहुँचे कि हमें परब्रह्मका ज्ञान दीजिए तब उनसे पिप्पलादने कहा कि तुम लोग तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धाके साथ गुरु-शुश्रूषा करते हुए एक वर्ष-तक यहीं रहो, तब मैं जो कुछ जानता हूँ सब तुम्हें बता दूँगा। एक वर्ष पश्चात् कात्यायन कबन्धीने जब महर्षि पिप्पलादसे पूछा तब उन्होंने कहा कि प्रजापतिने तप करके रयि (चन्द्रमा) और प्राण (अग्नि)-की उत्पत्ति की। इनमें आदित्य ही प्राण है और रयि ही चन्द्रमा है। वास्तवमें आदित्य ही सर्वरूप किरणवाला, ज्ञानसे सम्पन्न, सब प्राणोंका आश्रय, ज्योतिः स्वरूप, अद्वितीय, परमात्म-स्वरूप ब्रह्म है।

विदर्भदेशीय भार्गवके पूछनेपर पिप्पलादने कहा कि प्राण ही सबसे अधिक महत्त्वका है। इसलिये जो व्यक्ति प्राणकी उत्पत्ति, आगमन, स्थान अर्थात् आध्यात्मिक रूपसे प्राणका भेद जान लेता है वह अमर हो जाता है और ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है।

अश्वलके पुत्र कौशल्यके पूछनेपर पिप्पलादने कहा कि प्राण ही ब्रह्म है। उसकी उत्पत्ति, आगमन, स्थान, तथा उसके भेद जान लेनेवाला अमरत्व प्राप्त कर लेता है। सौर्यायणी गार्ग्यके पूछनेपर उन्होंने बताया कि जो सब एषणाओंसे मुक्त पुरुष उस तमोहीन, गुण-रहित अक्षर पुरुषको जान जाता है वह चैतन्य ब्रह्म हो जाता है। उस अक्षरमें अग्नि आदि समस्त देवोंके सहित विज्ञान, आत्मा, प्राण और पृथ्वी आदि भूत प्रतिष्ठित हैं, इसलिये उसे जो जान लेता है वह सर्वज्ञ पुरुष सभीमें व्याप्त हो जाता है।

शिविके पुत्र सत्यकामके पूछनेपर महर्षि पिप्पलादने कहा कि ओंकार ही परब्रह्म या हिरण्यगर्भरूप अपरब्रह्म है। जो उस ओंकारका चिन्तन करता है वह इन पर या अपरमेंसे किसी एकको प्राप्त कर लेता है। यह ओंकार ही सब प्रपञ्चोंसे रहित, अजर, अमर, अभय और सबसे परे है। इस ओंकारका आलम्बन लेकर विद्वान् साधक ब्रह्मलोकमें जा पहुँचता है।

भरद्वाज-गोत्रीय सुकेशाके पूछनेपर महर्षि पिप्पलादने कहा कि षोडश कलाओंवाला पुरुष इस शरीरमें ही रहता है। उस ज्ञातव्य पुरुषको जान लेनेपर ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है और मृत्यु व्यथित नहीं करती। यह कहकर पिप्पलादने सब शिष्योंसे कहा कि उस ज्ञातव्य परब्रह्मके विषयमें मैं इतना ही जानता हूँ, अधिक नहीं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म तो सर्वव्यापक है। कोई भी मनुष्य साधक किसी एक भी पदार्थको लक्ष्य बनाकर उसमें परब्रह्मकी भावना कर ले तो उसे उसीमें परब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है।

तैत्तिरीय और छान्दोग्योपनिषद्में भी ओंकारके वर्णनमें बताया गया है कि जो उस ओंकारकी उपासना कर लेता है, उस अमृत; अभय-रूप अक्षरमें प्रवेश कर लेता है, वह भी अमर हो जाता और ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है। यह ओंकार परमात्माका प्रतीक है और सम्पूर्ण वाणीमें व्याप्त है अर्थात् जो कुछ है सब ओंकार ही है और वही ब्रह्म है।

छान्दोग्योपनिषद्में ही सत्यकाम जाबालकी कथा आई है कि जबालाके पुत्र सत्यकामने जब ब्रह्मचर्यपूर्वक आचार्य-कुलमें निवास करनेकी इच्छा की तो उसने अपनी मातासे पूछा कि मेरा क्या गोत्र है। माताने कहा कि तरुणावस्थामें मैं अनेक लोगोंकी सेवा करती रही और उन्हींमेंसे किसीसे तुम्हारा जन्म हुआ है। इसलिये तुम आचार्य-कुलमें जाकर कह देना कि मैं सत्यकाम जाबाल हूँ। गौतमके पूछनेपर उसने ज्योंका त्यों कह दिया। उन्होंने समझ लिया कि ऐसी स्पष्ट बात

ब्राह्मणके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं कह सकता। उन्होंने उससे कहा कि ये ४०० दुर्बल गौएँ तुम्हें सौंपता हूँ, तुम इनकी भली प्रकार सेवा करना। सत्यकामने कहा कि जब इनकी संख्या एक सहस्र हो जायगी तभी लौटूँगा। ध्यान, संयम तथा ब्रह्मचर्यपूर्वक गौओंका पालन करते हुए जब उनकी संख्या एक सहस्र हो गई तब एक साँड़ने कहा—अब हम लोग एक सहस्र हो गए हैं। तू हमें गुरुकुलमें पहुँचा दे। मैं तुझे परब्रह्मका एक पाद बताए देता हूँ। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरकी चार कलाओंवाला प्रकाशमान् ब्रह्म है। जो विद्वान् इस कलासे प्रकाशमान् ब्रह्मकी उपासना करता है, वह प्रकाशमान् लोकोंको जीतकर परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है।

दूसरे दिन सायंकाल जहाँ गौएँ एकत्र हुईं वहाँ जब सत्यकामने पूर्वाभिमुख होकर समिधाधान किया तब अग्निने कहा कि चतुष्कलपाद ब्रह्मके पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्र—ये चार कलाएँ हैं और ब्रह्मका यह चतुष्पकलपाद अनन्तवान् कहलाता है। जो पुरुष इस अनन्तवान चतुष्कल-पादवाले ब्रह्मकी उपासना करता है वह अनन्त-गुण सम्पन्न होकर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है।

अगले दिन सायंकाल जहाँ गौएँ एकत्र हुईं वहाँ सत्यकामने जब पूर्वाभिमुख होकर अग्नि जगाई तब हंसने आकर कहा कि मैं ब्रह्मका तीसरा पाद बताता हूँ। अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत् कलावाले चतुष्कलपाद ब्रह्मको ज्योतिष्मान् कहते हैं। जो इसकी उपासना करता है वह तेजोयुक्त होकर सब तेजस्वी लोकोंको जीतकर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है।

अगले दिन सायंकाल जब वह पूर्वाभिमुख होकर अग्न्याधान करके बैठा तब एक मद्गु (सर्प या जल-पक्षी)-ने आकर कहा कि मैं तुझे ब्रह्मका चतुर्थ पाद बताता हूँ। प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन कलाओंसे युक्त यह चतुष्कलपाद ब्रह्म आयतनवान् कहलाता है। जो पुरुष इसको उपासना करता है वह इस लोकमें सबको आश्रय देता है और सब लोकोंको जीतकर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है।

इस प्रकार ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करके जब सत्यकाम गुरुकुलमें पहुँचा तब उसे देखते ही गुरुजीने कहा कि ऐसा जान पड़ता है कि तू ब्रह्मको जान गया है। तुझे यह उपदेश किसने दिया ? तब सत्यकामने सब कुछ उन्हें कह सुनाया। साथ ही यह भी कहा कि आचार्यसे सीखी हुई विद्या ही अत्यन्त साधु होती है इसलिये आप ही उपदेश दीजिए। अतः गुरुजीने चतुष्कलपाद ब्रह्मका पुनः ऐसा उपदेश दिया कि उसमें कोई कमी नहीं रह गई।

इसका तात्पर्य यही है कि ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवालेको अत्यन्त संयमपूर्वक मनोयोगके साथ कोई भी निर्धारित पुण्यकार्य करना चाहिए, उसीसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है।

वह परब्रह्म परम पवित्र है शोक-रहित है, उसका न आदि है, है, न मध्य है न अन्त है। वही जरा-मृत्युसे एकमात्र बचानेवाला है। वह निरामय, निर्भय, कल्याण ही कल्याण और आनन्द ही आनन्द है।

आनन्द ही ब्रह्म है !

तैत्तिरीयोपनिषद्में कथा आई है कि जब भृगुने अपने पिता वरुणसे परमतत्त्वका उपदेश देनेके लिये कहा तब वरुणने कहा कि अन्न, प्राण, इन्द्रियाँ, मन और वाणी ये सभी परमतत्त्वकी प्राप्तिके द्वार हैं। परमतत्त्वसे लेकर स्तम्ब (घास-भूसे) तक सभी प्राणी जिससे उत्पन्न होते, जिसके सहारे प्राण धारण करते और अन्तमें जिसमें लीन हो जाते है तू उसे ही जाननेकी इच्छा कर।

भृगुने तपस्या करके यह निश्चय किया कि अन्न ही परमतत्त्व है। तब उसके पिताने कहा तप करके परमतत्त्वको समझो। पुनः तपस्यासे लौटकर भृगुने कहा प्राण ही परमतत्त्व है। वरुणने पुनः भृगुसे कहा कि तपस्या करके परमतत्त्वको जानो। तपस्याके पश्चात् भृगुने आकर कहा मन ही परमतत्त्व है। वरुणने कहा अभी फिर तपस्या करके

परमतत्त्वको जाननेका प्रयत्न करो भृगुने अनुभव किया कि विज्ञान ही परमतत्त्व है ? किन्तु वरुणने कहा कि अभी और तप करो। अन्तमें भृगुने जान लिया कि आनन्द ही परमतत्त्व है, आनन्दसे ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे ही जीवित रहते हैं और आनन्दमें ही लीन हो जाते हैं। यही परमतत्त्व विद्या है जो हृदयाकाशके भीतर स्थित है। जो ऐसा जान लेता है वह परमतत्त्वमें स्थित हो जाता है अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद्का यह सिद्धान्त व्यापक रूपसे मान्य है कि आनन्द ही परमतत्त्व है। आनन्द तभी होता है जब चित्तमें किसी प्रकारका संकल्प, कामना, इच्छा, वासना, अभिलाषा कुछ भी न हो, पूर्ण निश्चिन्तता हो, शरीर और मन स्वस्थ हो, बुद्धिमें और किसी प्रकारका प्रपंच न हो। यही आनन्दकी अवस्था है, यही जीवन्मुक्तका लक्षण है और ऐसा ही पुरुष स्वयं परमतत्त्व हो जाता है।

आनन्दं वै ब्रह्म

उपनिषदोंमें यद्यपि ब्रह्मके लक्षणके सम्बन्धमें कहा गया है—

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥

जो पाप-रहित, जरा रहित, मृत्यु-रहित शोक-रहित, भूख प्याससे रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और वही विशेष रूपसे जाननेके योग्य है। जो इस आत्मतत्त्वको शास्त्र और गुरुके उपदेशसे जान लेता है उसे सब लोक प्राप्त हो जाते हैं और उसकी सारी कामनाएँ सफल ही जाती हैं। यह बात प्रजापतिने कही है। —छान्दोग्योपनिषद् षष्ठ ८।७।१

सब उपनिषदोंका सारांश यही है कि परमतत्त्व-विद्या ही सर्वश्रेष्ठ विद्या है। मुण्डकोपनिषद्ने यही कहा है कि सब विद्याओंमें परमतत्त्व-

विद्या ही श्रेष्ठ है। ब्रह्मोपनिषद्में कहा गया है कि परमतत्त्वका ज्ञान उन लोगोंको परम पवित्र बना देता है जो इस ज्ञानमें निष्ठा रखते हैं। छान्दोग्योपनिषद्में कहा गया है कि इस अज्ञानसे प्रतीत होनेवाले संसारकी निवृत्ति ज्ञानसे ही हो सकती है। ज्ञानके द्वारा ही उस ज्ञेय परब्रह्मकी प्राप्ति ही सकती है। छान्दोग्यपनिषद्में ही कहा गया है कि सब प्राणी उसी सत् (परमतत्त्व)-से ही उत्पन्न हुए हैं, उसीमें निवास करते हैं और अन्तमें उसीमें लीन हो जाते हैं। जितना भी कुछ दृश्य और अदृश्य रूप है वह सब परमतत्त्व ही है। केवल वह परमतत्त्व ही सत्य है, वही आत्मा है और वही तू है।

मनुष्य जितनी चिन्ता और देख-रेख अपने शरीर, सम्पत्ति और कीर्त्तिकी करता है उससे अधिक चिन्ता उसे आत्माकी करनी चाहिए क्योंकि उसका महत्त्व उन सबसे अधिक है। आत्माके स्वरूपको समझने और इन्द्रियोंके विषयोंको निरर्थक और निस्सार समझनेके लिये आत्मचिन्तन नितान्त आवश्यक है। आत्म-चिन्तनका अर्थ है ध्यानपूर्वक यह सोचना कि मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है। परमतत्त्वोपनिषद्में कहा गया है कि ज्ञानी पुरुष जब आत्माके आनन्दको जान लेते है तब वे मुक्त हो जाते हैं। यह आत्मा ही ज्ञान और तपसे प्राप्त किया जा सकता है। दूधमें घीके समान सर्वत्र व्याप्त वह आत्मा ही परमतत्त्व है, वही परमपद है।

उपनिषदोंमें परमतत्त्वके स्वरूपकी मीमांसा करते हुए बताया गया है कि आनन्दं वै ब्रह्म अर्थात् आनन्द ही परमतत्त्व है। जब मन पूर्णतः निर्लिप्त और निश्चिन्त हो जाता है तभी वह आनन्दमग्न हो पाता है और वह उस दशामें परमतत्त्वमें रम जाता है, उसे परमतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है। आनन्दमें मग्न रहना ही परमतत्त्वका साक्षात्कार है।

अहं ब्रह्मास्मि। मैं ही परमतत्त्व हूँ। इस मन्त्रको निरन्तर जपते रहनेसे भृंगी कीटके समान जपनेवाला मनुष्य अपने समस्त पाप,

देहके दोष, मृत्युपाश, द्वैत और भेद बुद्धि, चिन्ता, व्याधि, शोक, काम, क्रोध, चंचलता, कामना और अज्ञानता सबका नाश कर देता है। तेजोबिन्दूपनिषद्के अनुसार जो साधक अहं ब्रह्मास्मिका जप करता है उसे ज्ञान और आनन्द तो मिलता ही है साथ ही वह संसारके चक्रसे छूट जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४)-के अनुसार जो लोग परमतत्त्वमें निष्ठा रखते है वे स्वाध्याय यज्ञ, तप और दानके द्वारा इस आत्माको प्राप्त करनेका संकल्प और प्रयास करते है और इस आत्मा या परमतत्त्वका साक्षात्कार कर लेनेपर ही मुनि हो जाते हैं।

ब्रह्मज्ञानका अधिकारी

मुक्तिकोपनिषद् में लिखा है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम
गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायाऽनृजवेऽयताय
मा मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम् ॥

(परमतत्त्व विद्याने परमतत्त्व ज्ञानीसे जाकर कहा कि मुझे (परमतत्त्वको) किसी ऐसेके हाथमें न सौंपना, जो द्वेषी हो, कुटिल हो और असंयमी हो, तभी मैं शक्तिशालिनी बनी रह पाऊँगी।)

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद् गीताके अन्तमें भी यही कहा है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

(देखो अर्जुन ! यह जो उपदेश मैंने तुम्हें दिया है यह किसी ऐसे व्यक्तिको न सुनाना जो तपस्वी न हो, भक्त न हो, जो श्रद्धासे सुनना न चाहता हो और जो मुझसे द्वेष करता हो।)

तात्पर्य यह है कि परमतत्त्वकी प्राप्तिका उपाय या परमतत्त्व ज्ञानका उपदेश ऐसे लोगोंको ही सुनाना चाहिए जिनमें परमतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करनेकी सात्त्विक निष्ठा हो।

महाभारतके अनुसार केवल व्रतधारी स्नातकोंको ही इस मोक्ष-शास्त्रका उपदेश करना चाहिए। जिसका मन शान्त न हो, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें न हो, जो तपस्वी न हो, भक्त न हो, सबमें दोष देखता हो, सरल स्वभावका न हो, आज्ञाकारी न हो, सब बातोंमें तर्क करता हो और दूसरोंकी निन्दा या चुगली करता हो; ऐसे व्यक्तिको इस परमतत्त्व-ज्ञानका उपदेश कभी नहीं देना चाहिए।

इस रहस्यमय ब्रह्मज्ञानका उपदेश उसीको देना चाहिए जिसमें तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी प्रबल अभिलाषा हो, जिसमें स्पृहणीय गुण हों, जो शान्तचित्त, तपस्वी और आज्ञाकारी शिष्य या पुत्र हो क्योंकि यह ज्ञानका धन सब धनोंसे कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

ज्ञानीका लक्षण

परम आत्मतत्त्वको जान लेनेपर पुरुष अत्यन्त शुद्ध-बुद्ध हो जाता है। यही ज्ञानीका लक्षण है। बुद्धिमान् मनुष्य इस आत्मतत्त्व या ज्ञानको जानकर कृतार्थ या मुक्त होकर परमतत्त्वका साक्षात्कार कर लेता है। ऐसे ज्ञानी पुरुषको इस लोक या परलोकमें कहीं भय नहीं होता। ज्ञानीको जो सनातन गति प्राप्त होती है उससे बढ़कर उत्तम गति किसीको प्राप्त नहीं होती। ऐसे ज्ञानी लोग किसी बातपर कभी शोक नहीं करते। जो कर्म-परायण मनुष्य निष्काम भावसे किसी कर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे पहलेके किए हुए सकाम या अशुभ कर्मोंको भी नष्ट कर डालते हैं और इस प्रकार निष्काम भावसे कर्म करनेवाले साधकके कोई भी कर्म इस लोक या परलोकमें कभी पीछा नहीं करते।

ब्रह्म-प्राप्तिके साधन-चतुष्टय

परमतत्त्वके साक्षात्कारपर विचार करनेसे पूर्व उसके साधन-चतुष्टयपर भी विचार कर लेना चाहिए कि उसका अधिकारी कौन है? उसका विषय क्या है? उनका प्रयोजन क्या है? और उसका सम्बन्ध किससे है?

ब्रह्म-साक्षात्कारका अधिकारी

ब्रह्मके साक्षात्कारका अथवा ब्रह्म ज्ञानका अधिकारी वही पुरुष है जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका न तो उपभोग करे न उनकी ओर प्रवृत्त हो, न सुन्दर आभूषण धारण करे, न सार्वजनिक मान और यशकी इच्छा करे, गुरुकी सेवामें लगा रहे, ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करे, समस्त प्राणियोंको अपना प्रिय कुटुम्बी समझकर उनपर दया करे, जाननेयोग्य तत्त्व (ब्रह्म)-का ज्ञानी हो, वेदोंका तत्त्वज्ञ हो और सब प्रकारकी कामनाओंसे रहित हो। ऐसे व्यक्तिको उसी समय ब्रह्म भावकी प्राप्ति हो जाती है जब वह न तो किसी दूसरे प्राणीसे डरे न दूसरे प्राणी उससे डरें; जब उसके मनसे इच्छा और द्वेष निकल जायँ और जब वह मनसे भी किसी प्राणीका अहित करनेका विचार न करे।

ब्रह्म-साक्षात्कारका विषय

परब्रह्मके साक्षात्कारका विषय वह परमतत्त्व है जो दुःख और सुखसे रहित, भूत, भविष्य और वर्तमान-स्वरूप है, जो न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है, जो एक मात्र जानने-योग्य है, जिसे जान लेनेपर; जिसका साक्षात्कार हो जानेपर कुछ भी देखना-सुनना-जानना शेष नहीं रह जाता।

ब्रह्म-साक्षात्कारका प्रयोजन

परमतत्त्वके साक्षात्कारका प्रयोजन यही है कि माया, मोह और अज्ञानसे परिच्छन्न जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूपको भली-भाँति जान ले और समझ ले कि मैं भी वैसा ही शुद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञानमय, ज्योतिः-स्वरूप हूँ जैसा परमतत्त्व है तथा मुझमें और परमतत्त्वमें कोई अन्तर नहीं, अर्थात् मैं ही परमतत्त्व हूँ।

ब्रह्म-साक्षात्कारका सम्बन्ध

परमतत्त्वके साक्षात्कारका सीधा सम्बन्ध अथवा एक मात्र सम्बन्ध जीवात्माका परमतत्त्वसे एकात्म सिद्ध करनेसे है। जीवात्माको यह

अनुभव हो ही जाना चाहिए कि अनेक प्रकारके प्राक्तन शुभ कर्मोंके कारण सौभाग्यसे यह मानव तन मिला है जिसका समुचित प्रयोग करके ऋषियों-द्वारा बताए हुए साधनोंके माध्यमसे मुझे अपने आत्माका उचित ज्ञान प्राप्त करके उसे मन और इन्द्रियोंके जालसे छुड़ाकर शुद्ध, निष्कल परमतत्त्वसे संयुक्त कर देना है। जब जीवात्माको यह ज्ञान हो जाय कि मेरा सम्बन्ध एक मात्र परब्रह्मसे ही है, संसारके किसी पदार्थसे नहीं है और वह सर्वतोभावेन परमतत्त्वसे अपना सम्बन्ध दृढ करनेके लिये मनकी सम्पूर्ण वृत्तियोंको रोककर परमतत्त्वमें ही एकाग्र कर दे, तभी समझना चाहिए कि उसने परमतत्त्वसे अपने सम्बन्धको ठीक समझा है। जीवात्माको परमतत्त्वसे समुचित रूपसे सम्बद्ध करना ही ऐसा साधन है जो अनेक प्रकारके उपायोंसे सिद्ध किया जा सकता है।

ब्रह्मलोक

जो मनुष्य अपनी बुद्धिसे सब प्रकारसे संस्कार निकालकर पवित्र भावसे शास्त्रमें बताई गई विधिके अनुसार मोक्ष-आश्रम (संन्यास)-के नियमोंका पालन करता है वह इंधन-रहित आगके समान परम शान्त ज्योतिर्मय ब्रह्म लोकमें जा पहुँचता हैं।

ब्रह्म और ब्रह्मविद्या

ब्रह्म या परमतत्त्व तो सत्य; विज्ञान और अनन्त-स्वरूप है जिसमें यह सारा संसार ओत-प्रोत है। उसीमें यह सब उत्पन्न होता और उसीमें लय हो जाता है। उसे जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है और कुछ जानना रह नहीं जाता। उसके हाथ, पैर, आँख, कान, जीभ, शरीर, कुछ नहीं है। उसे न तो किसी भी प्रकार ग्रहण ही किया जा सकता और न उसका कोई विवरण ही बताया जा सकता कि वह ऐसा है। मन और वाणी भी उसे बिना पाए ही लौट आती हैं क्योंकि वह केवल ज्ञानसे ही प्राप्त किया जा सकता है। सारा ज्ञान उसीसे प्रकट हुआ है। वह परमतत्त्व एक, अकेला और अद्वितीय है। वह आकाशके समान सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म, निरंजन, निष्क्रिय, केवल, सत्य-स्वरूप, चैतन्य, सदा आनन्द-रूपमें ही रहनेवाला, मंगलमय, अत्यन्त शान्त और अमर है। ज्ञानके द्वारा उसे समझ लेनेपर साधकको यह अनुभव होने लगता है कि मैं ही परमतत्त्व हूँ। वह एक देव ही आत्माकी शक्तिके रूपमें मुख्य, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सब प्राणियोंका अन्तरात्मा, सब प्राणियोंमें रमा हुआ, सब प्राणियोंमें छिपा हुआ, सब प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला, केवल योगके द्वारा ही जाना जा सकनेवाला तथा विश्वकी सृष्टि, रक्षा और संहार करनेवाला है। वही ऐसा परम आत्मा है जिसे जान लेनेपर सारा शोक और दुःख समाप्त हो जाता है।

निष्कल

यद्यपि वह परमतत्त्व क्रिया-रहित और अक्षर है तथापि इसके तीन स्वरूप हैं—(१) सकल, (२) निष्कल और (३) सकल-निष्कल।

(१) सत्य, विज्ञान, आनन्द, क्रिया-शून्य, निरंजन, सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म, सब ओर मुखवाला, जिसका वर्णन कर सकना असंभव है और जो अमर है वही उसका निष्कल रूप है।

सकल-निष्कल

इस परब्रह्मकी जो सहज अविद्या, मूल प्रकृति और माया है वह लाल, श्वेत और काले रंगकी है। उसकी सहायता पाकर ही यह देव परमतत्त्व काला, पीला, लाल होकर सबका ईश्वर, नियन्ता और हर्ता हो जाता है। यह इसका सकल-निष्कल रूप है।

सकल

इस परब्रह्मने ज्ञानमय रूपसे इच्छा की कि मैं अनेक रूपोंवाला हो जाऊँ जिससे तीन अक्षर अ उ म, तीन व्याहृतियाँ (भूः, भुवः, स्वः); तीन पदवाली गायत्री, तीन वेद, तीन देव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश), तीन वर्ण और तीन अग्नियाँ प्रकट हुई। यह देव भगवान् होकर सर्व-ऐश्वर्य युक्त, सर्वव्यापी, सब प्राणियोंके हृदयमें रहनेवाला, मायावी, मायाके साथ क्रीडा करता है। वही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, समस्त देवता और समस्त प्राणियोंके रूप धारण करता है। आगे, पीछे, दाहिने, बाएँ, नीचे, ऊपर, सर्वत्र और सब कुछ वही है। यह देव अपनी शक्तिके साथ क्रीडा करता और भक्तोंपर कृपा करता है। इसका जो शरीर दत्तात्रेयके समान सुन्दर और वस्त्र-रहित, कमलकी पंखड़ीके समान कोमल, चार भुजाओंवाला, सौम्य और पाप-रहित होकर प्रकाशित होता है वह उसका सकल रूप है।

वह स्वयं वृद्धि पाता है और दूसरोंकी वृद्धि करता है। इसलिये वह ब्रह्म कहलाता है। वह सबमें व्याप्त रहता है, सबको ग्रहण करता है और सबको निगल जाता है इसलिये उसे आत्मा कहते हैं। वह शब्द, ध्वनि तथा आत्म-शक्तिके कारण बड़े-बड़ोंका नियन्त्रण करता है और बड़े-बड़ोंका ईश्वर है इसलिये वह महेश्वर कहलाता है।

अत्रि ऋषिने दुस्तर तपश्चर्या करके जब पुत्रकी कामना की तब वे ज्योतिर्मय भगवान् दत्तात्रेयके रूपमें अत्रि और अनसूयाके पुत्र होकर आए, इसलिये उन्हें दत्तात्रेय भी कहते हैं।

शांडिल्योपनिषद्के अनुसार विद्या या ज्ञानके द्वारा इस परमात्माकी उपासना करनेवाला यह भावना करने लगता है कि मैं ब्रह्म हूँ और वह ब्रह्मवेत्ता बन जाता है। मंगलस्वरूप, इन्द्रनील मणिके समान शान्त, अपनी मायाके साथ रमण करनेवाले, अवधूत, दिगम्बर, भस्म पोते हुए, जटाजूट धारण किए हुए, व्यापक, चार भुजाओंवाले, उदार अंगोंवाले, खिले हुए कमल-जैसे नेत्रोंवाले, ज्ञान-योगके भाण्डार, विश्वके गुरु, लोगोंके प्रिय, भक्तोंपर दया करनेवाले, सबके साक्षी, सिद्धि-द्वारा सेवित, सनातन, देवाधिदेव रूपवाले दत्तात्रेयका जो निरन्तर ध्यान करता है वह सब पापोंसे मुक्त होकर परमतत्त्वका साक्षात्कार कर लेता है।

पंचदशीके महावाक्य-विवेक-प्रकरणमें परमतत्त्वका लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जिस नित्य, चैतन्यकी सहायतासे चक्षु-द्वारा सब रूपवाले पदार्थ दिखाई पड़ते हैं, कानोंके द्वारा वाक्य आदिका श्रवण होता है, नसिकाके द्वारा गन्धका अभिधान होता है, वागिन्द्रिय द्वारा वाक्य उच्चरित होते हैं, रसना-द्वारा स्वादु और अस्वादु रसोंका परिज्ञान होता है, वह ज्योतिर्मय जीव-चैतन्य ही प्रज्ञान है और प्रज्ञान ही ब्रह्म है (प्रज्ञानं ब्रह्म)। वह सच्चिदानन्दमय सर्वव्यापी एक परमतत्त्व ही सब देवताओं, मनुष्यों और जीवोंमें अन्तर्यामी रूपसे उपस्थित है। सबको यह समझना चाहिए कि वह मुझमें भी है और ये दोनों चैतन्य अर्थात् जीव-चैतन्य और परमतत्त्व-चैतन्य एक ही हैं। इसीलिये जब साधक कहता है. 'अहं ब्रह्मास्मि' तब यह अहं भी ब्रह्म है जो स्वतःसिद्ध, सर्वव्यापी, परमतत्त्वरूपी परमात्मा है। वह स्वयं प्रकाश-स्वरूप है। ब्रह्मोपनिषद्में लिखा है कि यह परमतत्त्व चार स्थानोंपर अवस्थित है—नाभि, हृदय, कंठ और मूर्धा। इन्हीं चार स्थानोंमें परमतत्त्व प्रकट होता है।

वह चिन्मय आकाशवत् स्वच्छ परमतत्त्व हृदयाकाशमें ही प्रकाशित होता है। ब्रह्म-विज्ञान हो जानेसे सब कालों और देशोंका सब कुछ जाना जा सकता है।

आत्म-बोधमें कहा गया है कि जिस लाभसे अधिक कोई दूसरा लाभ नहीं है, जिससे बढ़कर कोई सुख नहीं है, जिससे बढ़कर कोई ज्ञान नहीं, जिसे देख लेनेपर कुछ भी देखना शेष नहीं रह जाता; जिसे जान लेनेपर कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता, वही पूर्ण सच्चिदानन्द, अव्यय, नित्य और एक ब्रह्म है।

ब्रह्मके दो भेद हैं—सगुण और निर्गुण। मायातीत सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म ही निर्गुण है और मायाश्रित जगत्-स्रष्टा ही सगुण है।

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें सगुण परमतत्त्वके नौ रूप बताए गए हैं (श्रीकृष्ण-जन्मखण्ड अध्याय १२८)—(१) ज्योतिरूप सनातन, (२) अभ्यन्तर ज्योति, नित्यरूप, (३) सत्यस्वरूप, (४) नित्य और आदि पुरुष, (५) स्वेच्छामय प्रभु, (६) सर्वरूप, (७) अनिर्वचनीय, (८) कारणका कारण, (९) अनन्त।

यह स्मरण रखना चाहिए कि जीव और परमतत्त्व एक ही हैं।

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

जब जीव और परमतत्त्वमें कोई भेद नहीं है तब केवल अविद्यारूपी अज्ञानको हटा देने मात्रसे ही जीव यह अनुभव कर लेता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि', मैं ही ब्रह्म हूँ। इसी बातको ठीक-ठीक समझ लेना ही वास्तविक ब्रह्म-विद्या है।

केनोपनिषद्में कथा आई है कि जब देवासुर-संग्राममें देवताओंको विजय हुई तो उन्हें यह गर्व हुआ कि यह विजय हमारी है, हमने

अपने पराक्रमसे यह युद्ध जीता है। देवताओंके इस झूठे गर्वको ब्रह्म ताड़ गया और वह जब यक्षके रूपमें उनके सामने आ भी खड़ा हुआ तब भी कोई देवता यह न पहचान पाया कि यह है कौन।

देवताओंने अग्निको भेजा कि जाओ पता लगाओ। यक्षके पूछने-पर अग्निने कहा कि मैं अग्नि हूँ और मुझमें यह शक्ति है कि मैं सब कुछ जला सकता हूँ। यक्षने एक तिनका उसके आगे रखकर कहा कि इसे जलाओ तो। अग्निने बहुत बल लगाया पर उस तिनकेको सुलगा-तक न पाया और उलटे पाँवों लौट आया।

तब देवताओंने वायुसे कहा कि तुम जाकर देखो। वायुने यक्षसे जाकर कहा कि मैं वायु हूँ, सब कुछ उड़ा ले जा सकता हूँ। यक्षने उसके आगे भी तिनका रखकर कहा—लो, इसे उड़ाओ तो। पर वह भी हारकर लौट आया।

तब देवताओंने इन्द्रसे कहा कि अब आप ही पता लगाइए। ज्यों ही इन्द्र उस यक्षके पास पहुँचे त्यों ही वह तो ओझल हो गया और उसके स्थानपर चमचमाती उमा देवी आ प्रकट हुईं। इन्द्रने उनसे पूछा—यह यक्ष कौन था ? उमारूपिणी ब्रह्म-विद्याने कहा—'यही ब्रह्म है। इसीकी शक्तिसे आप लोग शक्तिशाली हो पाए हैं।' इन्द्रने ही सर्वप्रथम ब्रह्मका परिचय ही प्राप्त किया था इसलिये वे ही सब देवताओंसे बढ़चढ़कर हुए।

वह जो बिजलीकी कौंधके समान पलक मारने भरमें प्रकट हुआ था वह उस ब्रह्मका अधिदैवत रूप था। इसी ब्रह्मका ही मनमें स्मरण और संकल्प किया जाता है। यह ब्रह्म ही वन, वननीय या भजनीय है। जो ब्रह्मके इस रूपको जानता है उसे सब प्राणी भली प्रकार चाहने लगते हैं।

तप, दम, कर्म, वेद और सम्पूर्ण वेदान्त उस ब्रह्मको प्राप्त करने-के साधन हैं और सत्यभाषण ही उसका आयतन (आधार) है। जो

इस तत्त्वको जान लेता है वह ब्रह्मका साक्षात्कार कर ही लेता है और फिर इस संसारमें लौटकर नहीं आता।

ब्रह्मविद्याके अधिकारी और अनधिकारी

मुक्तिकोपनिषद्में प्रसंग आया है कि एक बार किसी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणके पास जाकर ब्रह्मविद्याने कहा—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवे शठाय मा मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

(ब्रह्मविद्याने ब्राह्मणके पास जाकर कहा कि यदि आप मुझे शक्तिशाली बनाए रखना चाहते हैं तो आप मेरी रक्षा कीजिए क्योंकि मैं आपकी निधि हूँ। इसलिये ऐसेके हाथ मुझे मत पड़ने दीजिए जो द्वेषी, कुटिल और दुष्ट हो।)

यमेव विद्याश्रुतमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
तस्मा इमामुपसन्नाय सम्यक् परीक्ष्य दद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम्॥

(यह ब्रह्मविद्या भली प्रकार ठोक बजाकर, परीक्षण करके ऐसे ही व्यक्तिको दीजिएगा जो विद्याश्रुत (ब्रह्मवेत्ताओंसे ब्रह्मविद्या सुन चुका हुआ), सावधान (स्थिर चित्तवाला), मेधावी (समझानेपर तत्काल समझ लेनेवाला), ब्रह्मचारी (तेजस्वी तथा संयमी) हो और स्वयं सीखनेके लिये आया हो।) इसी प्रसंगमें श्रीरामने हनुमान-से कहा कि यह विद्या नास्तिक, कृतघ्न, दुराचारी, मेरी भक्तिसे विमुख तथा गुरु-भक्तिसे हीन व्यक्तिको कभी मत सुनाना। यह विद्या तो ऐसे सेवापरायण शिष्यको ही देनी चाहिए जो मेरा भक्त, सुशील, कुलीन और मेधावी हो और उसे भी भली भाँति परखकर ही यह विद्या देनी चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीताके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने भी तो अर्जुनसे यही कहा था—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मामभ्यसूयति॥

[यह ज्ञान किसी ऐसे व्यक्तिको मत सुनाना जो तपस्वी न हो, मेरा भक्त न हो, जो सुनना ही न चाहता हो और जो मुझसे द्वेष करता हो।]

किन्तु आजकल तो जिसे देखो वही गीतापर प्रवचन किए जा रहा है और ऐसे लोगोंको सुनाए डाल रहा है जो न तो वे ही समझ पाते न स्वयं वक्ता ही समझ पाते।

एक जीव इक ब्रह्म कहावत,
सूरदास झगरो

•

सबसे पहले नित्य, सर्वगत, मनको भी उत्पन्न करनेवाला और लक्षण-रहित आत्मा विद्यमान था जो सबके कारण बने हुए सारे जगत् रूप अज्ञानका कार्य बताया गया है। इन्हीं कारणोंसे युक्त होकर जीव कर्मोंका संग्रह करता चलता है। कर्मोंसे वासना और वासनाओंसे पुनः कर्म होते हैं। इस प्रकार यह अनादि, अनन्त, महान् संसार-चक्र चलता रहता है। यह जीव अहंकारके अधीन होकर तृष्णाके कारण ऐसे कर्म कर डालता है जो आगेके लिये उसके जन्मके कारण बन जाते हैं।

इसलिये विवेकी पुरुषको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका अन्तर जान लेना चाहिए। इन दोनोंके एक हो जानेके कारण ऐसी स्थिति हो गई है कि जीवको अपने शुद्ध स्वरूपका ज्ञान ही नहीं हो पाता।

शुद्धात्मा पुरुष ही उस अक्षय, अविनाशी, परमदेव, अव्यक्त-स्वरूप, देवप्रवर, परमात्मा विष्णुका तत्व जान पाते हैं। उसी ईश्वरकी मायाके कारण मनुष्योंमें न ज्ञान रह पाता न विवेक और वे बुद्धिके चक्करमें पड़ जाते हैं। बुद्धिके व्यामोहसे क्रोध, क्रोधसे काम और कामसे लोभ, मोह, मान, दर्प और अहंकार उत्पन्न होता है और फिर उसकी सारी क्रियाएँ अहंकारसे प्रेरित होने लगती हैं। इन क्रियाओंसे आसक्ति, आसक्तिसे शोक और सुख-दुःखवाले कार्य करनेसे मनुष्य जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ जाता है। शरीर ग्रहण मात्रसे दुःख प्राप्त होने लगता है, शरीरमें अभिमान करनेसे दुःख बढ़ता है और अभिमानको त्यागनेसे दुःखोंका अन्त होता है, इसलिये प्रत्येक बुद्धिमान्को दुःखोंका अन्त करनेवाली कलाका ज्ञान पाना आवश्यक है। जिस पुरुषमें तृष्णाका अभाव है, जिसमें कोई आकांक्षा, कामना, वासना, अभिलाषा, इच्छा और संकल्प तथा किसी भी वस्तुकी आशा और अपेक्षा नहीं रहती उस पुरुषकी ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषय नहीं प्राप्त कर पातीं और जब

इन्द्रियाँ विषयासक्तिसे रहित हो जाती हैं तब देहीको फिर शरीर नहीं धारण करना पड़ता।

यह स्मरण रखना चाहिए कि जीवात्मा और शरीरका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह चेतन जीवात्मा शरीरसे पूर्णतः भिन्न है।

जीवका सत्ता और नित्यता

जीवका, उसके दिए हुए दानका और उसके किए हुए कर्मका कभी नाश नहीं होता। केवल शरीर ही नष्ट होता है, जीवकी सत्ता बनी रहती है। वह आकाशकी भाँति अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण सदा बना ही रहता है।

केवल अन्तरात्मा ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दका अनुभव करता है, वही पाँचों इन्द्रियोंके गुण धारण करनेवाले मनका द्रष्टा है और वही इस पांचभौतिक शरीरके अवयवोंमें व्याप्त होकर सुख-दुःखका अनुभव करता है। शरीरसे सम्बन्ध छूट जानेपर उसे सुख दुःखका भान नहीं होता। यह आत्मा प्राकृत गुणोंसे युक्त होनेपर क्षेत्रज्ञ कहलाता है और उन गुणोंसे मुक्त होनेपर परमात्मा कहलाने लगता है। वह सारे जगत्का हित करनेवाला होता है। तम, रज, और सत्त्वगुणसे युक्त होनेके कारण इन गुणोंको जीवके ही गुण समझने चाहिएँ। इस क्षेत्रज्ञ आत्मासे परमात्मा श्रेष्ठ है जिसने भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः सत्यं नामक सात लोकोंको उत्पन्न किया। यह आत्मा सब प्राणियोंकी हृदय-गुफामें छिपा बैठा रहता है जिसे तत्त्वदर्शी पुरुष ही अपनी तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धिसे देख पा सकते हैं। जो विद्वान् पुरुष परिमित (हलका) भोजन करके रातके पहले या पिछले पहरमें सदा ध्यान-योगका अभ्यास करता है वह अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर अपने हृदयमें ही उस आत्माका साक्षात्कार कर लेता है, अपने शुभ और अशुभ कर्मोंसे अपना सम्बन्ध हटाकर, प्रसन्नचित्त होकर आत्म-स्वरूपमें स्थित हो जाता है और परमानन्दका अनुभव करने लगता है। सबके शरीरमें मनके भीतर जो प्रकाश स्वरूप चैतन्य है उसीको समष्टि रूपसे जीव-प्रजापति कहते हैं जिसने यह सृष्टि उत्पन्न की।

सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग, प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा)

जो मनुष्य सच्चिदानन्दघन परमात्मा (अव्यक्त), दृश्यवर्ग (व्यक्त), प्रकृति (सबको उत्पन्न करनेवाली शक्ति) और पुरुष (जीवात्मा)—इन चारोंको ठीक-ठीक नहीं जानता वह परब्रह्म परमात्माको नहीं जान पा सकता। इनमेंसे व्यक्त (दृश्य वर्ग) तो नश्वर है और सच्चिदानन्दघन परमात्मा (अव्यक्त) ही अमृत पद है। जो व्यक्ति सदा ज्ञान-तत्त्वका चिन्तन करता रहता है और संसारके सब विषयोंसे दूर रहकर निवृत्ति-मार्ग ग्रहण करता है वही ब्रह्म या परम-शक्ति प्राप्त करता है। विचारशील पुरुषको चाहिए कि पहले अव्यक्त (प्रकृति) और पुरुष (जीवात्मा) इन दोनोंको भली-भाँति समझ ले और फिर इन दोनोंसे श्रेष्ठ परमतत्त्व पुरुषोत्तमतत्त्वका भली-भाँति ज्ञान प्राप्त कर ले।

प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) दोनों ही अनादि और अनन्त हैं। दोनों ही निराकार, नित्य, अविचल और महान् हैं। अन्तर इतना ही है कि प्रकृति तो सत्त्व, रज, तम नामक तीन गुणोंवाली है और वह ब्रह्मके द्वारा चेतन किए जानेपर सृष्टि उत्पन्न करती है पर क्षेत्रज्ञ या पुरुष (जीवात्मा)-में न तो ये तीन गुण ही होते हैं और न प्रकृतिके विकार होते हैं किन्तु वह प्रकृतिके विकारों (कार्यों)-का द्रष्टा अवश्य बना रहता है। ये दोनों (प्रकृति और पुरुष) इन्द्रियोंसे नहीं जाने जा सकते क्योंकि दोनोंका कोई आकार भी नहीं है और दोनों एक दूसरेसे विलक्षण भी हैं। प्रकृति और पुरुषके संयोगसे ही यह चराचर जगत् उत्पन्न होता है। जीवात्मा तो मन और इन्द्रियोंके सहारे सब कर्म करता है और जो कुछ कर्म करता है उसका कर्त्ता कहलाता है। इस दृष्टिसे यह जीवात्मा तीन गुणोंसे उसी प्रकार घिरा रहता है जैसे मनुष्य कपड़े पहने रहता है। अतः, इन्हीं चार (सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग, प्रकृति और पुरुष)-को जो भली-भाँति जान समझ ले उसे कभी मोह नहीं होता।

ज्ञान और उसकी भूमिकाएँ

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि ये पाँच भूत परमात्मासे उत्पन्न हुए है और उसीमें मिल जाते हैं। श्रोत्र, नेत्र, नासिका, रसना, त्वचा और मन ही जीवात्माको विषयोंका ज्ञान कराते हैं। इनके अतिरिक्त सातवीं बुद्धि और आठवां क्षेत्रज्ञ (आत्मा) है। इन्द्रियाँ तो विषयोंको ग्रहण कराती हैं, मन केवल संकल्प-विकल्प करता है, बुद्धि निश्चय कराती है और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) साक्षी बनकर बैठा रहता है। सत्त्व, रज और तम गुण इन्द्रिय, मन और बुद्धिके साथ लगे रहते हैं इसलिये मनुष्यको अपनी बुद्धिके बलसे इन सबको जानने और जीवोंके आवागमनकी दशापर विचार करनेसे परम शान्ति मिलती है। ये तीन गुण बुद्धिको और उसके साथ मन-सहित पांचों इन्द्रियोंको उनकी वृत्तियोंके पास खींच ले जाते हैं। इसलिये सारा प्रपंच बुद्धिमें है। जीवात्माके आश्रित रहकर यह बुद्धि ही सुख-दुःख और मोहके चक्करमें पड़ी रहती है। बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए की वह अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने वशमें रक्खे तथा सुख, दुःख और मोहसे अपने मन तथा अपनी बुद्धिको दूर रक्खे क्योंकि जब जीव बुद्धिरूपी सारथी और मन-रूपी बागडोरके द्वारा इन्द्रिय-रूपी घोड़ोंको वशमें कर लेता है तब घड़ेमें रक्खे हुए प्रज्ज्वलित दीपके समान उसके भीतर उसका आत्मा प्रकाशित होने लगता है। सांसारिक कर्मोंका परित्याग करके सदा अपने आपमें ही मगन रहनेवाला मननशील मुनि सब प्राणियोंका आत्मा बनकर परम गति प्राप्त कर लेता है, ब्रह्म रूप हो जाता है। इसलिये ज्ञानी पुरुषको हर्ष; शोक और मात्सर्यसे रहित होकर सदा समान भावसे विचरना चाहिए।

जो मनुष्य बुद्धिसे सब जीवोंके आवागमनपर विचार करके विशुद्ध अध्यात्मज्ञान प्राप्त कर लेता है वह परम गति पा ही लेता है। जिसने

धर्म, अर्थ और कामको ठीक-ठीक समझकर, उनका परित्याग करके, मनके द्वारा आत्मतत्त्वकी खोज करके, योग-युक्त होकर आत्माके अतिरिक्त सब वस्तुओंका लोभ त्याग दिया है वही तत्त्वदर्शी है और वही मनुष्य ज्ञानी हो जाता है क्योंकि ज्ञानी और मनीषी पुरुष उस परमार्थ तत्त्वको जानकर ही अपनेको कृतकृत्य मानते हैं।

जो मनुष्य निष्काम भावसे कर्म करता है उसका वह कर्म पहले किए हुए सब कर्म-संस्कारोंका ऐसा नाश कर देता है कि उसके पूर्व जन्ममें और इस जन्ममें किए हुए कोई भी कर्म न तो अप्रिय हो फल देते हैं न प्रिय क्योंकि निष्काम कर्मके साथ न तो कर्त्तापनका अभिमान होता है न फलकी आसक्ति होती है। यही वास्तविक अध्यात्मज्ञान है।

ज्ञानकी सात भूमिकाएँ

योगवासिष्ठमें ज्ञानकी सात भूमिकाएँ बताई गई हैं जिसका तात्पर्य यही है कि ज्ञान प्राप्त करनेवालेको क्रमशः अपनी भावभूमिको इस प्रकार समुन्नत करते करते उस स्थितिमें ले जा पहुँचा देना चाहिए जहाँ पहुँचनेपर ज्ञान सुलभ हो जाय। ज्ञानका तात्पर्य ब्रह्म-ज्ञान ही है। ये सात भूमिकाएँ निम्नांकित क्रमसे व्यवस्थित हैं—

१. शुभेच्छा

ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छावाले साधकको सर्वप्रथम यह समझना और अनुभव करना चाहिए कि मैं मूढ हूँ, मेरी बुद्धि, सत्य और स्थिर नहीं हो पाई है, मेरा मन अभी संसारके भोगोंमें लगा हुआ है, मेरे मनमें अनेक प्रकारका मोह और आसक्ति है। इससे मुक्त होनेके लिये मुझे सत् साहित्य और शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिए और सत्संग करना चाहिए जिससे मेरे मन और मेरी बुद्धिका सम्पूर्ण कल्मष दूर हो जाय और मेरी चित्तवृत्ति ब्रह्मकी ओर उन्मुख होकर एकाग्र हो जाय।

२. विचार

दूसरी भूमिकामें पहुँचनेपर साधकको गम्भीरतापूर्वक सत्-शास्त्रके विषयोंपर चिन्तन और मनन करना चाहिए, सत्संगति करके वहाँ जो तत्त्व, उपदेश या ज्ञान प्राप्त हो उसपर गम्भीर चिन्तन करके यह प्रयत्न करना चाहिए कि उसके अनुसार आचरण भी शुद्ध और सात्त्विक होता चले। इसी अवस्थामें उसे वैराग्यका अभ्यास करना चाहिए अर्थात् वह संसारके सब पदार्थों, व्यक्तियों, समाजोंसे अपना सम्बन्ध तोड़ ले और यदि मनमें किसी पदार्थ या व्यक्तिके प्रति तनिकसी भी आसक्ति प्रतीत हो तो या तो उसे दूर हटा दे या स्वयं उससे दूर हट जाय। इसके साथ-साथ उसे सत्य-पथका भी अभ्यास करना चाहिए अर्थात् अपना व्यवहार पूर्णतः निष्कपट और अगोपनीय रखना चाहिए अर्थात् कोई काम ऐसा नहीं करना चाहिए जिसे किसीसे छिपाकर करना पड़े या जिसके लिये कपटका आश्रय लेना पड़े। उसे अपना आचरण भी सत्य ही रखना चाहिए जिससे प्रत्येक व्यक्तिको यह विश्वास हो जाय कि यह व्यक्ति जो कहता है वह मिथ्या नहीं हो सकता, यह जो सम्मति देता है उससे कभी किसीका अकल्याण नहीं हो सकता और यह व्यक्ति सत्यका मर्म और महत्त्व समझता है। ऐसे साधको सदा सत्यको सत्य और असत्यको असत्य समझना और कहना चाहिए। कभी दुटप्पी या लाग-लपेटकी बात नहीं करनी चाहिए। जो कुछ जैसा है वैसा ही कह देने और कर देनेका अभ्यास करना चाहिए।

३. तनुमानसा

ऊपर बताए हुए सुविचार और शुभेच्छाके अनुसार तत्त्वका अर्थात् ब्रह्मके ज्ञानका अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिए और अपनी इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे पूर्णतः अलग कर लेना चाहिए। ज्ञानकी इस भूमिकामें पहुँचकर ही साधक, ज्ञानका वास्तविक अधिकारी बनकर आगे बढ़नेके योग्य हो पाता है।

४. सत्यापत्ति

उपर्युक्त तीन भूमिकाओंका सम्यक् अभ्यास कर लेने और इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे पूर्णत: विच्छिन्न कर लेनेपर श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे सत्य आत्मामें स्थित हो जाना चाहिए। इस भूमिकामें पहुँचकर साधकको अधिकारी विद्वानों, ज्ञानियों, सिद्ध पुरुषों और सदाचारी महापुरुषोंसे ज्ञानका श्रवण भी करना चाहिए; उस सुने हुए प्रवचनपर गम्भीरताके साथ ध्यानपूर्वक मनन भी करना चाहिए और यह संकल्प भी करना चाहिए कि मैं अपना जीवन और आचार इसीके अनुसार ढालनेका प्रयत्न करूँगा। इसीके साथ-साथ उसे निदिध्यासन अर्थात् ईश्वरका ध्यान करनेका भी अभ्यास करके अपने सत्य आत्मामें स्थित हो जाना चाहिए।

५. असंसक्ति

उपर्युक्त चार भूमिकाओंको साध लेनेपर साधकको उस अवस्थामें पहुँच जाना चाहिए जहाँ उसे शुद्ध विभूतिमें भी संसक्ति न रह जाय अर्थात् संसारमें जो वस्तु शुद्ध है, जिसके साथ किसी प्रकारके कपट, असत्य या पापका लगाव भी नहीं है उसमें भी किसी प्रकारकी आसक्ति न रह जाय। अपने गुरु, सिद्ध महापुरुष; यहाँतक कि सात्त्विक पदार्थोंमें भी कोई आसक्ति न रह जाय क्योंकि प्राय: महापुरुषों तथा गुरुओंके प्रति श्रद्धा बनी ही रहती है। इस अवस्थामें पहुँचकर उससे भी दूर हो जाना चाहिए।

६. पदार्थाभाव

इस भूमिकामें पहुँचकर साधकको सम्पूर्ण दृश्य जगत्को भूलकर यह समझना चाहिए कि संसारके सब पदार्थ तुच्छ हैं, उनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं है, उनमें कोई भेद नहीं है, वे सब अनित्य, असत्य, तुच्छ और तिरस्कारके योग्य हैं।

२. विचार

दूसरी भूमिकामें पहुँचनेपर साधकको गम्भीरतापूर्वक सत्-शास्त्रके विषयोंपर चिन्तन और मनन करना चाहिए, सत्संगति करके वहाँ जो तत्त्व, उपदेश या ज्ञान प्राप्त हो उसपर गम्भीर चिन्तन करके यह प्रयत्न करना चाहिए कि उसके अनुसार आचरण भी शुद्ध और सात्त्विक होता चले। इसी अवस्थामें उसे वैराग्यका अभ्यास करना चाहिए अर्थात् वह संसारके सब पदार्थों, व्यक्तियों, समाजोंसे अपना सम्बन्ध तोड़ ले और यदि मनमें किसी पदार्थ या व्यक्तिके प्रति तनिकसी भी आसक्ति प्रतीत हो तो या तो उसे दूर हटा दे या स्वयं उससे दूर हट जाय। इसके साथ-साथ उसे सत्य-पथका भी अभ्यास करना चाहिए अर्थात् अपना व्यवहार पूर्णतः निष्कपट और अगोपनीय रखना चाहिए अर्थात् कोई काम ऐसा नहीं करना चाहिए जिसे किसीसे छिपाकर करना पड़े या जिसके लिये कपटका आश्रय लेना पड़े। उसे अपना आचरण भी सत्य ही रखना चाहिए जिससे प्रत्येक व्यक्तिको यह विश्वास हो जाय कि यह व्यक्ति जो कहता है वह मिथ्या नहीं हो सकता, यह जो सम्मति देता है उससे कभी किसीका अकल्याण नहीं हो सकता और यह व्यक्ति सत्यका मर्म और महत्त्व समझता है। ऐसे साधको सदा सत्यको सत्य और असत्यको असत्य समझना और कहना चाहिए। कभी दुटप्पी या लाग-लपेटकी बात नहीं करनी चाहिए। जो कुछ जैसा है वैसा ही कह देने और कर देनेका अभ्यास करना चाहिए।

३. तनुमानसा

ऊपर बताए हुए सुविचार और शुभेच्छाके अनुसार तत्त्वका अर्थात् ब्रह्मके ज्ञानका अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिए और अपनी इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे पूर्णतः अलग कर लेना चाहिए। ज्ञानकी इस भूमिकामें पहुँचकर ही साधक, ज्ञानका वास्तविक अधिकारी बनकर आगे बढ़नेके योग्य हो पाता है।

४. सत्यापत्ति

उपर्युक्त तीन भूमिकाओंका सम्यक् अभ्यास कर लेने और इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे पूर्णतः विच्छिन्न कर लेनेपर श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे सत्य आत्मामें स्थित हो जाना चाहिए। इस भूमिकामें पहुँचकर साधकको अधिकारी विद्वानों, ज्ञानियों, सिद्ध पुरुषों और सदाचारी महापुरुषोंसे ज्ञानका श्रवण भी करना चाहिए; उस सुने हुए प्रवचनपर गम्भीरताके साथ ध्यानपूर्वक मनन भी करना चाहिए और यह संकल्प भी करना चाहिए कि मैं अपना जीवन और आचार इसीके अनुसार ढालनेका प्रयत्न करूँगा। इसीके साथ-साथ उसे निदिध्यासन अर्थात् ईश्वरका ध्यान करनेका भी अभ्यास करके अपने सत्य आत्मामें स्थित हो जाना चाहिए।

५. असंसक्ति

उपर्युक्त चार भूमिकाओंको साध लेनेपर साधकको उस अवस्थामें पहुँच जाना चाहिए जहाँ उसे शुद्ध विभूतिमें भी संसक्ति न रह जाय अर्थात् संसारमें जो वस्तु शुद्ध है, जिसके साथ किसी प्रकारके कपट, असत्य या पापका लगाव भी नहीं है उसमें भी किसी प्रकारकी आसक्ति न रह जाय। अपने गुरु, सिद्ध महापुरुष; यहाँतक कि सात्त्विक पदार्थोंमें भी कोई आसक्ति न रह जाय क्योंकि प्रायः महापुरुषों तथा गुरुओंके प्रति श्रद्धा बनी ही रहती है। इस अवस्थामें पहुँचकर उससे भी दूर हो जाना चाहिए।

६. पदार्थाभाव

इस भूमिकामें पहुँचकर साधकको सम्पूर्ण दृश्य जगत्को भूलकर यह समझना चाहिए कि संसारके सब पदार्थ तुच्छ हैं, उनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं है, उनमें कोई भेद नहीं है, वे सब अनित्य, असत्य, तुच्छ और तिरस्कारके योग्य हैं।

७. तुरीया

तुरीया भूमिकामें पहुँचनेपर उपर्युक्त छहों भूमिकाएँ एक हो जाने-पर जीवन्मुक्तिकी अवस्था प्राप्त हो जाती है।

इन भूमिकाओंमेंसे प्रथम तीन तो जगत्की जाग्रत अवस्थाकी, चौथी तत्त्वज्ञानकी, पाँचवीं और छठी जीवन्मुक्तिकी अवस्थाएँ हैं। तुरीयामें जीवन्मुक्ति स्थिर हो जाती है। इसीमें ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। तुरीयातीत भूमिकामें मुक्ति हो जाती है, आत्मा और ब्रह्मका एकाकार हो जाता है।

—योगवासिष्ठ, उत्पत्ति-प्रकरण अध्याय ९३

मनुष्यके सिरपर तीन ऋण

प्रत्येक मनुष्य अपने सिर तीन ऋण लेकर जन्म लेता है—पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण और देव-ऋण। अतः, प्रत्येक मनुष्यका धर्म है कि वह श्रेष्ठ कुलकी कन्यासे विवाह करके सन्तति उत्पन्न करके पितृ-ऋणसे मुक्त हो जाय, वेदों और धर्मग्रन्थोंका स्वाध्याय करके ऋषि-ऋणसे मुक्त हो जाय और यज्ञोंका अनुष्ठान करके देव-ऋणसे छुटकारा पा जाय।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्यपर दो और ऋण हैं एक भूत-ऋण (अर्थात् उन सब प्राणियोंका ऋण) जो दूध देकर, हल चलाकर, सामग्री ढोकर अथवा मल आदि दूर करके मनुष्यकी सेवा करते हैं। जीव-दयाके द्वारा और प्राणियोंसे स्नेहपूर्ण व्यवहार करके इस ऋणसे मुक्त हो जाना चाहिए, भारवाही जीवको मारना-पीटना नहीं चाहिए। पाँचवा ऋण वनस्पति-ऋण है, क्योंकि फल-अन्नादिसे ही मनुष्यका पालन होता है—कलावन्नगताः प्राणाः, इसलिये अन्नका कभी अनादर; निरादर और नाश नहीं करना चाहिए, कभी जूठा नहीं छोड़ना चाहिए। यदि छुट भी जाय तो नालीमें नहीं बहाना चाहिए, गौ, कौवे, कुत्ते आदिको दे देना चाहिए।

सत्संग

इसी प्रसंगमें सत्संगका महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि सत्संगसे ही मनुष्यकी बुद्धि शुद्ध होती है और ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है जिससे वह अपने सिरसे सब ऋण उतारनेकी योग्यता प्राप्त करता है। इसीलिये कहा गया है—

> अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
> चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

[जो व्यक्ति सदा बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम करता है और सदा उनके साथ उठता-बैठता है उसकी आयु, विद्या, यश और बल बढ़ता है।] इसी प्रसंगमें यह भी कहा गया है—

उपचरितव्याः सन्तः यद्यपि कथयन्ति नैकमुपदेशम्।
यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि॥

[सज्जनों या महापुरुषोंके पास सदा उठते बैठते रहना चाहिए भले ही वे कुछ भी न बोलते-चालते हों क्योंकि वे लोग मौजमें आकर जो कुछ कह जाते हैं वही शास्त्र हो जाता है।]

इस सम्बन्धमें गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

सात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरहु तुला इक अंग।
तुलै न ताही सकल मिलि, तुलसी लव सत्संग॥

भागवतमें भी इसी भावके दो श्लोक कहे गए हैं—

क्षणेनार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

भागवत–४।२४।५७

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

भागवत्–४।३०।३४

शास्त्रोंमें कहा गया है—

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतवर्षाणि जीवति॥

[कोई गुण न होनेपर भी जो मनुष्य सदाचारी है, श्रद्धावान् है और किसीसे द्वेष नहीं करता वह सौ वर्षतक जीता है।]

प्रज्ञापराधसे बचे रहिए

अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा था—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

[यह मन तो इतना चुलबुला, उथल-पुथल मचानेवाला, तगड़ा और हठीला है कि उसे बाँधे रख पाना मैं वैसा ही दूभर मानता हूँ जैसे हवाको बाँध पाना ।] इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि मन सचमुच इतना चुलबुला है कि बड़ी कठिनाईसे वशमें आ पाता है । पर बार-बार जतन करने (अभ्यास)-से और सबसे लगाव हटा लेने (वैराग्य) से यह पकड़में आ भी सकता है क्योंकि योग साधना उसके वशकी बात नहीं जो अपने मनको अपनी मुट्ठीमें न कर पाया हो इसलिये मनकी प्रकृतिको समझ लेना नितान्त आवश्यक है । वेदान्तमें अन्तःकरणको चार प्रकारका बताया गया है—

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमन्तरम् ।
संशयो निश्चयो गर्वं स्मरणं विषया इमे ॥

[अन्तःकरणके चार रूप होते हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त । मनसे वितर्क और संशय होता है । बुद्धिसे यह निश्चय होता है कि क्या उचित है क्या अनुचित, क्या कर्त्तव्य है क्या अकर्त्तव्य, क्या भला है क्या बुरा, यह वस्तु अमुक है या नहीं इत्यादि । इसीलिये बुद्धिको 'सद्सद्विवेचनात्मिका' कहते हैं अर्थात् बुद्धि ही यह निश्चय करती है कि यह ठीक है, यह कर्त्तव्य है, इससे लाभ होता है, यह अमुक वस्तु है इत्यादि । अहंकारसे मनुष्यके गर्व या अहंभावकी अभिव्यक्ति होती है कि यह मैं हूँ, यह मेरा है, मैं यह कर सकता हूँ, यह मैं कहता हूँ, मैं ही पण्डित, गुणी, बली या धनी हूँ इत्यादि ।

चित्तसे स्मरण होता है कि यह अमुक है, यह अमुकके समान है, यह बात अमुक ग्रन्थमें लिखी है, यह मैंने अमुकसे सुना था, ऐसा मैंने अमुक समय देखा, सुना, सूँघा या ग्रहण किया था इत्यादि ।]

इसी क्रमके अनुसार यदि विचार किया जाय तो मनुष्यका सम्पूर्ण व्यवहार चार ही रूपोंमें प्राप्त होता है—(१) संकल्प-विकल्पात्मक, (२) निश्चयात्मक, (३) अहंभावात्मक, (४) स्मरणात्मक । इनमेंसे संकल्प-विकल्पात्मक मनसे चिन्तन भी किया जाता है और तर्क-वितर्क अथवा संकल्प-विकल्प भी किया जाता है कि ऐसा हो तो उसका यह परिणाम होता है, ऐसा करना चाहिए या नहीं आदि । मनका सम्बन्ध हमारी ज्ञानेन्द्रियोंसे भी है और कर्मेन्द्रियोंसे भी । इसीलिये मनको उभयेन्द्रिय कहते हैं । यही मन कर्मेन्द्रियोंसे मिलकर मनोमय कोष हो जाता है । संकल्प और विवेचना करना मनका साधारण धर्म है । हमारी इन्द्रियाँ जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी चेतना ग्रहण करती हैं, उसका निर्धारण मन ही करता है । सांख्य-शास्त्रने महत् तत्त्वसे मनकी उत्पत्ति मानकर इसका कार्य स्पष्ट बता दिया है—मनन करना, विचार करना, सोचना, ऊहापोह करना । यह मन अन्नमय होता है अर्थात् यह भक्ष्य पदार्थोंके परिणामसे उत्पन्न होता है । जो जैसा भोजन करता है वैसा ही उसका मन बन जाता है तथा उसके मनमें वैसे ही विचार और संकल्प उठते हैं ।

मनकी पाँच अवस्थाएँ

पातंजल योगसूत्रमें मनकी पांच अवस्थाएं मानी गई हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध । मनकी चंचलता या अस्थिरताको क्षिप्तावस्था कहते हैं अर्थात् बाह्य वस्तुओंकी आकांक्षामें अस्थिर या अनिश्चित रहना ही मनकी क्षिप्तावस्था कहलाती है । काम, क्रोध आदि अथवा निद्रा या तन्द्राके अधीन होकर गाली बकना, मारना या आलस्यमें पड़े सोना ही मनकी मूढावस्था है । इस अवस्थामें मनुष्य

सामान्य विवेकको तिलाञ्जलि देकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, भय, घृणा, शोक आदिके विशेष आवेशमें आवेगपूर्वक काम करता या बोलता है। यह मनकी मूढ अवस्था होती है।

जब चंचलताके बीच मन कुछ समयके लिये अचंचल होकर या दुःखजनक विषयका परित्याग करके सुखजनक वस्तुमें स्थिर हो जाता है और केवल सुखका ही आस्वादन करनेमें मग्न हो जाता है, तब मनकी विक्षिप्तावस्था होती है। इसमें मनुष्य मन ही मन कुछ सोचता या वाणीका आनन्द तो लेता रहता है पर मुखसे कुछ नहीं कहता। कल्पनाके विकासके लिये मनकी यह अवस्था नितान्त आवश्यक है।

जब मन किसी बाह्य वस्तु, काल्पनिक विचार अथवा कल्पनामें मग्न होकर निश्चल और निष्कम्प दीप-शिखाकी भाँति अविकम्पित हो जाता है और चित्तमें रजोवृत्ति और तमोवृत्तिके बदले उसमें केवल सात्त्विक वृत्तिका अर्थात् प्रकाशमय और सुखमय वृत्तिका ही प्राधान्य हो जाता है तब मनकी एकाग्र अवस्था होती है। इसी अवस्थामें प्राप्त किया हुआ ज्ञान अक्षय होता है।

एकाग्र अवस्थामें तो मनका कोई बाह्य या अभ्यन्तर अवलम्ब रहता भी है किन्तु निरुद्ध अवस्थामें कोई अवलम्ब नहीं रहता। उस समय मन पूर्णतः सत्ताहीन हो जाता है।

इन पाँचों अवस्थाओंमें केवल क्षिप्तावस्था और मूढावस्थामें ही जीवात्मा पाप-पुण्य, दुःख-सुख आदिका अनुभव करता है। इच्छा, द्वेष, विषय-ज्ञान, प्रयत्न, संकल्प, विचार, स्मरण, कला-विज्ञता आदि सब गुण मनकी इसी अवस्थाके कारण उत्पन्न होते हैं।

सात्त्विक, राजसिक और तामसिक वृत्तिके अनुसार मनके लक्षण भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे मन तीन प्रकारका माना जाता है। भावप्रकाशमें इन तीनोंके अलग-अलग लक्षण बतलाए गए हैं —

सात्त्विक मन

आस्तिक्यं प्रविभज्य भोजनमनुत्तापश्च तथ्यं वचो
मेधाबुद्धिधृतिक्षमाश्च करुणा ज्ञानं च निर्दम्भता।
कर्मानिन्दितमस्पृहं च विनयो धर्मे सदैवादरो
ह्येते सत्त्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणा ज्ञानिभिः॥

[आस्तिक्य (मोक्ष, ईश्वर, परलोक; आदिमें श्रद्धा); सदसद्-विवेचन पूर्वक-भोजन, क्रोध न करना, सत्य वचनका प्रयोग, मेधा; बुद्धि, धृतिको बनाए रखना, काम, क्रोध, लोभ, आदिसे दूर रहना, क्षमा; करुणा, आत्मतत्त्वका ज्ञान, दंभहीनता, श्रेष्ठ कर्मका आचरण, अस्पृहा (कोई इच्छा न होना), विनय और यत्नपूर्वक धर्मानुष्ठान, ये सब सात्त्विक मनके कार्य हैं।] जिनका मन सत्त्वगुणान्वित होता है वे इसी प्रकारके कार्य करते हैं।

राजसिक मन

क्रोधस्ताडनशीलता च बहुलं दुःखं सुखेच्छाधिका
दम्भः कामुकताप्यलीकवचनं चाधीरता दुष्कृतिः।
ऐश्वर्यं ह्यभिमानितातिशयिताऽनन्दोऽधिकश्चारणम्
प्रख्याता हि रजोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः॥

[क्रोध करना, मारना-पीटना, अत्यन्त दुःख पाना, सुखकी इच्छा करना, दम्भ, कपटता, कामुकता, झूठ बोलना, अधीरता, अहंकार, ऐश्वर्यमें अतिशय अभिमान, अधिक आनन्द और परिभ्रमण, ये सब राजसिक मनके लक्षण हैं।] जिनका मन रजोगुणान्वित होता है वे इसी प्रकारके कार्योंमें प्रवृत्त हुए रहते हैं।

तामसिक मन

नास्तिक्यं सुविषण्णतातिशयितालस्यं च दुष्टा मतिः।
प्रीतिर्निन्दितकर्मशर्मणि सदा निद्रालुताऽहर्निशम्।

अज्ञानं किल सर्वतोऽपि सततं क्रोधान्धता मूढता
प्रख्याता हि तमोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ॥

[नास्तिकता, बहुत दुखी हुए रहना, अत्यन्त आलस्य, कुण्ठ बुद्धि, सर्वदा निन्दित कर्मसे उत्पन्न सुखमें आनन्द लेना, रात-दिन सोते रहना, अत्यन्त अज्ञानता, सदा क्रोध करना और मूर्खता, ये तामसिक मनके लक्षण हैं ।] जिन व्यक्तियोंका मन तमोगुणान्वित होता है वे इसी प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते रहते हैं ।]

मनके गुण

महाभारतके आश्वमेधिक पर्वमें मनके नौ गुण बताए गए हैं—

धैर्योपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गो कल्पना क्षमा ।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः ॥

[धैर्य, उपपत्ति (समाधान या युक्ति), स्मरण, भ्रान्ति; कल्पना (मनोरथ-वृत्ति), क्षमा, सत् (वैराग्य आदि), असत् (राग-द्वेष आदि) एवं आध्यात्मिकता—ये मनके नौ गुण हैं ।] यहाँ मनको अध्यात्म-तत्त्व माना गया है ।

मन और बुद्धिका योग

तात्पर्य यह है कि मनुष्य जितने कुछ भी कार्य करता है उन सबका प्रेरक मन ही है । किन्तु मनके द्वारा प्रेरित होकर मनुष्य जितना कुछ काम करता है वह दो प्रकारका होता है । १—बुद्धि-द्वारा व्यवस्थित २—बिना बुद्धिके किया हुआ कार्य, क्योंकि सब प्रकारके मनःप्रेरित व्यापारोंमें बुद्धिका योग नहीं होता ।

तीन प्रकारकी बुद्धि

भगवद्गीतामें सात्त्विक, राजसिक और तामसिक बुद्धिका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थं सात्त्विकी॥
यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थं राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थं तामसी॥

[जिसके द्वारा प्रवृत्ति, निवृत्ति, कर्त्तव्य; भय, अभय, बन्धन, और मोक्ष आदि जाना जा सके उसे सात्त्विक बुद्धि कहते हैं। जिसके द्वारा धर्म, अधर्म, कार्य, अकार्य आदिको भली-भाँति बिना जाने-सुने उलटा ही ज्ञान उत्पन्न हो उसे राजसी बुद्धि कहते हैं, और जिस बुद्धिके द्वारा अधर्मको धर्म, अकर्तव्यको कर्त्तव्य समझा जाय, ऐसे विपरीत भावका प्रकाशन करनेवाली बुद्धिको तामसी कहते हैं।]

इनमेंसे राजसी और तामसी बुद्धिके द्वारा अयथार्थ या मिथ्या ज्ञान ही निश्चित होता है। कल्किपुराणमें अयथार्थ ज्ञानकी अवस्थाओंको बुद्धि-क्षय और बुद्धि-नाशका कारण बताया है—

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मोहः परासुता।
ईर्ष्याभिमानो विचिकित्साऽकृपासूया जुगुप्सुता॥
द्वादशैते बुद्धिनाशहेतवो मानसा मलाः।

(शोक, क्रोध, लाभ, काम, मोह, निर्जीविता, ईर्ष्या, अभिमान, विचिकित्सा (सन्देह या भ्रम), अकृपा, असूया (द्वेष) और जुगुप्सा, ये बारह बुद्धिनाशके कारण और मानस मल हैं। अर्जुनके मनमें भी विचिकित्सा उत्पन्न हो गई थी कि इस युद्धका परिणाम ठीक नहीं होगा।

कुरुक्षेत्रकी पुण्य युद्धभूमिमें पहुँचकर अर्जुनने जिस विषादका परिचय दिया उसे आयुर्वेदकी पारिभाषिक भाषामें 'प्रज्ञापराध' कहते हैं। प्रज्ञापराधका लक्षण बतलाते हुए महर्षि अग्निवेश-द्वारा प्रणीत और महामुनि चरक-द्वारा प्रतिसंस्कृत चरक-संहितामें कहा गया है—

धी-धृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोष-प्रकोपणम् ॥

[जब धी (बुद्धि), धृति (बुद्धिको सँभाले रखनेवाली शक्ति या विवेक) तथा स्मृति, (पिछले किए हुए कर्म या अनुभवको स्मरण किए रखनेकी शक्ति) नष्ट हो जाती है और मनुष्य सब प्रकारके अशुभ कर्म करने लगता है, वह स्थिति प्रज्ञापराध कहलाती है। इस प्रज्ञापराधसे शरीर और मनके सभी दोष उत्पन्न हो जाते हैं ।

धीभ्रंश

विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते ।
ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति ॥

[बुद्धिका काम यह है कि वह नित्यको नित्य, अनित्यको अनित्य; हितको हित और अहितको अहित बताती चले। इस प्रकारके सम या ठीक ज्ञानको धी (बुद्धि) अर्थात् सात्त्विक बुद्धि कहते हैं। किन्तु जब मनुष्य नित्यको अनित्य, अनित्यको नित्य, हितको अहित और अहितको हित समझने लगे तब समझना चाहिए कि उसे धीभ्रंश हो गया है अर्थात् उसकी बुद्धि तामसिक हो गई है । ऐसी तामसी बुद्धिवाला मनुष्य ही प्रज्ञापराध करता है।]

धृतिभ्रंश

चरकके अनुसार धृतिका काम यह है कि वह मनको वशमें किए रखे, उसे विषयोंकी ओर न घूमने दे। किन्तु जब धृतिभ्रंश होता है तब मनुष्यका चित्त विषयोंकी ओर इस प्रकार घूम जाता है कि वह अहित विषयोंकी ओर जानेसे रोके नहीं रुक पाता। धृतिभ्रंशका लक्षण बताते हुए यही कहा गया है—

विषय - प्रवणं चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते ।
नियन्तुमहितादर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका ॥

स्मृतिभ्रंश

स्मृति-भ्रंशका लक्षण बताते हुए कहा गया है कि स्मृति भ्रष्ट पुरुष जितने कार्य करता है वे सब प्रज्ञापराध कहलाते हैं—

तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोमोहावृतात्मनः ।
भ्रश्यते स स्मृतिभ्रंशः स्मर्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम् ॥

[जब रज और मोहसे आच्छादित आत्मावाले पुरुषकी स्मृति तत्त्वज्ञान (ठीक या उचित ज्ञान)-से हट जाती है तब स्मृति-भ्रंश हो जाता है ।] अर्थात् जब मनुष्यको यह स्मरण नहीं रहता कि अमुक अच्छा कार्य करनेपर मुझे क्या लाभ हुआ था और अमुक बुरा कार्य करनेपर मुझे क्या बुरा फल मिला था तब स्मृति-भ्रंश होता है। स्मृति-भ्रष्ट पुरुष जो भी कुछ करता है वह सब प्रज्ञापराध कहलाता है। बार-बार दुःखप्रद कार्य करते हुए वह स्वयं बराबर बहुत दुखी हुआ रहता है।

उसी प्रसंगमें चरक-संहितामें ही बताया गया है कि धी, धृति और स्मृति-भ्रंश होनेसे मनुष्य कितने प्रकारके बुरे कार्य (प्रज्ञापराध) करने लगता है—

उदीरणं गतिमतामुदीर्णानां च निग्रहः ।
सेवनं साहसानां च नारीणां चातिसेवनम् ॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम् ।
विनयाचारलोपश्च पूज्यानां चाभिधर्षणम् ॥
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम् ।
अकालादेशसञ्चारो मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः ॥
इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम् ।
ईर्ष्या-मान-भय - क्रोध - लोभ - मोह-मद-भ्रमाः ॥
तज्जं वा कर्म यत्क्लिष्टं क्लिष्टं यद्वा तद्देहकर्म च ।
यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम् ॥
प्रज्ञापराधं तं शिष्टाः ब्रुवते व्याधिकारकम् ॥

(चरक—शारीर अ० १, श्लोक १०२-१०८)

[बुद्धिमानोंके बताए हुए मार्गसे उलटा चलना, बुरे कार्य करने-वालोंकी संगति करना, स्त्रियोंका अधिक सेवन करना, ठीक समयपर ठीक कर्म न करना, बिना कामका काम छेड़ देना, विनय और आचार छोड़ देना, पूज्योंकी निन्दा करना, अपने मनचाहे अहित कार्योंमें लगना, बिना समझके अनुचित देशोंमें घूमना, बुरे काम करनेवालोंसे मित्रता करना, अच्छे काम छोड़ देना, ईर्ष्या, अभिमान, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद और भ्रममें पड़े रहना या इन दोषोंसे उत्पन्न कर्म करना या ऐसे कर्म करना जो रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न हों—इन सब कर्मोंको प्रज्ञापराध कहते हैं। यह प्रज्ञापराध ही व्याधियोंकी उत्पत्तिका मूल कारण है, जिससे व्यक्ति न चाहते हुए भी आजीवन दुःखोंसे ग्रस्त रहता है।]

अहंकार भी मनुष्यका बहुत बड़ा शत्रु है। वह मनुष्यके मनको किसी भी समय चक्करमें डाल देता है। इसलिये योगवासिष्ठकारने कहा है कि अहंकार-रूपी बीजको जड़से उखाड़कर पूर्णतः शून्य-हृदय हो जाओ। तब चित्तमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न ही न होगा, उसमें ममताकी भावना उत्पन्न ही न होगी। इसके लिये यही उपाय है कि सब प्रकारके निषिद्ध कर्म और विषयोंसे अपनी इन्द्रियोंको हटाकर यम, दम और श्रद्धासे कोमल आसनपर बैठकर अपने चित्त और इन्द्रियोंकी सारी क्रियाएँ रोककर तबतक ओंकारका जप किया जाय जबतक मन पवित्र और प्रसन्न न हो जाय। इसके पश्चात् अन्तःकरणको, प्राणायामके द्वारा शुद्ध करके अपनी इन्द्रियोंको सब विषयोंसे धीरे-धीरे खींच ले और यह अनुभव करे कि मैं सारे विश्वमें हूँ और सारा विश्व मुझमें है और फिर यह भावना भी समाप्त करके केवल आत्मामें ही स्थिर होकर बैठ रहे। योगवासिष्ठकारने यह भी कहा है कि मनको वशमें करनेके लिये अध्यात्म - विद्याका अध्ययन, साधु-संगति, सब इच्छाओंका त्याग और प्राणायाम करते रहना चाहिए।

ज्ञान प्राप्त करनेके लिये साम्यभाव अर्थात् सबको समान समझना नितान्त आवश्यक है क्योंकि जबतक मनुष्य किसीको बड़ा, किसीको

छोटा, किसीको श्रेष्ठ, किसीको हीन समझता रहेगा तबतक उसे शान्ति नहीं मिलेगी। गीतामें कहा गया है—

विद्या - विनय - सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

[विद्या और विनयसे सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालको जो समान समझता है वही वास्तवमें पण्डित या ज्ञानी है।] इस प्रकारकी समता आनेसे अर्थात् 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' समझ लेनेपर संसार भरके प्राणी अपने सगे हो जाते हैं।

योगवासिष्ठके अनुसार ज्ञान प्राप्त करनेका यह भी उपाय है कि सब वस्तुओंका त्याग कर दिया जाय, किसी भी व्यक्ति, वस्तुके साथ कोई मोह या लगाव न रक्खा जाय और उसे दे डालनेमें मनमें कोई खिन्नता न हो। इस अभ्याससे सब दुःखोंका अन्त हो जाता है। इस विषयमें योगवाशिष्ठका यह मत स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि सब वस्तुओंका बीज मन है। इसलिये मन या चित्तका त्याग ही सर्व - त्याग है। सब कुछ परमात्माको अर्पण कर देना भी त्याग ही है। जो साधक धन प्राप्त होनेपर प्रसन्न नहीं होता और उसके चले जानेपर यह समझता है कि मैं धनकी रक्षाके उत्तरदायित्वसे मुक्त हो गया और उसके मनमें कोई खेद नहीं होता तो वही सर्वत्यागी है। इस प्रकार जो सब वस्तुओंका त्याग कर देता है उसे संसारकी सब वस्तुएँ प्राप्त हो जाती है।

योगवासिष्ठमें यह कहीं नहीं कहा गया है कि मनुष्य संसार छोड़कर निठल्ला हुआ बैठा रहे। उसमें स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्यको श्रमपूर्वक मन लगाकर अपने सांसारिक कर्तव्योंका पालन करते रहना चाहिए किन्तु किसी भी कर्ममें आसक्ति या मोह नहीं होना चाहिए।

यह भी आवश्यक है कि मनुष्यके मनमें किसी भी प्रकारकी तृष्णा न तो उत्पन्न ही हो और न पनपने ही दी जाय

क्योंकि मनुष्यके पतनका सबसे अधिक प्रबल कारण तृष्णा ही है। मैं यह पा जाऊँ, मैं यह हो जाऊँ आदि जो मनमें भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, दूसरोंको सुखपूर्ण परिस्थितमें देखकर वैसा ही बननेकी जो इच्छा होती है वही तृष्णा है। उसे दूर भी करना चाहिए और उससे दूर भी रहना चाहिए क्योंकि ऐसा करनेसे निरर्थक चिन्ता बढ़ती है और मन उद्विग्न हो जाता है।

योगवासिष्ठमें अन्य विकारोंसे दूर रहनेके साथ ही कामासक्तासे भी दूर रहनेका उपदेश देते हुए बताया गया है कि मनुष्यकी सबसे बड़ी दुर्बलता काम है। जिसने इसपर विजय पा ली उसने सबको जीत लिया। महादेवजीको कामारि कहकर उन्हें इसीलिये महायोगी कहते हैं क्योंकि उनपर कामका कभी प्रभाव नहीं पड़ा।

योगवासिष्ठका मुख्य मन्तव्य यही है कि प्रत्येक मनुष्यको अध्यात्मका माहात्म्यका समझना चाहिए क्योंकि आत्माको तबतक शान्ति प्राप्त नहीं होती जबतक मनुष्यको आत्मज्ञान न हो जाय इसलिये आत्माको जान लेनेका प्रयत्न प्रत्येक मनुष्यको अवश्य करना ही चाहिए। आध्यात्मिक वृतिवाला मनुष्य यह समझता है कि मेरा जीवन लोक-कल्याणके लिये है। इसलिये वह निरन्तर लोकके कल्याणमें लगा रहता है। इसीलिये योगवासिष्ठमें आत्मज्ञानको अत्यन्त आवश्यक और श्रेष्ठतम बताते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य वास्तविक ज्ञानी और अध्यात्म-विद्याका पण्डित होगा वह संसारमें रहते हुए भी पद्मपत्रमिवाम्भसा (कमलके पत्तेपर पड़ी हुई जलकी बूँदके समान) किसी भी सांसारिक प्रपञ्चसे प्रभावित नहीं होगा और वह जीवन्मुक्त होकर पूर्ण अनासक्त भावसे धर्ममार्गपर चलता हुआ दूसरोंके लिये आदर्श बन सकेगा।

योगवासिष्ठके अनुसार ब्रह्मका साक्षात्कार

योगवशिष्ठकारने अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध किया है कि अद्वैत सिद्धान्तका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य संसार छोड़कर भाग खड़ा हो।

उनका कहना यही है कि प्रत्येक मनुष्यके लिये आवश्यक है कि वह कर्म तो करता रहे किन्तु किसी भी कर्ममें और कर्मके फलमें उसकी आसक्ति न हो। ज्ञानी पुरुष तो सब कुछ कर्म करते हुए भी और संसारमें रहते हुए भी अकर्ता बना रहता है। इसलिये वह कर्म-बन्धनसे बचा रहता है क्योंकि कर्म तो वही है जो मनसे किया जाय और जिसके साथ मनका कोई लगाव नहीं है वह कर्म नहीं है। गीता और योगवासिष्ठ दोनोंने अनासक्तिका उपदेश दिया है और कहा है कि यदि मनुष्य अनासक्त होकर कार्य करता है तो वह ज्ञान-बन्धु (पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर उसका आचारण करनेवाला) कहा जाता है।

ज्ञान प्राप्त करनेके साधन

योगवासिष्ठमें इस भवसागरको पार करनेका एक मात्र उपाय योग बताया गया है जिसके दो रूप हैं—आत्मज्ञान या ज्ञान-मार्ग और प्राण-निरोध या योग-मार्ग। इन दोनोंके लिये तत्त्वज्ञानका गम्भीर अभ्यास, प्राणायामके द्वारा प्राणनिरोध और प्रत्याहारकी साधनाके द्वारा मनका निग्रह करना आवश्यक है।

तत्त्वज्ञानके अभ्यासके लिये साधकको यह निश्चयपूर्वक विश्वास कर लेना चाहिए कि यह सारा विश्व ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है और मैं भी उसी ब्रह्मका एक अंश हूँ। इस प्रकार निश्चयपूर्वक विश्वास हो जानेपर उसके मनसे सब प्रकारके भेदभाव दूर हो जाते हैं और वह माया-मोहसे स्वयं ही ऊपर उठ जाता है। इसके पश्चात् उसे यह भी ज्ञान होने लगता है कि यह समस्त दृश्यमान संसार मिथ्या है। इसके पश्चात् उसमें केवलीभाव आ जाता है अर्थात् संसारके वास्तविक स्वरूपको समझ लेनेपर उसके मनसे मैं और तूकी भावना निकल जाती है और उसे अपने चारों ओर केवल एक ही आत्मा दिखाई देने लगता है। तब उसके मनसे रागद्वेषकी सारी प्रवृत्तियाँ अपने आप शान्त हो जाती हैं।

योगवासिष्ठका मत है कि जैसे पंखेकी गति रुक जानेपर वायुकी गति भी रुक जाती है, वैसे ही प्राणोंका निरोध करने या श्वास रोक लेनेपर मन भी शान्त हो जाता है। प्राणका निरोध कर लेनेपर मन निश्चित रूपसे शान्त हो जाता है और ऐसा जान पड़ने लगता है कि संसार है ही नहीं। इस प्राण-विद्यासे मनुष्यके सब दुःखोंका तो नाश हो ही जाता है, सौभाग्यकी भी श्रीवृद्धि होती है।

हृदय-कमलमें रहनेवाले प्राण वायु और देहके नीचेके भागके अपान वायुकी गतिपर जो योगी विजय प्राप्त कर लेता है वह निरोग और सानन्द रहता है। हृदय-स्थित कमलसे उदित होकर प्राण वायु बारह अंगुल-तक बाहर आकर समाप्त हो जाता है और अपान वायु हृदयकमलसे बारह अंगुल दूरीपर उठकर हृदयकमलके मध्य समाप्त हो जाता है। प्राणकी गति ऊपरकी ओर और अपानकी गति नीचेकी ओर होती है। योगवासिष्ठमें जिस प्राण-निरोधका वर्णन हुआ है वह पातञ्जल योग तथा अन्य योगोंमें बताया हुआ प्राणायाम ही है। यौगिक प्राणायाममें जिन प्राणकी क्रियाओंको पूरक, रेचक, कुम्भक कहा है उसे योगवासिष्ठमें उदय, अस्त तथा दोनोंका मिलन कहा है। हठयोगके अनुसार तो पूरक, कुम्भक और रेचकका अभ्यास-द्वारा अधिक समयतक करते रहनेका उपदेश है किन्तु राजयोग और ज्ञान-योगमें यह विधान है कि श्वासको सामान्य रूपसे चलते रहने देना चाहिए किन्तु उसकी गतिको नियमित कर देना चाहिए, बलपूर्वक श्वासका निरोध नहीं करना चाहिए। उनका कहना है कि ऐसा कोई काम (दौड़ना, वेगसे ऊपर चढ़ना या नीचे उतरना अथवा अधिक शारीरिक परिश्रमका काम) करना अनुचित है क्योंकि इन सब कामोंसे श्वासकी गति अनियमित हो जाती हैं। इस प्रकारकी नियमित श्वास-प्रक्रियासे ऐसे कार्य हो सकते हैं जो सामान्यतः मनुष्य नहीं कर सकते।

योगवासिष्ठमें ज्ञान-प्राप्तिका तीसरा उपाय मनको वशमें रखना बताया गया है। इस संसाररूपी माया-चक्रकी प्रनाभि (नाह) मन है

जिसे भली प्रकार सँभाले रखनेसे सबको वशमें किया जा सकता है। मनको बांधे रखना ही योगका प्रधान तत्त्व है।

ज्ञान प्राप्त करनेका चौथा उपाय है सब प्रकारकी वासनाओं, आकांक्षाओं, अभिलाषाओंका त्याग। ऐसा होनेपर मनुष्य तत्काल अपनेको जीवन्मुक्त; निर्मल, निश्चिन्त और सन्तुष्ट समझने लगता है। ऐसा होनेपर उसका चित्त स्थिर हो जाता है और उसे किसी प्रकारका भय नहीं होता।

ज्ञान-मार्गसे ब्रह्म-साक्षात्कार

महाभारतके अनुसार सबके अन्तरात्मा, सनातन पुरुष, कूटस्थ, अविनाशी, निर्लेप, सर्वव्यापी, प्रभु, प्रकृतिसे परे और इन्द्रियातीत परब्रह्मके हजारवें अंशसे अनादि, अनन्त, अभेद्य, अजर और अमर मानसदेव या मानस पुरुष उत्पन्न हुआ। उसे अव्यक्त कहते हैं। वह शाश्वत, अक्षय और अविनाशी हैं। उसीसे सब प्राणी उत्पन्न होते और मरते हैं।

उस स्वयंभू देवसे सर्वप्रथम महत्तत्त्व (बुद्धि-) उत्पन्न हुई जिससे अहंकार हुआ, उससे शब्द तन्मात्रा-रूपी आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे जल, जलसे अग्नि, अग्निसे वायु तथा अग्नि और वायुके संयोगसे पृथ्वी उत्पन्न हुई। उसके पश्चात् स्वयंभू मानसदेवने एक कमल उत्पन्न किया जिससे वेद-निधि तथा अहंकार नामसे प्रसिद्ध ब्रह्मा उत्पन्न हुए जिन्होंने पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश नामक पांच महाभूत उत्पन्न किए।

मानसदेवने सर्वप्रथम जल, जलसे वायु, वायु और जलके संघर्षसे अग्नि, तथा जल, अग्नि और वायुके संयोगसे पृथ्वी उत्पन्न की। सारा चराचर जगत् इन्हीं पाँच महाभूतोंसे बना है।

किन्तु श्रुतिके अनुसार आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई।

कपिलके सांख्य और पतञ्जलिके योग दोनोंमें पच्चीस तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है। इन पच्चीस तत्त्वोंमेंसे जिन तत्त्वोंका जन्म, वृद्धि, जरा और मरण होता है वे इन चार लक्षणोंवाले तत्त्व तो व्यक्त कहलाते हैं और जिस तत्त्वका जन्म, वृद्धि, जरा और मरण नहीं होता उसे अव्यक्त कहते हैं। उस अव्यक्तके दो भेद हैं—जीवात्मा

और परमात्मा। अव्यक्त होते हुए भी जीवात्मा जब व्यक्तके सम्पर्कमें आ जाता है तब जन्म, वृद्धि, जरा और मरण लक्षण ग्रहण करके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चार पुरुषार्थोंसे सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। दूसरा अव्यक्त परमात्मा ज्ञान-स्वरूप है। व्यक्त या जड वर्गकी उत्पत्ति उसी अव्यक्त परमात्मासे होती है। व्यक्तको तो सत्व, जडवर्ग या क्षेत्र कहते हैं और जीवात्माको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। जब जीवात्मा संसारके सभी विषयोंसे (सांसारिक पदार्थों -से संपर्क हटा लेता है तब वह ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता और मुक्त हो जाता है।

जिसके मनमेंसे ममता और अहंकार निकल गए हों, जो शीत, उष्ण, सुख-दुःख और शोक-मोहको समान भावसे सहने लगता है, जिसके मनसे सारे संशय मिट जाते हैं, जो कभी किसी पर न तो क्रोध करता, न किसीसे द्वेष करता, न झूठ बोलता, न किसीसे गाली और मार खाकर भी उसका अहित सोचता, सबसे मित्र भाव रखता, मन, वाणी और कर्मसे किसी जीवको कष्ट नहीं पहुँचाता तथा सब प्राणियोंसे समान भावसे व्यवहार करता है, वही योगी ब्रह्मभाव प्राप्त कर पाता है।

जो व्यक्ति न तो किसी वस्तुकी इच्छा करता न अनिच्छा करता जो जीवन-निर्वाह मात्रके लिये मिले हुएपर सन्तोष कर लेता, जो निर्लोभ, व्यथा-रहित और जितेन्द्रिय है, जिसे कुछ करने या न करनेसे कोई मतलब नहीं है, जिसकी इन्द्रियाँ और मन कभी चंचल नहीं होते, जिसका मनोरथ पूर्ण हो चुका है, जो सब प्राणियों-पर समान दृष्टि और मित्रताका भाव रखता, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णको समान समझता, जो किसीको प्रिय या अप्रिय नहीं समझता, जो अपनी निन्दा या स्तुतिसे अप्रभावित रहता, जिसे किसी भी भोगमें इच्छा नहीं रह जाती, जो दृढता-पूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करता है और जो किसी भी प्राणीकी कभी हिंसा नहीं करता वह सांख्ययोगी (ज्ञानी संसारके सब बन्धनोंसे मुक्त होकर ब्रह्म-साक्षात्कार कर लेता है।

जो योगी पर-वैराग्य (अत्यन्त तीव्र वैराग्य) और योगके बलसे प्राप्त सारे ऐश्वर्यों और सिद्धियोंको लाँघकर उनकी सीमासे पार हो जाता है और भाव-शुद्धिसे जिसकी बुद्धि पूर्ण निर्मल हो जाती है वह उपर्युक्त साधनाके द्वारा सब द्वन्द्वों (भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मृत्यु, सुख-दुःख)-से मुक्त होकर ब्रह्मभाव प्राप्त कर लेता है।

शुकदेवजीने अपने पिता व्यासजीसे पूछा था कि सांख्य और योगमें किस साधनके द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार होता है—तपके द्वारा; ब्रह्मचर्यके द्वारा, सर्वत्यागके द्वारा या मेधाशक्तिके द्वारा ?

व्यासजीने समझाया कि विद्या, तप, इन्द्रिय-निग्रह और सर्वस्व त्यागके बिना कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होती। जैसे मन सारी इन्द्रियोंका राजा और उन्हें विषयोंकी ओर लगाने तथा विषयोंकी ओरसे हटानेमें समर्थ होता है वैसे ही हृदयमें स्थित जीवात्मा भी मनका स्वामी बनकर मनको किसी काममें लगाने या किसी कामसे हटानेमें समर्थ होता है। कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति अपनी पाँच इन्द्रियों (कान, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिका), उनके पाँच विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), स्वभाव, चेतना, मन, प्राण, अपान और जीव इन सोलह तत्त्वोंसे घिरे हुए सत्रहवें परमात्माका बुद्धिके द्वारा अपने अन्तःकरणमें ही साक्षात्कार कर सकता है क्योंकि नेत्रों अथवा अन्य इन्द्रियोंसे उस परमात्माका अनुभव नहीं किया जा सकता। वह तो विशुद्ध मनके दीपकसे ही बुद्धिमें प्रकाशित होता है। इसलिये ब्रह्म या परमात्माके साक्षात्कारका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वह आपकी आँखोंके आगे किसी प्रकारका रूप धारण करके आ खड़ा हो जायगा। वह आत्म-तत्त्व यद्यपि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धसे हीन, अविकारी तथा शरीर और इन्द्रियोंसे रहित है फिर भी शरीरके भीतर ही उसका अनुसन्धान करना चाहिए। सभी नश्वर शरीरोंमें अव्यक्त भावसे विराजमान परमेश्वरका जो ज्ञानमयी दृष्टिसे निरन्तर दर्शन करता रहता है वह मृत्युके पश्चात् ब्रह्मभाव प्राप्त करनेमें समर्थ हो ही जाता है। जब जीवात्मा समझने लगता है कि सब प्राणी मुझमें और मैं सब

प्राणियोमें व्याप्त हूँ तब समझना चाहिए कि वह ब्रह्म-भावको प्राप्त हो गया।

जो मनुष्य निरन्तर यह जानता और समझता रहता है कि जैसा ज्ञान-स्वरूप परमात्मा मेरे शरीरके भीतर है वैसा ही दूसरोंके शरीरोंमें भी है, वह मनुष्य अमृतत्व या ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य सब प्राणियोंका आत्मा बनकर, सब प्राणियोंका हित करनेमें लगा रहकर ब्रह्मपद प्राप्त करना चाहता है उस ज्ञान-योगीकी गतिको देवता भी नहीं समझ पा सकते।

उस परमात्मासे बढ़कर न तो कुछ भी सूक्ष्मतर है न स्थूलतर। उसके सब ओर हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख तथा कान हैं। वह समस्त संसारमें व्याप्त है। वह छोटेसे भी बहुत छोटा, बड़ेसे भी बहुत बड़ा और सब प्राणियोंके भीतर स्थित होनेपर भी दिखाई नहीं देता। उस परमात्माके दो रूप हैं—क्षर और अक्षर। संसारके सब नश्वर प्राणियोंके रूपमें तो उसका क्षर रूप है और दिव्य, सत्य-स्वरूप, चेतनात्मा, अविनाशी उसका अक्षर-स्वरूप है। सभी स्थावर और जंगम प्राणियोंका ईश्वर वह स्वाधीन परमात्मा नौ द्वारोंवाले शरीरोंमे हंस (जीव)-के रूपमें जमकर विराजमान रहता है। जो मनुष्य उस अक्षर आत्माको ठीक-ठीक जान लेता है वह जन्म और मृत्युका बन्धन तोड़कर सदाके लिये मुक्त होकर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है।

कपिलके सांख्य-मतवाले लोग सब देहधारियोंके शरीरोंमें पाँच दोष बताते हैं—काम, क्रोध, भय, निद्रा और श्वास। इसलिये क्षमासे क्रोधका, सब संकल्पोंका त्याग करके कामका, सत्त्वगुणोंके सेवनसे निद्राका, प्रमादके त्यागसे भयका और अल्पाहारके द्वारा श्वास-दोषका नाश कर देना चाहिए। सांख्यवादी ज्ञानी लोग संसारको पानीके बुलबुलेके समान नश्वर, साररहीन, क्षण-भंगुर और सुखहीन समझकर सबसे सब प्रकारकी आसक्ति दूर करके तपस्या-रूपी दण्ड और

विवेकरूपी शस्त्र लेकर सब प्रकारके भोगोंकी आसक्तिको काट कर और प्रज्ञारूपी नौकाके द्वारा संसाररूपी भवसागरसे पार जाकर आकाशस्वरूप निर्मल परब्रह्ममें प्रवेश कर जानेका उपदेश देते हैं। उस समय उस पुण्यात्मा सांख्ययोगी सिद्ध पुरुषको सूर्य स्वयं अर्चिमार्गसे ब्रह्मलोकमें ले जानेके लिये ऊपरके उन लोकोंमें उठा ले जाता है जहाँ प्रवह नामक वायु-अभिमानी देवता उस वीतराग शक्ति-सम्पन्न सिद्ध तपस्वी महापुरुषको सूर्य-अभिमानी देवतासे अपने अधिकारमें ले लेता है और फिर शुभ लोकोंमें जानेवाले सूक्ष्म, शीतल, सुगन्धित, सुस्पर्श तथा सातों वायुओंमें श्रेष्ठ वायुदेव उस कल्याणमय सांख्ययोगीको ऊँचे आकाशमें पहुँचा देता है। वहाँसे आकाशाभिमानी देवता उस सांख्ययोगीको रजोगुणकी परमगतितक अर्थात् तेजोमय विद्युदभिमानी देवताओंके पास ले जा पहुँचाता है। वे विद्युदभिमानी देवता उसे सत्यके उस परम धाममें ले जा पहुँचाते हैं जहाँ श्रीनारायणके पार्षद् उनके स्वागतके लिये प्रस्तुत खड़े मिलते है। वे उसे साथ लेकर श्रीनारायणके पास पहुँचा देते है और भगवान् नारायण स्वयं उसे विशुद्धात्मा परमात्मामें प्रविष्ट कर देते हैं। इस प्रकार परब्रह्मको प्राप्त करके वे निर्मल योगी अमृतभावसे सम्पन्न हो जाते हैं।

जो ज्ञानी सब प्रकारके द्वन्द्वों (भूख-प्यास, शोक-मोह, सुख-दुःख; आदि)-से रहित सत्यवादी, सरल तथा सब प्राणियोंपर दया करते हैं उनको भी वही परमगति मिलती है।

देहधारियोंकी इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विशेष विषयोंकी ओर बढ़ती. उन्हें देखतीं या अनुभव करती हैं और वे ही आत्माको अपने विभिन्न विषयोंका ज्ञान कराती हैं। वह सूक्ष्म आत्मा उन इन्द्रियोंके द्वारा ही बाह्य विषयोंका दर्शन और प्रकाश करता है। जब शरीरधारी प्राणी इन्द्रियों-सहित सो जाता है तब उसका सूक्ष्म शरीर आकाशमें वायुके समान सर्वत्र विचरण करने लगता है। यही स्वप्न अवस्था है। फिर सुषुप्ति अवस्थामें सारी इन्द्रियाँ विषयोंका ज्ञान प्राप्त करनेमें

असमर्थ होकर अपने-अपने स्थानमें विधिवत् लीन हो जाती हैं। स्वप्नावस्थामें सब इन्द्रियोंको आक्रान्त करके यह जीवात्मा सूक्ष्म विषयोंमें विचरण करने लगता है। किन्तु परब्रह्म परमात्मा तो सात्त्विक, राजस् और तामस गुणों तथा बुद्धि, मन, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीके गुणों तथा अन्य सब पदार्थोंमें भी अपने गुणोंसे व्याप्त होकर सब क्षेत्रज्ञों (जीवात्माओं)-में स्थित हुआ रहता है। मन, इन्द्रियाँ और शुभाशुभ कर्म सब जीवात्माके पीछे पीछे लगे चलते हैं किन्तु जब यह जीवात्मा इन्द्रियोंको और प्रकृतिको भी लाँघकर पार निकल जाता है तब वह निश्चय ही अविनाशी परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है। ऐसा पुण्य-पापसे रहित सांख्ययोगी परम ज्ञान प्राप्त करके मुक्त होकर उस निर्गुण, निर्विकार, नारायण-स्वरूप परमात्मामें प्रविष्ट होकर स्वयं ब्रह्म हो जाता है।

ज्ञान-पंथ किरपान क धारा

यद्यपि गोस्वामी तुलसीदासजीने ज्ञान-पंथको कृपाणकी धारा बता दिया है किन्तु फिर भी सांख्य-ज्ञान ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है। इसमें उस अक्षर, ध्रुव और सनातन ब्रह्मका प्रतिपादन हुआ है जो आदि, मध्य और अन्तसे रहित, निर्द्वन्द्व, जगत्को उत्पन्न करनेवाला, शाश्वत, कूटस्थ, नित्य तथा सृष्टि और प्रलय करनेवाला है। महात्मा पुरुषों, वेदों, दर्शनों, योगशास्त्रों, पुराणों, इतिहासों और अर्थशास्त्र इत्यादिमें जितना कुछ भी महान् ज्ञान दृष्टिगोचर होता है वह सब सांख्यसे ही उद्भूत हुआ है। सांख्यशास्त्रमें मन और इन्द्रियोंका संयम, उत्तम सूक्ष्म ज्ञान और सूक्ष्म तप सबका विस्तृत वर्णन है। सांख्यके ज्ञान-मार्गकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यदि साधनामें कुछ त्रुटि रह भी जाय तब भी देवलोक तो मिल ही जाता है और फिर पुण्य-क्षयके पश्चात् पुनः साधनाके लिये फिर ब्राह्मणके कुलमें जन्म हो जाता है।

सांख्यशास्त्र विचार-प्रधान या ज्ञान-प्रधान दर्शन है। उसके अनुसार अव्यक्त मूल प्रकृतिसे महत्तत्त्व (बुद्धि-तत्त्व), बुद्धि-तत्त्वसे

अहंकार तत्त्व और अहंकारसे पाँच तन्मात्राएं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) उत्पन्न हुईं। ये सात (महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्च तन्मात्राएँ) प्रकृतियाँ (उत्पन्न होने और करनेवाली शक्तियाँ) कहलाती हैं। इनसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच स्थूल भूत (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी) ये सोलह विकृतियाँ या विकार (उत्पन्न होनेवाले तत्त्व) हैं। इनमेंसे पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)-को विशेष तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों, (आँख कान, नाक, जीभ, त्वचा) को सविशेष कहते हैं। ये सब विशेष और सविशेष सब पंच महाभूतोंमें स्थित हैं। सांख्यशास्त्रवाले इन्हीं चौबीस तत्त्वोंको स्वीकार करते हैं। जो तत्त्व जिससे उत्पन्न होता है उसीमें लीन भी हो जाता है अर्थात् पृथ्वीका जलमें, जलका तेजमें, तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका अहंकारमें, अहंकारका महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वका प्रकृतिमें लय हो जाता है और इन सबके साथ प्रकृति भी परम पुरुषमें लीन हो जाती है। इन २४ तत्त्वोंसे भिन्न २५ वाँ तत्त्व ही महान् आत्मा है। वह क्षेत्रमें (प्रकृति और उसके विकारोंमें) अधिष्ठाता रूपसे निवास करता है। वह अव्यक्त प्रकृति (क्षेत्र)-को जानता है। इसलिये वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है और प्राकृत शरीर-रूपी पुरोंमें अन्तर्यामी रूपसे शयन करता है, इसलिये उसे पुरुष कहते हैं। क्षेत्र अलग वस्तु है जिसे व्यक्त (दिखाई देनेवाला) कहते हैं और इसका जाननेवाला क्षेत्रज्ञ पचीसवाँ तत्त्व आत्मा है। इसी प्रकार ज्ञान भिन्न वस्तु है और ज्ञेय भिन्न है। ज्ञान तो अव्यक्त है और ज्ञेय उससे भिन्न २५ वाँ तत्त्व आत्मा है। अव्यक्त या प्रकृति ही क्षेत्र है उसीको सत्त्व (बुद्धि) और शासक भी कहा गया है। परन्तु २५ वाँ तत्त्व परमात्मा उस जड तत्त्व और ईश्वरसे रहित भिन्न है। सांख्य शास्त्रवाले तत्त्वोंकी संख्या या गिनती करते हैं और प्रकृतिको ही जगत्का कारण बताते हैं इसीलिये इस दर्शनको सांख्य दर्शन कहते हैं। इनके अनुसार परम पुरुष जो २५ वाँ तत्त्व हैं वह ज्ञान-स्वरूप है। जब वह अपने आपको यह समझ लेता है कि मैं प्रकृतिसे भिन्न हूँ उस

समय वह केवल अर्थात् विशुद्ध परब्रह्म रूपमें स्थित हो जाता है। जो इस प्रकार इस सिद्धान्तको जान जाता है अर्थात् यह समझ लेता है कि यह सारी सृष्टि कुछ नहीं है केवल २४ तत्त्वोंका मेला भर है वे उस शान्तस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। जो निर्गुण परम पुरुष परमात्मा है उसका ज्ञान प्राप्त कर चुकनेवाले महापुरुष लोग उस अविनाशी ब्रह्म भावको प्राप्त कर ही लेते हैं। सबको उत्पन्न करनेवाली प्रकृतिको सर्ग और २५ वें तत्त्व परमात्माको असर्ग कहा गया है। इनको जान लेना ही वास्तविक ज्ञान है। यही ज्ञान भली प्रकार सिद्ध हो जानेपर ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है।

ऊपर बताया गया है कि अव्यक्त (मूल प्रकृति), महत्तत्त्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये आठ प्रकृतियाँ (उत्पन्न करनेवाली शक्तियाँ) हैं और श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वाणी, हाथ, पैर, लिङ्ग और गुदा, ये विकार या विकृतियाँ (उत्पन्न होनेवाले तत्त्व) हैं। इनमेंसे पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन दसको विशेष कहते हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका) सविशेष कहलाती हैं। ये सब विशेष और सविशेष पंच महाभूतोंमें स्थित हैं। इन पन्द्रहके साथ सोलहवाँ मन है और ये ही सोलह विकार कहलाते हैं। अव्यक्त प्रकृतिसे जिस महत्तत्व (समष्टि बुद्धि) की उत्पत्ति होती है उसे प्रथम और प्राकृत सृष्टि कहते हैं। उससे उत्पन्न होनेवाला अहंकार दूसरा सर्ग है जिसे बुध्यात्मक सृष्टि कहते हैं। अहंकारसे मन उत्पन्न हुआ है जिसमें पाँचों महाभूतों और शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध गुण हैं। यह तीसरा अहंकारिक सर्ग है। मनसे पाँच सूक्ष्म महाभूत उत्पन्न होते हैं। यह चौथा सर्ग है और यह मानसी सृष्टि है। पञ्च महाभूतोंसे जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध उत्पन्न होते हैं, यह पाँचवीं सृष्टि है जिसे भौतिक सर्ग कहते हैं। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका यह छठा बहुचिन्तात्मक सर्ग है। ज्ञानेन्द्रियोंके पश्चात् कर्मेन्द्रियोंकी सृष्टि ऐन्द्रिय नामका सातवाँ सर्ग है। इसके अनन्तर ऊपर उठनेवाले प्राण,

तिरछे चलनेवाले समान, व्यान और उदानकी सृष्टि ही आठवाँ आर्जवक सर्ग है। इसके पश्चात् तिरछे चलनेवाले व्यान और उदान निम्न भागमें अपान वायुके साथ नवम आर्जवक सर्ग है। ये ९ सर्ग और २४ तत्त्व ही सांख्यके अनुसार जाननेके योग्य हैं।

इन तत्त्वोंके लीन होनेका क्रम यह है कि सम्पूर्ण पृथ्वी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश मनमें, मन अहंकारमें, अहंकार महत्तत्त्वमें और वह महतत्त्व परब्रह्म परमात्मामें लीन हो जाता है और फिर अविनाशी, निराकार, सर्वस्वरूप परब्रह्म ही एकमात्र शेष रह जाता है।

विद्या और अविद्या

जिन पदार्थों या तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती और उनका प्रलय होता है उनको अविद्या कहते हैं और चौबीस तत्त्वोंसे परे तथा सृष्टि और प्रलयसे रहित २५वें तत्त्व परम पुरुष परमात्माको विद्या कहते हैं। विद्याका अर्थ है श्रेष्ठ। इस दृष्टिसे कर्मेन्द्रियोंकी विद्या (कर्मेन्द्रियोंसे श्रेष्ठ) ज्ञानेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियोंकी विद्या पञ्च महाभूत, पंच महाभूतोंकी विद्या मन, मनकी विद्या सूक्ष्म पंच भूत या तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), सूक्ष्म पचभूतोंकी विद्या अहंकार, अहंकारकी विद्या बुद्धि; और सब तत्त्वों की विद्या अव्यक्त नामवाली परमेश्वरी प्रकृति है। इस विद्याको जान लेना ही ज्ञान की परमावधि बताई गई है।

जिस परम पुरुष परमात्माको २५ वाँ तत्त्व बताया गया है वही अव्यक्त प्रकृतिकी परम विद्या अर्थात् प्रकृतिसे श्रेष्ठ है। वह सम्पूर्ण ज्ञानका वास्तविक रूप, ज्ञेय (जाननेयोग्य) ज्ञान ही अव्यक्त है। वह परम पुरुष ज्ञेय है। ज्ञान भी अव्यक्त है और उसका ज्ञाता वह एक परम पुरुष ही है।

ज्ञानसे ब्रह्मकी प्राप्ति

जब यह जीव, तत्त्व-ज्ञानके द्वारा अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले अन्धकारको विनष्ट कर देता है तब उसके हृदयमें सनातन ब्रह्म

प्रकाशित हो उठता है। मुनियोंका कथन है कि ब्रह्म किसी क्रियात्मक यत्नसे प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिये जीवन्मुक्त पुरुषोंके पास उठना-बैठना आवश्यक होता है।

तपस्वी होनेसे ही कोई ज्ञानी नहीं हो जाता

जाजलि नामके एक बहुत बड़े तपस्वी थे जिनकी जटाओंमें पक्षियोंने घोंसले बना लिए, अण्डे दिए, उनसे बच्चे हुए और वे भी आकाशमें उड़ने लगे। जाजलि इससे अपनेको बहुत बड़ा धर्मात्मा समझने लगे और बोले—मैंने धर्म प्राप्त कर लिया। उन्हें अपनी तपस्यापर बड़ा अभिमान हो चला। उस समय आकाश-वाणी हुई कि काशीके महाज्ञानी वैश्य तुलाधारके समान भी तुम नहीं हो, वे भी ऐसी बात नहीं कह सकते। फिर तो जाजलि झल्लाकर काशी जा पहुँचे। इन्हें देखते ही तुलाधारने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कहा—आपने समुद्रके तटपर बड़ी तपस्या की। यहाँतक कि पक्षियोंने आपकी जटामें घोंसला बना लिया और आप अपने पक्षियोंके पालनके कार्यको बहुत बड़ा धर्म समझने लगे। उस समय जो आकाशवाणी हुई उसे सुनकर आप चले आ रहे हैं।

जाजलिको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने पूछा—वैश्यपुत्र! तुम तो सब प्रकारके रस, गन्ध, वनस्पति, ओषधि, मूल और फल आदि बेचा करते हो। तुम्हें यह धर्ममें निष्ठा रखनेवाली बुद्धि कैसे मिल गई और यह ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ ?

तुलाधारने समझाया कि संसारके समस्त प्राणियोंका हित करने और सबसे मित्रता स्थापित करनेवाले सनातन धर्मका रहस्य मैं जानता हूँ और वैसा ही व्यवहार करता हूँ जिससे किसीके साथ द्रोह न करना पड़े। मैं दूसरोंसे सामग्री मोल लेकर बेचता हूँ. मदिरा नहीं बेचता और कभी छल, कपट और असत्यका व्यवहार नहीं करता। जो व्यक्ति सबको अपना मित्र मानता और मन, वाणी तथा कर्मसे सबका हित करनेमें आनन्द ले वही वास्तवमें धर्मको जानता है।

मैं किसीसे अनुरोध, विरोध, द्वेष और कामना नहीं करता तथा सबको समान समझता हूँ। मैं अपनी तराजूसे सबके लिये बराबर तौलता हूँ मैं आकाशकी भाँति असंग रहकर संसारके सब कार्योंकी विचित्रता देखकर न तो दूसरोंके कार्योंकी प्रशंसा करता न निन्दा करता हूँ। मैं मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण सबको समान समझता हूँ। मेरे मनसे धन और विषय-भोगोंकी सारी इच्छा दूर हो गई है। जो पुरुष न तो दूसरेसे भयभीत होता न दूसरे प्राणी उससे भयभीत होते, जिसके मनमें न इच्छा होती न द्वेष, वह जब मन, वाणी और कर्मसे किसी प्राणीके प्रति दुर्भाव नहीं रखता और जिसके लिये कोई धर्म करना शेष नहीं रह गया है वही पुरुष निर्मल पद, ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। जो जितेन्द्रिय मनुष्य किसीसे द्वेष न रखकर श्रेष्ठ पुरुषोंके समान आचरण करता है वह केवल सदाचार पालन करनेसे ही धर्मका रहस्य जान लेता है। जो लोग दूसरोंको अभयदानका व्रत लेते हैं वे शीघ्र परब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं। अभयदानसे बढ़कर कोई महान् धर्म नहीं है। जो मनुष्य सब प्राणियोंका आत्मा हो गया है और सब प्राणियोंको अपने जैसा समझता है वह तो ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है।

जाजले ! यह आत्मा ही सबसे प्रधान तीर्थ है। आप तीर्थ-सेवनके लिये देश-विदेशमें मत भटकिए। जो मेरे बताए हुए अहिंसा, अभयदान, सब प्राणियोंमें समताका भाव रखकर आचरण करता है वह ब्रह्मका साक्षात्कार कर ही लेता है।

यम-नियमोंका पालन करनेवाले जो संन्यासी या साधक ज्ञान-मार्गका आश्रय लेकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं वे गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास, शोक-मोह, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे विचलित नहीं होते और आनन्दपूर्वक विचरण करते हैं। उन्हें ही देवता लोग ब्रह्मज्ञानी कहते हैं। वे न किसीको प्रणाम करते, न किसीको आशीर्वाद देते और न मनमें कोई कामनाएँ करते। वे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त पुरुष पवित्र और निर्मल होकर सर्वत्र विचरते रहते हैं। वे अपनी बुद्धिको

मोक्षकी प्राप्ति और सर्वस्व त्यागके लिये दृढ किए रखते हैं तथा निरन्तर ब्रह्मके ध्यानमें तत्पर होकर ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्ममें ही निवास करते हैं। जो सदा शान्त भावसे एक लँगोटी लगाकर ही मस्त रहता है, जो इस जगत्को नश्वर समझता है, जिसे समस्त प्राणियोंकी गतिका ज्ञान है, जो सब प्राणियोंका आत्मा बन गया है और जो न तो किसीसे डरता और न जिससे कोई डरते, उसीको देवता लोग ब्रह्मज्ञानी मानते हैं। जो संयमशील यति परम गति या ब्रह्मको प्राप्त करना चाहते है वे बहुत सोच विचारकर शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकारके कर्मोंका परित्याग कर देते हैं।

जो मनुष्य लोभ छोड़कर सर्वस्व त्याग करके कृपणता और असूया छोड़कर दानको ही धनका सर्वोत्तम उपयोग समझकर सत्पात्रको दान करते है उन्हें ज्ञानस्वरूप परब्रह्मका साक्षात्कार हो ही जाता है। ऐसे लोग न तो किसीपर क्रोध करते, न किसीमें दोष देखते, न अहंकार करते और न मात्सर्य रखते। उनके जन्म, कर्म और विद्या तीनों ही शुद्ध हो जाते हैं, ज्ञानके साधनोंमें उनकी निष्ठा बढ़ जाती है और वे सब प्राणियोंका हित करनेमें रस लेने लगते हैं।

आत्मतत्त्व

अविनाशी परमात्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि; अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई है और इस पृथ्वीमें ही समस्त पार्थिव संसार उत्पन्न होता है। यह पार्थिव संसार अर्थात् पार्थिव शरीरवाले प्राणियोंका जलमें क्षय होता है, फिर वे जलसे अग्निमें, अग्निसे वायुमें और वायुसे आकाशमें लीन हो जाते हैं। और फिर, सृष्टिकी उत्पत्तिके समय वे सब ऊपर बताए गए क्रमसे उत्पन्न भी हो जाते हैं। किन्तु जो ज्ञानी पुरुष हैं वे तो परब्रह्म परमात्मामें ही लीन हो जाते हैं इसलिये उनका संसारमें जन्म नहीं होता।

वह परमात्म तत्त्व न गर्म है न शीतल, न कोमल न तीक्ष्ण; न खट्टा है न कसैला, न मीठा है न तीता, उसमें न शब्द है, न गन्ध है, न रूप।

उसका स्वरूप सबसे विलक्षण और उत्कृष्ट है। कोई भी इन्द्रिय परमात्माको प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। जिस मनुष्यको अध्यात्मज्ञान नहीं है वह परमात्म तत्त्वका अनुभव कर ही नहीं सकता। इसलिये जो साधक अपनी जीभको रससे, नासिकाको गन्धसे, कानोंको शब्दसे, त्वचाको स्पर्शसे और नेत्रोंको रूपसे हटाकर अन्तर्मुखी बना लेता है वही अपने मूल स्वरूप परमात्माका साक्षात्कार कर पा सकता है। एक मात्र परब्रह्म परमात्मा ही सबका स्वरूप बना हुआ है जो सबमें रमा हुआ है, जिसमें सब रमे हुए हैं और जो सब लोकोंमें सदा बना रहनेवाला, कूटस्थ, सबका कारण अर्थात् सबको उत्पन्न करनेवाला है। वह परमात्मा ही परम कारण है। योगके द्वारा मन और इन्द्रियोंको बुद्धिके सहित समाहित कर लेनेवाला बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुष उस सर्वश्रेष्ठ ज्ञानका और आत्माका साक्षात्कार कर ही लेता है। आत्माका शरीरसे कोई सम्बन्धन हीं है। दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि, इन सत्रह तत्त्वोंको अपने शरीरसे पृथक् समझो। इन्द्रियोंसे तो आत्माको नहीं देखा जा सकता पर वह आत्मा उन सबको देखता है।

जब जीवात्मा अपने कर्मोंसे उपार्जित नवीन शरीरमें जा पहुँचता है उस समय वह अपने पहले किए हुए शुभ और अशुभ कर्मोंका फल प्राप्त करने लगता है किन्तु जैसे स्वच्छ दर्पणमें अपने मुखका प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है उसी प्रकार बुद्धि शुद्ध हो जानेपर आत्माके स्वरूपको झाँकी मिल जाती है और पुनर्जन्मसे छुटकारा मिल जाता है।

आत्मा सर्वज्ञ और सबका साक्षी है। सर्वज्ञ होनेके कारण ही वह सबको जानता है। विवेकी लोग बुद्धि-रूपी दीपकसे इन्द्रियातीत ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेते हैं और अपने चारों ओर व्याप्त दृश्य-प्रपंचको उस ज्ञानस्वरूप परमात्मामें विलीन कर देना चाहते हैं। ज्ञानके द्वारा ही उस ज्ञेय वस्तु (परमात्मा)-का ग्रहण होता है। सब शरीरोंमें जाने जा सकनेके योग्य (ज्ञेय) परमात्माको ज्ञानके द्वारा ही जाना जा सकता है। यद्यपि आत्माका साक्षात्कार नहीं होता और वह अदृश्य

रहता है फिर भी उसका अभाव नहीं होता। वह निरन्तर बना रहता है। यह जीवात्मा शरीरमें आता और उसे छोड़कर जाता दिखाई नहीं पड़ता। जैसे अमावास्या पार करनेपर चन्द्रमा नक्षत्रोंसे जा मिलता है वैसे ही जीवात्मा भी एक शरीरका त्याग करके कर्मोंके फलस्वरूप दूसरे शरीरसे जा जुटता है।

जब साधक प्रतिदिन परमात्माके स्वरूपका विचार और चिन्तन करने लगता है तब वह प्रकृतिके संसर्गसे रहित होकर २६वें तत्त्वरूपी परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है। सनातन अव्यक्त परमात्मा और पच्चीसवाँ तत्त्व जीवात्मा एक ही हैं। सांख्यवेत्ता और योगी दोनों ही जीवात्मा और परमात्माको एक दूसरेसे भिन्न नहीं मानते।

यह जीवात्मा जाग्रत अवस्थामें सब कुछ देखता है, सुषुप्ति और समाधि अवस्थामें कुछ भी नहीं देखता किन्तु परमात्मा (२६वाँ तत्त्व) तो अपने आपको, २५वें तत्त्व जीवात्माको और २४वें तत्त्व प्रकृतिको देखता रहता है। यह जीवात्मा प्राकृत शरीरमें रहकर भी अपनेको प्रकृतिसे भिन्न समझता है फिर भी वह शरीरके प्रति स्नेह, सहवास और अभिमानके कारण जब यह अनुभव नहीं कर पाता कि मैं और परमात्मा दोनों एक ही है तब वह कालके समुद्रमें डूबकर बार-बार जन्म लेता रहता है। परन्तु जब वह अपनेको और परमात्माको एक ही समझ लेता है तब काल-समुद्र और भव-समुद्रसे उसका उद्धार हो जाता है अर्थात् जब वह समझ लेता है कि मैं अन्य हूँ और यह प्राकृत शरीर अथवा अनात्म जगत् मुझसे सर्वथा भिन्न है तब वह प्रकृतिके संसर्गसे रहित होकर २६वें तत्त्व परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है और तब उसका पुर्नजन्म नहीं होता।

ज्ञान जिससे भी मिलता हो उसीसे श्रद्धापूर्वक ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए चाहे वह किसी भी जाति या धर्मका हो क्योंकि जिसके हृदयमें श्रद्धा होती है उसपर जन्म-मृत्युका प्रभाव नहीं होता।

योग-साधनासे ब्रह्मसाक्षात्कार

जब जीवात्मा काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, मद, रजोगुण, जन्म, मृत्यु, कार्पण्य, शोक, तन्द्रा, क्षुधा, तृष्णा, लज्जा, दुःख, विषाद, हर्ष आदि दोषोंसे मुक्त हो जाता है तब वह केवल माना जाता है। किन्तु ब्रह्मका साक्षात्कार न तो ज्ञान-रहित योगसे होता न योग-रहित ज्ञानसे। ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। जिस क्रियासे अपने स्वरूपका ज्ञान हो और कैवल्यपद, परमपद, निष्कल, निर्मल, सच्चिदानन्दरूप परब्रह्म-द्वारा उत्पत्ति, स्थिति और संहारका पूर्ण ज्ञान हो जाय वही वास्तविक ज्ञान है।

योगके भेद और अवस्थाएँ

योगके अनेक भेद हैं—मन्त्र-योग, लय-योग, हठ-योग, ध्यानयोग, राजयोग आदि। योगकी चार अवस्थाएँ बताई गई हैं—आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति। जो मनुष्य मात्रिका आदिसे युक्त मन्त्र-को बारह सौ बार जपता है वह अणिमा आदि सिद्धियोंका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, पर ऐसे मन्त्रयोग करनेवाले साधक अधम श्रेणीके होते हैं।

चित्तका लय अनेक प्रकारका बताया गया है। चलते-फिरते, बैठते-उठते, सोते-जागते और खाते-पीते अर्थात् सब कुछ काम करते हुए भी जब चित्त निष्कल परमात्मामें लय हुआ रहे तब वह लय-योग कहलाता है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिको अष्टाङ्ग-योग या राजयोग कहते हैं। इसके लिये महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालन्धर बन्ध, उड्डियान, मूल-बन्ध, दीर्घ प्रणव-सन्धान तथा सिद्धान्तका श्रवण आवश्यक होता है।

साथ ही बज्रोली, अमरोली और सहजोली ये तीन मुद्राएँ[1] भी साधनी पड़ती हैं। इन सभीकी साधनाके समय यमोंमें सूक्ष्म आहार और नियमोंमें अंहिसा प्रधान है। आसनोंमें चार आसन मुख्य हैं—सिद्ध, पद्म, सिंह तथा भद्र। प्रारम्भिक अभ्यासके समय आलस्य, डींग मारना, धूर्त्तता, मन्त्र आदि सिद्ध करनेकी भावना, धन-संग्रह और स्त्री-कामना आदि विघ्न आते हैं जिन्हें मिथ्या और मृगतृष्णा मानकर छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार मन शुद्ध करके, पद्मासन लगाकर, प्राणायामका अभ्यास करना चाहिए। अभ्यासकी कुटिया छोटे द्वारवाली और बिना छिद्रकी होनी चाहिए जिसे गोबरसे लीपकर ऐसा स्वच्छ सुन्दर बना दिया जाय कि उसमें खटमल, मच्छर, मकड़ी आदिका प्रवेश न हो। उसे प्रतिदिन झाड़-बुहारकर वहाँ धूप, गूगल आदिकी धूनी देनी चाहिए। बैठनेकी चौकी न बहुत ऊँची हो न नीची। उसपर कुशाका आसन, उसपर मृग-चर्म और उसपर वस्त्र बिछाकर बैठकर साधकको चाहिए कि शरीरको सीधा रखकर इष्टदेवताको प्रणाम करनेके पश्चात् दाएँ हाथके अँगूठेसे इडा (बाएँ नथने)-को दबाकर दाएँ नथने (पिंगला)-से साँस भीतर खींचे और उसे यथाशक्ति रोककर कुम्भक करे और फिर इडाके द्वारा साँसको बाहर निकाल दे। तत्पश्चात् पिंगलाके द्वारा पेटमें वायु भरे और यथाशक्ति धारण करके इडाद्वारा रेचक करे (निकाल दे। इस प्रकार जिस नथनेसे वायु बाहर निकाले उसी ओरसे भरकर फिर दूसरे नथनेसे न तो वेगसे न बहुत धीरेसे वरन् धीमी गतिसे निकालता जाय। जाँघकी प्रदक्षिणा करके जितनी देरमें एक चुटकी बजती है उतने समयको एक मात्रा कहते हैं। पहले इडासे सोलह मात्रा तक गिनकर साँस खींचे फिर ६४ मात्रातक कुम्भक करे, फिर ३२ मात्रा तक गिनकर पिंगलासे रेचन करे। इसके पश्चात् इसी क्रमसे पिंगलासे वायु खींचकर इडासे रेचन करे। प्रातः, दोपहर, संध्या और आधी रातके समय चार बारमें धीरे-धीरे ८०

---

१. इन तीनों मुद्राओंका विवरण हठयोगके अन्तमें देखिए।

कुम्भक तकका अभ्यास करे। तीन मासतक ऐसा अभ्यास करनेसे नाडी शुद्ध हो जाती है, देह हलकी जान पड़ने लगती है, भूख तीव्र हो जाती है और शरीर कृश हो जाता है। इस अवसरपर नमक, तेल, खटाई, गरम मसाला, रूखा, तीक्ष्ण भोजन, हरे साग, हींग आदि मसाले, आग तापना, अधिक चलना, प्रातःस्नान, उपवास और शरीरको क्लेश देनेवाले सब कार्य छोड़ देने चाहिएँ। अभ्यास-कालके प्रारम्भमें दूध और घीका सेवन करना उचित है। इस प्रकारके अभ्याससे वायुको धारण करनेकी शक्ति आती है। इस प्रकार वायु धारण करनेकी शक्ति आ जाय तब केवल कुम्भक सिद्ध हो जाता है और तब रेचक और पूरकको त्याग देना चाहिए।

ऐसा होनेपर योगीको कुछ भी प्राप्त करना दुर्लभ नहीं होता। इस अभ्यासके समय निकलनेवाले पसीनेको शरीरमें ही मल लेना चाहिए। वायुकी धारणा-शक्ति बढ़नेपर साधककी देह काँपने लगती है, फिर वह उछलकर धरतीपर आ जाता है। यह अभ्यास बढ़नेपर वह भूमिसे ऊपर उठने लगता है किन्तु इस प्रकारकी क्रियाएँ दिखानी नहीं चाहिएँ।

इस प्रकारकी साधनासे मल, मूत्र और निद्राका ह्रास हो जाता है, शरीरमें आँखकी कीचड़, सिनक, थूक, पसीना और मुँहकी दुर्गन्ध कुछ नहीं रह पाती। इस प्रकार भूचर सिद्ध हो जानेपर सब जीवोंपर उसका शासन हो जाता है और वह अत्यन्त सुन्दर हो जाता है। तब उसे एकान्तमें बैठकर प्रणव (ॐ) का जप करना चाहिए जिससे पूर्व जन्मके पापोंका क्षय हो जाय और अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँ।

इस क्रमसे वायु-धारणका अभ्यास करते रहनेसे घट अवस्था हो जाती है। इस अवस्थामें प्राण, अपान, मन, बुद्धि, जीव और परमात्मा सब एकमय हो जाते हैं।

इसके पश्चात् पहलेके अभ्यासका चौथाई अभ्यास ही करे। दिन या रात्रिमें केवल एक प्रहर अभ्यास करे। केवल कुम्भकका प्रयोग दिनमें एक बार करे और कुम्भकमें पहुँचकर सब इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे खींचकर अलग कर दे। यही प्रत्याहार कहलाता है। इस अभ्याससे जैसे-जैसे योगीकी चित्-शक्ति बढ़ेगी वैसे-वैसे वह दूरका सुन सकता, दृश्य देख सकता, दूर-दूर आ-जा सकता, जो कह दे वह हो जा सकता, जो रूप चाहे धारण कर सकता, अदृश्य हो जा सकता, उसके मलमूत्रके स्पर्शसे लोहा भी सोना हो जाता और वह आकाशमें स्वतन्त्र विचर सकता है। किन्तु योगीको इन सब शक्तियोंकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए क्योंकि ये सब सिद्धियाँ भी विघ्न हैं। इसीलिये योगीको संसारमें पागल, अन्धे और बहरेके समान व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकारके निरन्तर योगाभ्याससे घट अवस्था सिद्ध हो जाती है।

इस अभ्यास-योगसे ही परिचय अवस्था आरम्भ होती है। इसके लिये प्रयत्न करके प्राण-वायुके साथ अग्नि और कुण्डलिनीको साधकर ध्यान-पूर्वक सुषुम्नामें प्रविष्ट हो जाना चाहिए और वहाँके सारे अवरोध जीतकर प्राणवायुके साथ ऊपर चढ़ चलना चाहिए। उस समय साधकके मनमें पञ्च-महाभूतरूपी देवताओंकी पाँच प्रकारकी धारणा होने लगती है। इन पाँचोंको जीत लेनेपर उस योगीका शरीर इतना दृढ हो जाता है कि उसे मृत्युका भी कोई भय नहीं रहता। छह-घड़ीतक इस प्रकार प्राण-वायुको रोकते हुए वह आकाशमें उन देवताओंका ध्यान करे जो इष्ट-सिद्धि करते हैं। इस अवस्थामें सगुण रूपका ध्यान करनेपर सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जातीं और निर्गुणका ध्यान करने पर समाधि प्राप्त हो जाती है। फिर तो केवल बारह दिनतक ही समाधि सिद्ध करके योगी जीवन्मुक्त हो जाता है, जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं। ऐसा महेश्वर-पद प्राप्त कर लेनेपर वह अपनी इच्छाके अनुसार जैसा चाहे वैसा व्यवहार कर सकता है, सिद्धियोंके द्वारा सब लोकोंमें

विहार कर सकता है, देवता हो सकता है और जो रूप चाहे धारण कर सकता है।

योगके लिये उपयुक्त स्थान

ऊपर बताया जा चुका है कि योग-साधनाका स्थान न अधिक ऊँचा हो न अधिक नीचा, समतल, शुद्ध, पत्थर, अग्नि, रेतसे रहित, सब प्रकारकी ध्वनियोंसे दूर, मनके अनुकूल, ऐसा एकान्त हो जहाँ हवाका झोंका भी न लग पावे।

अनुभव और सिद्धि

योगाभ्यास करते समय प्रारम्भमें जब कोहरा, धुआँ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, स्फटिक मणि और चन्द्रमा दिखाई देने लगें तब समझना चाहिए कि सिद्धि मिलने ही वाली है।

जब योगीको पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और तेजकी अनुभूति होने लगे, तब उसका शरीर योगाग्निमय हो जाता है और तब उसे रोग, बुढ़ापा और मृत्युका भय नहीं रहता। ऐसा होनेपर योगीका शरीर हल्का, निरोग, विषय-लालसासे हीन, कान्तिमान् और सुगन्धित हो जाता है। उसका स्वर मधुर हो जाता है और उसका मल-मूत्र भी कम हो जाता है। यह योगकी पहली सिद्धि है। इसके पश्चात् जब उसे आत्म-तत्त्व या ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् जब वह दीपकके समान प्रकाशमान अपने आत्म-रूपसे ब्रह्मतत्त्वका अनुभव कर लेता है तब वह जन्म-रहित, निश्चल, समस्त तत्त्वोंसे पवित्र परमात्मदेवको जानकर सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। वह ब्रह्म हाथ-पाँवसे रहति होता हुआ भी अत्यन्त वेगवाला होकर सब कुछ ग्रहण कर सकता है, नेत्र-रहित होकर भी देख सकता, श्रोत्र-रहित होकर भी सुन सकता है। वह तो सब कुछ जान लेता है पर उसे कोई नहीं जान पा सकता। वही सबका शासक, स्वामी, आश्रय ओर कारण है। सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको

प्रकाशित करता हुआ भी वह समस्त इन्द्रियोंसे असंबद्ध है। उसके सभी ओर हाथ, पाँव, नेत्र, सिर, मुँह, नाक और कान हैं। वह सबमें रमा हुआ है। वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महान्‌से भी महान् है। वह प्राणिमात्रके अन्तःकरण-रूपी गुफामें आत्मरूपसे विद्यमान है। जो पुरुष सब संकल्प छोड़कर मन और इन्द्रियोंको स्वच्छ करके उसका दर्शन कर लेता है उसे कोई शोक नहीं सताता और जब साधक उस परमात्वदेवको आत्म-भावसे प्रत्यक्ष कर लेता है तब उसे परम शान्ति प्राप्त हो जाती है।

वह परब्रह्म ही सबका प्रकाशक है। वही इस विश्वका कर्त्ता, वेत्ता, स्वयंभू, ज्ञाता, कालका प्रेरक, निष्पाप, सब विद्याओंका केन्द्र, गुणोंका नियामक, मोक्ष, स्थिति और बन्धनका कारण, ज्योतिर्मय, विश्वरूप, अमरणधर्मा, सर्वत्र व्यापक, दृश्यमान जगत्‌का रक्षक, विश्वका नित्य शासक, कलारहित, क्रिया-शून्य, शान्त, अनिन्दनीय, निर्लेप, मोक्ष-प्राप्तिका आधार और प्रदीप्त अग्निके समान ज्योतिर्मय है। उस परमात्माको जाने बिना दुःखका कभी नाश नहीं हो सकता। श्वेताश्वतरोपनिषद्‌के अनुसार यह साधना उसीकी सफल हो पा सकती है जिसकी परमात्मामें भी सुदृढ भक्ति हो और अपने सद्‌गुरुमें भी वैसी ही सुदृढ, श्रद्धा-भक्ति हो जैसी परमात्मामें। तभी उसे ब्रह्म-साक्षात्कार हो पाता है।

योगीका आहार-विहार

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्‌भगवद्‌गीतामें कहा है—

> युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
> युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

[जो योगी उचित भोजन, उचित आचरण, उचित व्यवहार करता, उचित समयपर जागता और उचित समयपर सोता है, उसे योगके साधनमें कष्ट नहीं होता।]

श्रीमद्भगवद्गीतामें यह बात कह तो दी गई है किन्तु वहाँ यह नहीं बताया गया कि यह युक्ताहार-विहार, युक्त चेष्टा, युक्त शयन और जागरण किस प्रकार किया जाय। भीष्मजीने युधिष्ठिरके प्रश्नके उत्तरमें शन्तिपर्वके अध्याय ३०० में इसका समाधान करते हुए कहा है—

जो योगी धानकी खुद्दी और तिलकी खली खाता है तथा घी-तेलका पूर्णतः परित्याग कर देता है उसीको योग-बल प्राप्त होता है। जो योगी लम्बे समयतक केवल एक समय जौका रूखा दलिया खाता है वह शुद्ध चित्त होकर योगबल प्राप्त कर लेता है। जो योगी दूध मिला हुआ जल दिनमें एक बार पीता है, फिर पन्द्रह दिनोंमें एक बार पीता है, फिर एक महीनेमें, फिर एक ऋतुमें और फिर एक वर्षमें पीता है उसे योगशक्ति प्राप्त हो जाती है। जो योगी जीवनभर कभी मांसका स्पर्श नहीं करता और अपना अन्तःकरण शुद्ध किए रखता है वह योगी योग-शक्ति प्राप्त कर लेता है। जो योगी काम, क्रोध, सर्दी, गर्मी, वर्षा, भय, शोक, श्वास, प्रिय लगनेवाले विषय, असन्तोष, तृष्णा, स्पर्श, निद्रा तथा आलस्यको जीतकर वीतराग हो जाता है ऐसा महान् तथा उत्तम बुद्धिवाला योगी स्वाध्याय तथा ध्यानका अभ्यास करके बुद्धिके द्वारा सूक्ष्म आत्माका अर्थात् ब्रह्मका साक्षात्कार कर ही लेता है।

सावधान

किन्तु योगका मार्ग अत्यन्त दुर्गम और कष्टसाध्य है। बिना गुरुके योगका अभ्यास करनेसे अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिये कोई बिरला द्विज ही इस मार्गपर कुशलपूर्वक चल पाता है क्योंकि इसमें बहुत प्रकार-की बाधाएं भी आ खड़ी होती हैं। किन्तु जो मनुष्य अपने गुरुके द्वारा बताए हुए विधानका पालन करते हुए योगकी धारणाओंमें स्थिर रहता है वह जन्म, मृत्यु, दुःख और सुखके सब बन्धनोंसे छूट जाता है।

योगसिद्ध पुरुष चाहे तो तत्काल मुक्त होकर महान् परब्रह्मका स्वरूप प्राप्त कर सकता है अथवा अपने योग-बलसे ब्रह्मा, बिष्णु, महादेव, धर्म, कार्तिकेय, सनकादि, तमोगुण, रजोगुण, सत्त्वगुण, मूलप्रकृति, वरुण-पत्नी सिद्धिदेवी, समस्त तेज, धैर्य, तारों-सहित चन्द्रमा, विश्वेदेव, दिव्य पितर, पर्वत, समुद्र, नदी, वन, मेघ, वृक्ष, सर्प, यक्ष, दिशा, गन्धर्व, समस्त पुरुष और स्त्री, इनमेंसे जिसमें चाहे उसमें प्रवेश कर सकता है। योग-सिद्ध महात्मा पुरुष सब मनुष्योंसे ऊपर उठकर नारायण-स्वरूप हो जाता है और अपने संकल्प मात्रसे सृष्टि करने लग सकता है।

योगीके कर्त्तव्य

योगीका प्रधान कर्त्तव्य है ध्यान। यही उसका सबसे बड़ा बल है। इस ध्यानके दो रूप हैं—मनकी एकाग्रता और प्राणायाम। प्राणायामके भी दो भेद हैं—सगुण और निर्गुण। जिस प्राणायाम-में मनका सम्बन्ध सगुणके साथ रहता है वह सगुण प्राणायाम होता है। इस सगुण प्राणायाममें अपने इष्ट देवताके स्वरूपका ध्यान किया जाता है। जब मनका सम्बन्ध निर्गुणके साथ रहता है वह निर्गुण प्राणायाम कहलाता है।

मल-त्याग, मूत्र-त्याग और भोजनके समय योगका अभ्यास नहीं करना चाहिए। शेष समयमें ही तत्परतापूर्वक योगका अभ्यास करते रहना चाहिए। योगीको पवित्र होकर मनके द्वारा सब इन्द्रियों-को उनके विषयोंसे हटाकर २२ प्रकारकी प्रेरणाओं[१]के द्वारा उस

---

१. जैसे घड़ेमें जल भरा जाता है, उसी प्रकार पादांगुष्ठसे लेकर मूर्धा तक संपूर्ण शरीरमें नासिकाके छिद्रों-द्वारा वायुको खींचकर भर ले। फिर ब्रह्मरन्ध्र (मूर्धा)-से वायुको हटाकर ललाटमें स्थापित कर ले। यह प्राणवायुके प्रत्याहारका पहला स्थान है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर हटाते और रोकते हुए क्रमशः भ्रूमध्य, नेत्र, नासिकामूल, जिह्वामूल,

जराहिन आत्मस्वरूप जीवात्माको २४ तत्त्वोंसे भरी प्रकृतिसे भिन्न परम पुरुष परमात्माकी ओर प्रेरित करना चाहिए। जो योगी इस प्रकार प्राणायाम करते हैं वे ही परब्रह्म परमात्माको जानने और उसका साक्षात्कार करनेके अधिकारी होते हैं। यह व्रत वही योगी कर सकता है जिसका मन सदा परमात्माके ध्यानमें लगा रहता हो। योगीको चाहिए कि सब प्रकारकी आसक्तियाँ छोड़कर मिताहारी और जितेन्द्रिय होकर रात्रिके पहले और पिछले प्रहरमें मनको परमात्मामें एकाग्र कर ले। जब योगी मनके द्वारा अपनी सब इन्द्रियोंको और बुद्धिके द्वारा मनको स्थिर करके पत्थरकी भाँति अविचल कर ले तथा सूखे काठकी भाँति निष्कम्प और पर्वतके समान पूर्णतः स्थिर हो जाय तब समझना चाहिए कि वह योग-युक्त हो गया है। उस अवस्थामें वह न सुनता है, न सूँघता है, न स्वाद लेता है, न देखता है, न स्पर्शका अनुभव करता है, न मनमें किसी प्रकारका संकल्प करता है, न उसे किसी भी वस्तुका अभिमान रह जाता, न तनकी सुध-बुध रह जाती। उस अवस्थामें वह वायु रहित स्थानमें रक्खे हुए प्रज्वलित निश्चल दीपककी भाँति प्रतीत होने लगता है। उस समय लिङ्ग शरीरसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। ऐसे योग-कालमें योगीको उसी परमात्माका दर्शन होने लगता है जिसका साक्षात्कार कर लेनेपर मनुष्य कुछ बोल तो नहीं पाता पर मन ही मन परमानन्दमें मग्न हो जाता है। गूँगेका गुड़ गूँगै जाना। ध्याननिष्ठ योगीको अपने हृदयमें परमात्माका

कण्ठस्कूप, हृदय-मध्य, नाभिमध्य, मेढ़ (उपस्थका मूल भाग), उदर, गुदा, उरुमूल, उरुमध्य, जानु, चितिमूल, जंघामध्य, गुल्फ और पादाङ्गुष्ठ-इन स्थानोंमें वायुको ले जाकर स्थापित करे। इन अट्ठारह स्थानोंमे किए हुए प्रत्याहारोंको अठारह प्रकारकी प्रेरणा समझना चाहिए। इनके सिवा ध्यान, धारणा, समाधि तथा सत्त्वपुरुषान्यता ख्याति' (बुद्धि और पुरुष इन दोनोंकी भिन्नताका बोध) ये चार प्रेरणाएँ और हैं। ये ही सब मिलाकर बाईस प्रकारकी प्रेरणाएँ है।

उसी रूपमें साक्षात् दर्शन हो जाता है जैसे वह धूमरहित अग्नि-का पुञ्ज हो, किरण-मालाओंसे घिरा हुआ सूर्य हो अथवा आकाश-में विद्युत्के प्रकाशका पुञ्ज हो। उस अजन्मा और अमृतस्वरूप ब्रह्मका दर्शन केवल धैर्यवान् मनीषी और ब्रह्म-ज्ञानके शास्त्रोंमें निष्ठा रखनेवाले महात्मा ही कर पाते हैं। वह ब्रह्म अणुसे भी अणु और महान्से भी महान् है। सब प्राणियोंके भीतर अन्तर्यामी रूपसे स्थित होनेपर भी वह किसीको दिखाई नहीं देता। सूक्ष्म बुद्धिवाले पुरुष ही मनोमय दीपकके द्वारा उस लोक-स्रष्टा परमात्मा-का साक्षात्कार कर पा सकते हैं जो महान् अन्धकारसे परे, तमोगुण-से रहित, तमोनुद (अज्ञान-नाशक), निर्मल, अज्ञान-रहित, लिंग-हीन और अलिङ्ग नामसे प्रसिद्ध अर्थात् उपाधि-शून्य है। इस प्रकार साधना करनेवाला योगी सबके स्रष्टा और द्रष्टा, अजर, अमर, परब्रह्म परमात्माका दर्शन कर लेता है।

गोस्वामी तुलसीदासजीने इस ज्ञान-दीपका रूपक इस प्रकार व्यक्त किया है—जब साधकके हृदयमें सात्त्विक श्रद्धा उत्पन्न हो जाय, जब वह जप, तप, व्रत, यम, नियम आदि शुभ धर्म और आचरणका पालन करने लगे, आस्तिक बना रहे, सांसारिक विषयों-से विरक्त हो रहे, हृदयमें इष्टदेवपर विश्वास रक्खे, मन निर्मल रक्खे, परम धर्मका निष्काम भावसे पालन करे, मनमें सन्तोष और क्षमा बनाए रहे, हृदयमें धैर्य और मानसिक शक्ति बनाए रक्खे, प्रसन्न होकर ऐसा तत्त्वचिन्तन करता रहे कि पवित्र वैराग्य उत्पन्न हो सके, योगके द्वारा सारे कर्म समाप्त कर डाले, ममता दूर करके बुद्धिसे ज्ञान संचित करे, ज्ञानसे चित्तमें समता उत्पन्न करे, तीनों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) तथा तीनों गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) से दूर रहकर केवल तुरीय अवस्थामें पहुँचकर विज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) साध ले, तब मनके सारे विकार (मद आदि) नष्ट हो मिटते हैं, सोऽहमस्मिकी भावना उद्दीप्त हो उठती है, सारे भेद नष्ट हो जाते हैं और ऐसा आत्मानुभव होने लगता है मानो सब अविद्या,

अज्ञान और मोह दूर हो गए हों। इसके द्वारा जड-चेतनका भ्रम दूर करके वह चेतन या परम भक्त होनेका प्रयास करने लगता है। उस समय मनको अनेक प्रकारकी-सिद्धियाँ पानेके प्रलोभन मिलने लगते हैं तथा अनेक विषय इद्रियोंको लुभाने लगते हैं। उनमें यदि कहीं बुद्धि जा फँसी तो सारा ज्ञान और आत्मानुभव समाप्त हो जाता है और जीव फिर संसारके चक्करमें आ फँसता है। इसलिये योगीको किसी भी अवस्थामें किसी प्रलोभनमें नहीं पड़ना चाहिए।

युक्त आचरण

योगीके लिये युक्तचेष्टस्य कर्मसु होना भी आवश्यक बतलाया गया है अर्थात् उसका आचरण भी ठीक होना चाहिए। योगीको चाहिए कि वह तप, इन्द्रिय-संयम, सत्य-भाषण, मनोनिग्रह तथा हर्ष और विषादमें समता धारण करे, किसीको ऐसी बात न कहे जिससे उसे कष्ट पहुँचे, उसके मनमें उद्वेग हो और अमंगल प्रतीत हो। यहाँतक कि यदि कोई उसे कठोर वचन भी कह दे तो वह शान्त रहे, कोई क्रोध भी करे तो प्रसन्न ही रहे, निंदा करनेवाले और अप्रिय बात कहनेवालेकी बात सुनकर मनमें कोई विकार और दोष न आने दे तथा प्रसन्न रहे, दूसरोंके दोष न देखे, कोई गाली दे या मार भी दे तो क्षमा कर दे क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंका कथन है कि क्षमा, सत्य, सरलता और दया ही मनुष्यके श्रेष्ठ गुण हैं। सब शास्त्र यही कहते हैं कि सत्य-भाषण ही वेदका सार है, इन्द्रिय-संयम ही सत्य-भाषणका सार है और इन्द्रिय-संयमका ही फल है ब्रह्म-साक्षात्कार क्योंकि ब्रह्मवेत्ता और मुनि वही है जो वाणीका वेग, मन और क्रोधका वेग, तृष्णाका वेग, भूखका वेग और कामका वेग सह ले।

जो मनुष्य किसीकी कठोर बात सुनकर बदलेमें कठोर बात नहीं कहता, चोट खाकर भी धैर्यके कारण न तो उस चोट पहुँचाने-वालेको उलटकर मारता न उसका अहित चाहता उस महात्मासे

मिलनेके लिये देवता भी तरसते रहते हैं। क्षमाके गुण साध लेनेवाला पुरुष परम सिद्ध हो जाता है।

उपनिषद्में भी कहा गया है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि
न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्॥

[मैं यह रहस्यकी बात तुम्हें बताए देता हूँ कि मनुष्य-शरीरसे बढ़कर कोई देह नहीं है।] उसका कारण यही है कि मनुष्य-शरीर ही साधन-धाम है। केवल मनुष्य-शरीरके द्वारा ही बड़ीसे बड़ी सिद्धि यहाँतक कि ब्रह्मको भी प्राप्त किया जा सकता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी इसीलिये कहा है—

हरि! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन-धाम, बिबुध-दुरलभ तनु मोहिं कृपा करि दीन्हों॥

यह मानव-शरीर साधन-धाम और देव-दुर्लभ है क्योंकि देव-शरीर तो भोग-धाम है। अतः, पापोंसे मुक्त, निर्मल अन्तःकरण-वाला धीर पुरुष धैर्य-पूर्वक समय आनेपर सिद्धि प्राप्त कर ही लेता है। जिसकी वाणी और मन सुरक्षित होकर सदा परमात्मामें लगे रहते हैं वह पुरुष वेदाध्ययन, तप और त्याग सबका फल एक साथ पा लेता है। जिस पुरुषने काम (उपस्थ), भूख (उदर), दोनों हाथ और वाणी, ये चारों द्वार सुरक्षित कर लिए हैं वही वास्तवमें धर्मको जानता है। जो मनुष्य सत्य, इन्द्रिय-संयम, सरलता, दया, धैर्य और क्षमा गुणका पालन करता है, सदा स्वाध्याय करता रहता है, किसी दूसरेकी कोई वस्तु लेना नहीं चाहता और एकान्तमें निवास करता है वह ब्रह्मको प्राप्त कर ही लेता है। जो मनुष्य सदा सत्पुरुषोंका संग करता है, उन्हींके साथ उठता-बैठता है, क्षण-भंगुर भोगोंकी ओर देखता भी नहीं और भली-भाँति जान लेता है कि सब विषय नश्वर हैं, उसकी समानता कोई नहीं कर सकता। जब वह अपने हृदयमें रहनेवाले अन्तर्यामी दोषमुक्त आत्माका

साक्षात्कार करने लगता है तब वह सन्मार्गगामी हो जाता है और उसको देखकर देवता भी प्रसन्न हो उठते हैं क्योंकि देवता उन्हींसे सम्बन्ध रखते हैं जो सत्यभाषी, कृतज्ञ और धर्मपरायण होते हैं। व्यर्थ बोलनेकी अपेक्षा मौन रहना, सत्य बोलना, प्रिय बोलना और धर्म-संमत बोलना, ये चार ही वाणीकी विशेषताएँ हैं।

योग और योगी

योगी पुरुष अपने योग-बलसे राग, मोह, स्नेह, काम और क्रोध इन पाँच दोषोंको नष्ट करके परम पद या ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। वह लोभसे उत्पन्न होनेवाले सब बन्धन तोड़कर अत्यन्त कल्याणमय परमार्थका मार्ग ग्रहण कर लेता है। योग-बलसे सम्पन्न योगी सब प्रकारके बन्धनोंसे छुटकारा पा जाता है और योग-बल बढ़ जानेसे वह अत्यन्त तीव्र तेजसे सम्पन्न और अत्यन्त शक्तिशाली होकर अपने मनके सारे राग आदि दोष नष्ट कर डालता है। योगका महान् बल पाकर योगी किसी विषयके प्रवाहमें नहीं बहता। योग-शक्तिसे सम्पन्न पुरुषमें ऐसा सामर्थ्य आ जाता है कि वह चाहे तो प्रजा-पति ऋषि और पञ्च भूतोंमें प्रवेश कर सकता है। उसपर यम और मृत्युका भी शासन नहीं चलता। वह अपने चाहे जितने हज़ार रूप बनाकर इस पृथ्वीपर विचर सकता है और उन शरीरोंके-द्वारा अनेक विषयोंका सेवन और उग्र तपस्या करते हुए सभी रूपोंको अपनेमें समेट ले सकता है। उसमें अपनेको मुक्त करनेकी शक्ति आ जाती है। इस प्रकार जो योगी अपना मन परमात्माके ध्यानमें लगाए रखता है वह निःसन्देह ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है क्योंकि जब वह योग-युक्त होकर आत्माको परमात्मामें स्थिर कर लेता है उस समय उसका आत्मा अत्यन्त निर्मल तथा अचल सूर्यके समान तेजस्वी हो जाता है। योगके द्वारा परमात्म-तत्त्वको जान लेनेवाला योगी समाधिके द्वारा अपना मन परमात्मामें लगाकर ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। जो योगी धारणाओंमें एकाग्रचित हो जाता है वह अत्यन्त

शीघ्र परमपद या ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। जो योगी समाधिके द्वारा आत्माको परमात्मामें स्थिर करके अचल हो जाता है वह अपने समस्त पाप नष्ट करके अविनाशी ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है।

योगके महान् व्रतमें एकाग्रचित्त रहनेवाला जो योगी नाभि, कण्ठ, मस्तक, हृदय, वक्षस्थल, पार्श्वभाग, नेत्र, कान और नासिका आदि स्थानोंमें धारणाके द्वारा सूक्ष्म आत्माको परमात्माके साथ भली भाँति जोड़ देता है वह अपने शुभ और अशुभ सब कर्मोंको भस्म करके स्वयं ब्रह्म हो जाता है।

राजयोग

महर्षि पतंजलिने योगकी परिभाषा करते हुए बताया है—योगश्चित्त-वृत्ति-निरोधः। यह चित्तवृत्तिका विरोध या मनको इधर उधर भटकनेसे रोक देनेका योग दो प्रकारका होता है—राजयोग और हठयोग। पतंजलिने अपने पातंजल योगदर्शनमें राजयोगकी चर्चा की है और तन्त्रशास्त्रमें हठयोग का वर्णन किया गया है।

श्रीमद्भागवतमें ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग नामके तीन योगोंका विवरण देकर बताया गया है कि इनका अवलम्बन करनेसे जीव बड़ी सरलतासे संसारके बन्धनसे मुक्त हो सकता है। इन तीनों मार्गोंमेंसे ज्ञानयोगका आश्रय वे लोग लेते है जिन्होंने अपने कर्मोंके फलमें सब आसक्ति छोड़ दी है। कर्मयोगका आश्रय वे लोग लेते हैं जो सांसारिक कर्मोंमें लगे हुए हैं या लगे रहना चाहते हैं। जो भगवत्कथा सुनने और भगवान्‌की भक्ति करनेमें ही मन लगाए हुए हैं वे भक्तियोगके अधिकारी हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें निष्काम कर्म-योगका उपदेश किया है इसीलिये गीताको कर्मयोगशास्त्र कहते हैं। इसमें जितने प्रकारके योगोंका वर्णन है उनमें मुख्य रूपसे सांख्ययोग ही प्रधान है। पहले बताया जा चुका है कि कपिलके सांख्य-दर्शन और पतंजलिके योग-

दर्शनमें इतना ही अन्तर है कि कपिलने ईश्वरको तत्त्वोंमें नहीं गिना और गिनना भी नहीं चाहिए क्योंकि कपिलका तो कहना है कि प्रत्येक व्यक्तिको केवल यही जान लेना चाहिए कि ये २४ तत्त्व नश्वर हैं जिनसे संसार और हम लोग बने हुए हैं। इसलिये इनसे बने हुए शरीरों और पदार्थोंमें आसक्ति नहीं करनी चाहिए। जब यह आसक्ति मिट जायगी तो मनुष्य स्वयं परमात्म या ब्रह्म बन जायगा। इसीलिये ईश्वरको नहीं गिनाया गया और गिनाया भी नहीं चाहिए था। किन्तु पतंजलिने २५ तत्त्वोंके अतिरिक्त २६वाँ तत्त्व ईश्वर माना है जो पातंजलदर्शनके व्यास-भाष्यके अनुसार प्रकृति और पुरुषसे भिन्न स्वतन्त्र पुरुष विशेष है। इसीलिये सांख्य दर्शनसे इसका भेद बताते हुए इसे सेश्वर सांख्य कहते हैं। इतना ही नहीं, यदि पातंजल दर्शनसे ईश्वर-तत्त्व और चित्त-वृत्ति-निरोध-की बात हटा दी जाय तो सांख्य और योगमें कोई अन्तर ही न रह जाय। योगदर्शनका ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक और आश्रय-से रहित है। वह सर्वज्ञ और ज्ञानका चरमोत्कर्ष है।

अविद्या (मिथ्या ज्ञान), अस्मिता (विभिन्न वस्तुओंमें भेदकी प्रतीति), राग, द्वेष, और अभिनिवेश (मृत्युका भय)—ये पाँच क्लेश हैं। कर्म दो प्रकारके होते हैं—सुकृत और दुष्कृत (पाप और पुण्य)। विपाकका अर्थ है कर्मका फल। यह कर्मका फल तीन प्रकारका होता है—जन्म, आयु और भोग। आश्रयका अर्थ है विपाक (कर्मफल)-के अनुरूप संस्कार। सामान्य पुरुषमें ही ये सब (क्लेश, कर्म, विपाक और आश्रय) विद्यमान रहते हैं, मुक्त पुरुषमें नहीं रहते।

ईश्वर एक, अद्वितीय, भूत, भविष्य और वर्तमान कालोंसे परे और सब पूर्व गुरुओंका भी गुरु है। उस ईश्वरमें ज्ञान अपनी चरम सीमातक पहुँचा हुआ है।

वाचस्पति मिश्रके अनुसार योगदर्शनमें योगके स्वरूप, साधन, योगका फल, विभूति और योगके परम फल कैवल्यका निरूपण है।

इस योग-शास्त्रके चार पर्व हैं—(१) हेय, अर्थात् संसार दुःखमय है इसलिये हेय है। (२) इस हेयत्वका कारण प्रकृति और पुरुषका संयोग है। (३) इस हेयका नाश किया जा सकता है जिसे हान भी कहते हैं। (४) इस हान अर्थात् संसारके बन्धनसे मुक्त होनेका उपाय है प्रकृति और पुरुषका भेद समझ लेना। यह प्रकृति-पुरुषका भेद समझ लेना ही मोक्ष प्राप्त करनेका अद्वितीय मार्ग है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, चित्त-वृत्तियोंके निरोधको योग कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है—संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। संप्रज्ञातमें चित्त-वृत्ति किसी रूपपर अवलम्बित होती है और असंप्रज्ञात अवस्थामें चित्तकी कोई भी वृत्ति नहीं रह जाती, केवल संस्कार मात्र रह जाता है। संप्रज्ञात योग सिद्ध होनेके पश्चात् ही असंप्रज्ञात योग होता है जो परम वैराग्यसे सम्भव होता है और जिसे योगकी चरम भूमि बताया गया है। असंप्रज्ञात योग सिद्ध होनेसे निर्वाण या मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

चित्तवृत्तियाँ इतनी अधिक है कि उनकी गणना नहीं की जा सकती। इसीलिये पतंजलिने सबको समेटकर पाँच ही प्रकारकी वृत्तियाँ गिनाई हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इन्द्रियोंके द्वारा सब बाहरी वस्तुओंके साथ चित्तका सम्बन्ध होनेसे उनके विशेष ज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमानसे अनुमान प्रमाण और शास्त्रोंके द्वारा निर्दिष्ट विषयको आगम प्रमाण मानते हैं।

किसी वस्तुको कुछ दूसरा समझ बैठना विपर्यय या भ्रम-ज्ञान है जैसे रस्सीको साँप समझ बैठना। इसीके अन्तर्गत संशय भी है जहाँ यह निश्चय नहीं होता कि यह वास्तवमें क्या है।

जो वस्तु नहीं है या नहीं होती है, असत् है, उसका भी शब्द-ज्ञान उत्पन्न हो जाना विकल्प वृत्ति है जैसे यह कहना कि यह आकाश-कुसुम है या मनुष्यका सींग है।

जिस वृत्तिका अभाव होना ही प्रकट हो वही निद्रा है। अतः, निद्रा एक अनुभव विशेष है क्योंकि जाग्रत् अवस्थामें उसका स्मरण हो ही आता है।

किसी अनुभूत विषयका स्मरण हो आना ही स्मृति कहलाता है। यह स्मृति दो प्रकारकी होती है—भावित स्मृति (कल्पित विषयका स्मरण) और अभावित स्मृति, (जिसके स्मरणका विषय पहलेके समान कल्पित न हो)। इन्हीं पाँच प्रकारकी वृत्तियोंका निरोध करना ही चित्त-वृत्ति-निरोध है।

चित्तवृत्ति-निरोधके उपाय

चित्त-वृत्तियोंके निरोधके निम्नांकित उपाय बताए गए हैं—(१) अभ्यास और वैराग्यसे, (२) ईश्वरकी आराधना और उनसे अभीष्ट सिद्धिकी प्रार्थनासे, (३) प्राणायामसे, (४) किसी विशेष इन्द्रियमें धारणाके द्वारा गन्ध आदिका साक्षात्कार करके। योगी-लोग नासिकाके अग्रभाग और जिह्वा आदिमें धारणा करके अलौकिक गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्दका अनुभव करते हैं, (५) अपने हृदय-कमलमें धारणा करनेसे जिस शोकरहित ज्योतिका प्रकाश होता है उसके द्वारा, (५) वीतराग महात्माओंका ध्यान करनेसे, (७) स्वप्न या निद्रामें किसी मूर्ति या सात्त्विक वृत्तिका आश्रय लेकर इच्छानुसार किसी भी एक विषयपर ध्यान जमा लेनेसे।

साधनाकी अवस्थामें योगीको बहुत-सी अलौकिक शक्तियोंका अनुभव होने लगता है जिन्हें विभूति या सिद्धि कहते हैं। पातंजल दर्शनके तृतीय पादमें इन सब सिद्धियोंका सविस्तर उल्लेख है किन्तु ये सब सिद्धियाँ योग-साधनामें विघ्न या अन्तराय ही माननी चाहिएँ। जिस विषयसे भी चित्तकी एकाग्रतामें बाधा पड़ती हो उसे अन्तराय कहते हैं।

अष्टांग योग

पातंजल योगमें अष्टांग योग या योगके आठ अंग बताए गए हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा,

ध्यान, समाधि। इनमेंसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार तो बहिरंग है और धारणा, ध्यान, समाधि ये तीन अन्तरंग हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार-रूपी बहिरंग साधनके पश्चात् अन्तरंग साधन करना चाहिए। सब विषयोंसे मन हटाकर अपने नाभि-चक्र, हृत्पद्म, मस्तक-ज्योति, नासिकाके अग्रभाग अथवा जिह्वाके अग्रभाग आदि किसी अन्तर विषयमें या देवमूर्ति आदि किसी बहिर्विषयमें चित्त स्थिर करनेको धारणा कहते हैं।

धारणा सिद्ध हो जानेपर अन्य सब विषयोंसे चित्तको हटाकर धारणाके लिये जिस विषयमें चित्त स्थिर किया गया हो उस विषयके रूपमें बार-बार निरन्तर चित्तवृत्ति लगानेको ध्यान कहते हैं।

ध्यानके पश्चात् समाधि-अवस्था होती है। जब चित्त-वृत्ति रहते हुए भी नहींके समान हो जाती है और ध्यान परिपक्व होकर ध्येयमें ही लीन हो जाता है तब समाधि अवस्था कहलाती है। यह समाधि दो प्रकारकी होती है—सबीज और निर्बीज। सबीज समाधिमें चित्तके आलम्बनका अर्थात् ध्येय वस्तुका भली प्रकार ज्ञान बना रहता है। निर्बीज समाधिमें सब प्रकारका ज्ञान निरुद्ध हो जाता है। पातंजल दर्शनके अनुसार यह निर्बीज समाधि ही कैवल्य-सिद्धि या शुद्ध मुक्ति प्रदान करती है। इसी अवस्थामें योगी ब्रह्ममें अवस्थित हो जाता है। ये आठ अंग सिद्ध हो जानेसे अनेक प्रकारकी क्षमताएँ, सन्तोष, अणिमा आदि सिद्धियाँ, ऐश्वर्य तथा कैवल्यमुक्ति प्राप्त हो जाती है।

अष्टाङ्ग योगकी व्याख्या

ऊपर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि जो योगके आठ अंग बताए गए हैं, इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय (दूसरेकी वस्तु न लेना), ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धैर्य, अल्पाहार और पवित्रता तो दस यम हैं।

तप, सन्तोष, आस्तिक्य (ईश्वरमें विश्वास), दान, ईश्वर-पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, लज्जा, (अपनी प्रशंसा सुननेमें लज्जा), मति, (वेद–विहित कर्ममें श्रद्धा), जप (वाचिक और मानसिक) और व्रत ये दस नियम हैं। वाचिक जपसे मानसिक जपका फल करोड़ गुणा होता है।

आसन

आठ आसन हैं—स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिद्ध, भद्र, मुक्त और मयूर। पैरके दोनों तलवोंको दोनों जानुओंके बीचमें बराबर रखके सीधा तनकर बैठना स्वस्तिकासन कहा जाता है। पीठकी दाहिनी तरफ दाहिना गुल्फ और बाईं तरफ़ बायाँ गुल्फ जोड़कर गोमुखके समान बैठना गोमुखासन है। दोनों जंघाओंपर पैरोंके तलवोंको रखकर दोनों हाथोंसे दोनों पैरोंके अँगूठोंको उलटी रीतिसे पकड़कर रखना सर्वमान्य पद्मासन है। एक जाँघको एक पैरसे मिलाकर दूसरी जाँघको दूसरे पैरसे मिलाकर बैठना वीरासन कहलाता है। दाहिने गुल्फके साथ बाँएँ गुल्फको और बाएँ गुल्फके साथ दाँएँ गुल्फको लगाकर बैठना, दोनों हाथोंको दोनों जानुओंपर रखकर, दोनों हाथोंकी उँगलियोंको फैलाए रखना, फिर भली प्रकार एकाग्र होकर प्रसन्न मुखसे नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाए रखना सिद्धासन कहलाता है। योगीजन सदा इसकी प्रशंसा करते हैं। गुदाको बाँएँ पैरसे दबाकर, दाँएँ पैरको लिंगके ऊपर लगाकर फिर भौहोंके मध्यमें दृष्टि जमाना भी सिद्धासन कहलाता है। लिंगके नीचेकी सीवनपर दोनों गुल्फोंको जमाकर रखने और हाथोंसे पैरोंके दोनों पाँवोंको दृढ़तापूर्वक पकड़कर निश्चिततापूर्वक बैठनेसे भद्रासन होता है जिससे सब रोगोंको नाश हो जाता है। सूक्ष्म सीवनको दाँईं तरफके गुल्फसे दबाकर उस दाँएँ गुल्फको दबाए रखना मुक्तासन कहलाता है। हाथकी दोनों हथेलियोंको ज़मीनपर जमाकर रखना और दोनों कोहनियोंको नाभिके दोनों तरफ़ दबाकर बैठना फिर माथे और पैरोंको ऊपर उठाकर लकड़ीके समान आकाशमें

टाँगे रखना मयूरासन है। इस आसनको साधनेसे सब पापोंका नाश हो जाता है। इन आसनोंसे शरीरके भीतर रहनेवाले समस्त रोग तो नष्ट हो ही जाते हैं, विषका भी शमन हो जाता है। जो अशक्त हो उसे प्रत्येक आसनको सुखपूर्वक धारण कर सकनेका अभ्यास करना चाहिए। जिसने आसन जीत लिया उसने मानो तीनों लोक जीत लिए। यम तथा नियमोंसे भली प्रकार युक्त होनेके पश्चात् पुरुषको प्राणायामका अभ्यास करना चाहिए, इससे नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं।

नाडियाँ

सबका शरीर ९६ अंगुल लम्बा होता है। शरीरकी अपेक्षा प्राण-वायु अधिक होता है। जो साधक योगाभ्यासके द्वारा शरीरमें रहनेवाले प्राणको अग्निमें समा ले (लय कर ले) वह उत्तम योगी होता है। शरीरमें तपाए हुए स्वर्णकी-सी चमकवाला अग्निका एक त्रिकोण स्थान होता है जिसमें बहुत पतली आगकी लौ रहती है। गुदासे दो अंगुल ऊपर और लिंगसे दो अंगुल नीचे मानव-शरीरका मध्य भाग होता है। यह मध्य भाग ९ अंगुल ऊँचा, चार अंगुल चौड़ा अंडाकार होता है। इसके बीचमें बारह अरोंवाला नाभि-चक्र है जिसके बीच-जीव भी पुण्य-पापसे प्रेरित होकर चक्कर लगाता रहता है और उसीके साथ प्राण-वायु भी वहीं घूमता रहता है। इस देहमें यह जीव प्राणपर ही आरूढ हुआ रहता है। इस नाभिके बगलमें नीचे ऊपर आठ प्रकारसे कुण्डल मारे हुए कुण्डलिनी स्थित है। योगा-भ्यासके समय वायु (साँस)-के आवागमनको नियन्त्रित करके जल तथा अन्न आदिको कंधोंके बगलमें चारों ओरसे रोकनेपर मुखसे लेकर ब्रह्मरन्ध्र, अपान तथा अग्निके द्वारा यह कुण्डलिनी प्रकाशित होती है। हृदयाकाश या दहरकमल अत्यन्त उज्वल और ज्ञान-रूप है। बीचमें अविस्थत चौदह मुख्य नाडियाँ कुण्ड-लिनीका आश्रय लिए हुए हैं। ये नाडियाँ हैं—इडा, पिंगला, सुषुम्ना, सरस्वती, वारुणी, ऊषा, हस्तजिह्वा, यशस्विनी, विशोदरी, कुहू,

शंखिनी, पयस्विनी, अलम्बुषा और गान्धारी। इनमेंसे सुषुम्ना ही विश्वको धारण करती और मोक्षकी ओर ले जाती है। यह नाडी गुदाके पिछले भागमें वीणाके दंडके समान मस्तकमें ब्रह्मरन्ध्र-तक पहुँची होती है। वह अत्यन्त स्पष्ट, सूक्ष्म और विष्णुदेवकी शक्ति है।

सुषुम्नाकी बाईं ओर इडा नाडी और दाईं ओर पिंगला है। इडामें चन्द्र चलता है और पिंगलामें सूर्य। इनमेंसे चन्द्र तो तमोगुणी और अमृतका भाग है और सूर्य रजोगुणी तथा विषका भाग है। ये दोनों कालको धारण करते हैं अर्थात् आयुका नियमन करते हैं। सुषुम्ना कालको भोगनेवाली है। सुषुम्नाके पीछे सरस्वती नाडी और बगलमें कुहू नाडी है। यशस्विनी और कुहूके बीच वारुणी नाडी, ऊषा और सरस्वतीके बीच पयस्विनी है, गान्धारी और सरस्वतीके बीच यशस्विनी, कन्दके मध्यमें अलम्बुषा और सुषुम्नाके पूर्वमें लिंगतक कुहू नाड़ी है। कुण्डलिनीके नीचे और ऊपर चारों ओर वारुणी नाडी गई है। यशस्विनी और सौम्या नाडियाँ पैरके अँगूठेतक गई हैं। इडा नाडी ऊपरकी ओर चलती हुई बाएँ नथने तक और पिंगला दाएँ नथनेतक पहुँचती है। इडाके पीछे ऊषा नाडी बाईं आँखतक जाती है। बाएँ कानतक यशस्विनी नाडी जाती है। जीभके ऊपरके भागतक सरस्वती, कानके ऊपरतक जाती हुई शंखिनी और इडाके पिछले भागमें नेत्रतक गान्धारी जाती है। गुदाके मूलसे नीचे ऊँचे जानेवाली अलम्बुषा नाडी है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक नाडियाँ है।

दस वायु

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय नामक दस वायु सब नाडियोंमें फिरते हैं। मुख, नाक, गले, नाभि, पैरके दोनों अँगूठों और कुण्डलिनीके नीचे-ऊपरके भागोंमें प्राण-वायु फिरता है। गुदा, लिङ्ग, जानु, नितम्ब, पेट, वृषण,

कमर, जङ्घा, नाभि और अग्नि-संस्थानमें अपान फिरता है। समस्त संधि-स्थानोंमें उदान रहता है। पैर, हाथ और अन्य सब अवयवोंमें सर्वत्र समान व्याप्त रहता है। खाए हुए अन्नके रसको शरीरकी अग्निके साथ व्याप्त करके समान वायु बहत्तर हज़ार नाडियोंके मार्गमें फिरा करता है और अग्निके साथ सांगोपांग शरीरमें व्याप्त रहता है। नाग आदि पाँच वायु चर्म, अस्थि आदिमें रहते हैं। पेटमें रहनेवाला प्राण-वायु पेटमें रहनेवाले जल और अन्नको रस आदिके रूपमें ले जाकर अलग-अलग करता है। अग्निके ऊपर पानी रख-कर, इस पानीके ऊपर अन्न आदि रखकर, स्वयं अपानके पास पहुँचकर वायु इसी अपानके साथ देह-स्थित अग्निकी तरफ़ जाता है। अपान वायुसे रक्षित अग्नि धीमे-धीमे देहके मध्य प्रज्ज्वलित रहता है। यह अग्नि अपनी ज्वाला और प्राण-वायु-द्वारा कोठेके बीच रहनेवाले पानीको खूब गर्म करता है और फिर प्राणवायु, अग्नि-युक्त पानी-द्वारा उस पानीके ऊपर रक्खे शाक-दाल-सहित अन्नको पकाता (पचाता) और उसमेंसे पसीना, मूत्र, रक्त, वीर्य, रस, विष्ठा आदिको अलग-अलग करता है। फिर समान वायुके साथ सब नाडियोंमें रसको फैलाता हुआ प्राण-वायु, श्वासके रूपमें शरीरमें फिरता है। शरीरके पोलाईवाले नौ छिद्रों-द्वारा वायु विष्ठा, मूत्र आदिको बाहर निकालता है। श्वासोच्छ्वास और खाँसी ही प्राण-का कर्म कहा जाता है। विष्ठा-मूत्रका बाहर निकालना अपान वायु-का कार्य है। छोड़ना और ग्रहण करना आदि चेष्टाएँ व्यानके काम हैं। शरीरको ऊपरकी तरफ़ ले जाना आदि उदानका काम है। शरीरको पोषण देना आदि समानका काम है। डकार आदि नागका काम है। आँखकी पलक झपकाना कूर्मका काम है, । भूख लगाना कृकरका काम है। आलस्य देवदत्तका काम है और कफ आदि उत्पन्न करना धनंजयका काम है। इस प्रकार नाडी-स्थान, वायु-स्थान तथा उनके कर्मोंको भली प्रकार समझकर नाडीकी शुद्धि कर लेनी चाहिए।

योगीका कर्त्तव्य

योगीको यम-नियमका पालन करते हुए सत्य व्यवहार करना, क्रोधको जीतना, गुरुमें श्रद्धा करके सेवा करना, अपनी साधनाके लिये किसी सुन्दर एकान्त नदी-तटपर फल-मूलसे युक्त स्थानपर न तो बहुत ऊँचा न बहुत नीचा, न बहुत लम्बा, न बहुत चौड़ा, न बहुत द्वारवाला छोटा-सा कुटीर बनाना चाहिए जो गोबरसे लिपा-पुता और पूर्णतः सुरक्षित हो। वहीं वेदान्तका श्रवण करते हुए योगाभ्यास करना चाहिए। इष्टदेवको प्रणाम करके ऊपर बताए हुए आसनपर पूर्वं या उत्तरकी ओर मुख करके बैठकर ग्रीवा, मस्तक, सीधे तान-कर नाकके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर दोनों भौहोंके बीच चन्द्रमण्डल-को देखते हुए दोनों नेत्रोंसे अमृतपान करना चाहिए। फिर बारह मात्रा गिनकर इडा नाडीके द्वारा वायु खींचकर उसे उदरके भीतर अवस्थित ज्वालामय रेफ और बिन्दु सहित अग्नि-मण्डलसे जोड़कर ध्यान करना चाहिए और पिङ्गला नाडीके द्वारा इस वायुको बाहर निकालना चाहिए। फिर पिंगलासे वायु भरकर कुम्भक करके अर्थात् प्राण-वायु भीतर रोककर इडासे बाहर निकालना चाहिए। इस प्रकार सात, तीन या चार महीनोंतक तीनों संध्या समय (प्रातः दोपहर, सायं, तीन-तीन या चार-चार बार और उनके बीचमें छह बार अभ्यास करके नाडी शुद्ध कर लेनी चाहिए। इससे शरीर हल्का होता है, कान्ति बढ़ती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है और अनाहत नाद सुनाई पड़ने लगता है।

प्राणायाम

प्राण और अपानको एकत्र कर देना ही प्राणायाम है। यह प्राणायाम प्रणव (ॐ) रूप ही है। पद्मासन अथवा अन्य किसी भी आसनसे बैठकर भीतर साँस लेते हुए अकार मूर्त्ति गायत्रीका ध्यान करना चाहिए कि वह रूपवती बाला देवी चन्द्रमण्डलकी चाँदनीसे लिपटी हुई हंसपर बैठी हुई हाथमें दण्ड धारण किए हुए है। इसके पश्चात् कुम्भकके समय उकारमूर्ति युवती सावित्रीका

ध्यान करना चाहिए कि वह श्वेत अंगोंवाली गरुडपर बैठी हुई है और उसके हाथमें चक्र है। फिर रेचकके समय मकारमूर्ति वृद्धा सरस्वतीका ध्यान करना चाहिए कि वह साँवले अंगोंवाली वृषभपर बैठी है और उसके हाथमें त्रिशूल है। इस प्रकार अ, उ, म तीन वर्णोंका ओम् ही सबका कारण एकाक्षर परम ज्योति है। इस प्रकार ध्यान करते हुए इडा नाडी-द्वारा सोलह मात्रामें बाहरका वायु भीतर खींचना, फिर चौसठ मात्रामें उकारका ध्यान करते हुए कुम्भक करना और उसके पश्चात् मकार-मूर्तिका ध्यान करते हुए ३२ मात्राओंमें उस भरे हुए वायुको पिंगला नाडी-द्वारा बाहर निकालना चाहिए। इसी क्रमसे उलट-उलटकर बारम्बार अभ्यास करना चाहिए।

आसन दृढ हो जानेपर योगीको जितेन्द्रिय बनकर हितकारी मिताहारी रहकर सुषुम्ना नाडीमें स्थित मल सूखनेके लिये यह अभ्यास करना चाहिए कि पद्मासन लगाकर चन्द्र नाडीसे वायु भरे, यथाशक्ति कुम्भक करे और चन्द्रनाडीसे रेचक करे। फिर जिस नाडीसे रेचक करे उसीसे पूरक करके कुम्भक करे अर्थात् इडासे प्राण-वायु भरकर कुम्भक करके पिंगला नाडीसे रेचक करके फिर पिंगलासे पूरक करके कुम्भक करते हुए इडासे रेचक करे। इस प्रकार तीन महीनेमें योगीकी नाडी शुद्ध हो जाती है। प्रातः, दोपहर, सन्ध्या और मध्य-रात्रि चार बार धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाते हुए कुम्भक करना चाहिए। इस अभ्यासमें कँपकँपी आती है, पसीना छूटता है और योगी पद्मासनपर ऊपर उठने लगता है। प्राणायाम-के परिश्रमसे उत्पन्न पसीनेको शरीरमें ही मल लेनेसे साधकका शरीर हल्का और दृढ हो जाता है। इस अभ्यासके प्रारम्भमें घी-दूधका सेवन तथा ऊपर बताए हुए आहारका सेवन ही उचित है।

प्राण-वायुको धीरे-धीरे साधना चाहिए, हड़बड़ी नहीं करनी चाहिए। जिसमें सुविधा हो उसी ढंगसे रेचक और कुम्भक करना

चाहिए, बलपूर्वक हठपूर्वक नहीं। ठीक प्रकार कुम्भक करनेसे जठराग्नि प्रदीप्त होती है, नाडियाँ शुद्ध हो जाती हैं, अनाहत नाद सुनाई पड़ने लगता है तथा शरीर निरोग हो जाता है। इसलिये विधिपूर्वक प्राणायाम करनेसे जब नाडियाँ शुद्ध हो जाती हैं तब प्राणवायु सुषुम्नाको भेदकर उसमें प्रवेश कर जाता है और वह वायु जब मध्यमें पहुँच जाता है तब मन स्थिर हो जाता है। मनकी इसी स्थिरताको मनोन्मनी अवस्था कहते हैं।

पूरकके अन्तमें जालन्धर बन्ध और कुम्भकके अन्त तथा रेचकके प्रारम्भमें उड्डियानबन्ध करना चाहिए।[1] नीचेका मूलरन्ध्र बन्द करके और कंठका संकोचन करके मध्य भागको पीछेकी ओर तान लेनेसे प्राणवायु ब्रह्म-नाडीमें चलने लगता है। जब अपान-वायुको ऊपर चढ़ाकर और प्राण-वायुको कंठसे नीचे उतारकर योगी दोनोंको मिला देता है तब वह बुढ़ापेसे मुक्त होकर १६ वर्षका किशोर हो जाता है।

सुखसे आसनपर बैठकर दाहिने नथनेसे वायु भीतर खींचकर उसे सिरसे पैरतक रोककर (कुम्भक करके) बाएँ नथनेसे बाहर निकालने (रेचक करनें)-से कपाल-शुद्धि हो जाती है और वायुकी नाडियोंमें रहनेवाले सब रोग नष्ट हो जाते हैं। दोनों नथनोंसे धीरेसे शब्दके साथ पवन भीतर खींचकर उसे हृदयसे कंठतक यथाशक्ति रोककर (कुम्भक करके) दाहिने नथनेसे रेचक करनेसे कफका नाश होता है और जठराग्नि बढ़ती है! यह क्रिया चलते और खड़े रहते ही करना चाहिए। मुखसे सी-सी करते हुए वायु भरकर यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नथनोंसे रेचक करनेसे भूख, प्यास, आलस्य और निद्रा उत्पन्न नहीं होती। जीभसे वायु खींचकर यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नथनोंसे रेचक करनेपर गुल्म (गोला), तिल्ली, ज्वर, पित्त और भूख मिट जाती है।

---

१. हठयोगके प्रकरणमें सब बन्ध देखिए।

कुम्भक

कुम्भक दो प्रकार का होता है—सहित और केवल। रेचक और पूरकसे युक्त कुम्भकको सहित कहते हैं और उन दोनोंसे रहितको केवल कहते हैं। जबतक केवल सिद्ध नहीं हो जाता तबतक सहित कुम्भकका ही अभ्यास करना चाहिए। जब केवल कुम्भक सिद्ध हो जाता है तब योगीको तीनों लोकोंमें कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता। इस केवल कुम्भकसे ही कुण्डलिनी जागरित होती है। इससे योगीका शरीर छरहरा, मुख प्रसन्न, नेत्र निर्मल और निरोग हो जाता है, उसे नाद सुनाई पड़ने लगता है, वह बिन्दुको जीत लेता है और उसकी जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है। जब भीतरकी ओर लक्ष्य हो और बाहरकी ओर दृष्टि स्थिर हो तब वैष्णवी मुद्रा कहते है जिसे सभी तन्त्रशास्त्रोंने गुप्त रहस्य माना है।

जिस योगीका लक्ष्य भीतर हो जानेसे चित्त और वायु दोनों विलीन हो जाते हैं वह सदायोगी हो जाता है। नेत्रको निश्चल करके उसकी पुतलीके द्वारा बाहरकी ओर केवल नीचे ही देखना किन्तु और कुछ भी न देखना खेचरी मुद्रा कहलाती है। इस मुद्राके द्वारा योगी केवल लक्ष्यमें ही एकाग्र हो जाता है और यह मंगलकारक होती है। इसलिये इसे वैष्णवी मुद्रा भी कहते हैं। इस मुद्राके द्वारा शून्य-अशून्यसे रहित तत्त्व, परमपद या ब्रह्मके रूपमें प्रकाशित होने लगता है। जब योगी अधमुँदी आँखोंसे स्थिर मनसे नासाग्रपर दृष्टि जमाकर निश्चल हो जाता है तब वह सूर्य और चन्द्र नाढीको भी लय करा देता है। उस समय उसके भीतर जो परम ज्योतिस्वरूप देदीप्यमान तत्त्व प्रकाशित होता है वही ब्रह्म है। नेत्रकी पुतलीको ज्योतिसे जोड़कर दोनों भौंहोंको कुछ ऊपर उठा लेनेसे क्षण भरमें ही उन्मनी दशा प्राप्त हो जाती है। खेचरी मुद्राके अभ्याससे पहले उन्मनी दशा और फिर योग-निद्रा प्राप्त होती है। योग-निद्रा प्राप्त होनेपर योगीकी मृत्यु नहीं होती।

चित्तका नाश करनेके दो उपाय हैं—योग और ज्ञान। चित्तकी वृत्तियोंको रोक रखना योग है और ब्रह्मको यथार्थ रूपसे जानना और समझना ज्ञान है। इसके लिये वैराग्य और अभ्यास नितान्त आवश्यक है। फिर ओंकारका उच्चारण करते रहनेसे शब्द-तत्त्वका अनुभव हो जाता है। उससे ज्ञान प्राप्त हो जानेपर सुषुप्ति अवस्था आ जाती है और प्राणकी गति रुक जाती है। तालुके मूलमें रहनेवाली ग्रन्थिको जब सावधानीसे जीभसे दबाया जाय तब प्राण-वायु ऊपरके छिद्रमें पहुँच जाता है और उसकी गति रुक जाती है। नासिकाके सामने बारह अंगुलकी दूरीपर ज्ञान-दृष्टिको पूर्ण शान्त और स्थिर कर लेनेपर प्राणगति रोक ली जा सकती है। भौंहोंके बीच तारक ब्रह्मका दर्शन करनेसे ऐसी शान्ति मिलती है कि संसारके सारे व्यापार बन्द हो जाते हैं और मनके संकल्प लुप्त हो जाते हैं और तभी प्राणकी गति रोक ली जा सकती है। उस समय ज्ञान ही ज्ञेय-स्वरूप और मंगलमय बनकर केवल ओंकार रूपमें प्रकाशित हो जाता है और तब प्राणकी गति रुक जाती है। जब बहुत समयतक हृदयमें एकान्त आकाशका अनुभव हो जानेसे मनकी वासनाएँ मिट जाती हैं और मन ध्यानस्थ हो जाता है तब प्राणकी गति रुक जाती है।

कुण्डलिनी

ऊपर बताए हुए उपायों तथा गुरुके उपदेशोंसे प्राणकी गति रोककर कुण्डलिनीको संकुचित करके मोक्ष या ब्रह्मकी प्राप्तिका द्वार खोल देना चाहिए क्योंकि कुण्डलिनी उस मार्गका द्वार अपने मुखसे ढककर सोती है। उसे जो चला देता है वह मुक्त होकर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है। यह कुण्डलिनी ऊपर चढ़ते चढ़ते जब कण्ठके ऊपरके भागमें जा पहुँचती है तब योगीको मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इडा-पिंगला दोनों मार्ग छोड़कर सुषुम्नाके मार्गसे ही प्राण-वायुको चढ़ाना चाहिए क्योंकि यही विष्णुका परम पद है। वायुका यह सब अभ्यास मनके साथ ही होना चाहिए। पांच इन्द्रियोंके प्रवाहवाले हृदयमें ही ज्ञान उत्पन्न होता है और

वहीं खेचरी मुद्रा रहती है। इडा और पिंगलाके बीच जो शून्य भाग है वह वायुको ग्रस लेता है। वहीं खेचरी मुद्रा भी रहती है और वहीं सत्य भी रहता है। छेदन, चालन और दाह-द्वारा जीभको अत्यन्त नोकदार बनाकर भौंहोंके बीचमें दृष्टि जमाकर जब जीभ उलटकर कपालके छिद्रमें पहुँचा दी जाती है तब खेचरी क्रिया सिद्ध हो जाती है। जब जीभ और चित्त दोनों कपालके छिद्र-रूपी अकाशमें घूमने लगते हैं तब वह पुरुष अमर हो जाता है।

बाएँ पैरके मूलसे मूलरन्ध्रको दबाकर दाहिना पैर फैलाकर उसे दोनों हाथोंसे पकड़कर और फिर दोनों नथनोंसे वायु भरकर कंठ-बन्धके अपर चढ़ाकर और उठे हुए वायुको रोक रखनेसे सब क्लेशोंका नाश हो जाता है यहाँतक कि विष भी अमृतके समान पच जाता है तथा क्षय, गुल्म, गुदावर्त और चर्मके पुराने रोग भी नष्ट हो जाते हैं। इस उपायसे प्राणको जीत लेनेपर किसी प्रकारकी भी मृत्यु नहीं होती। बाएँ पैरकी ऐड़ीको गुदा-स्थानसे जोड़कर दाहिना पैर बाँएँ पैरपर रखकर भीतर वायु भरकर ठोड़ीको हृदय-पर दबाकर गुदा-स्थानको संकुचित करके मनमें यथाशक्ति धारणा करके अपने आत्माका ध्यान करके अपरोक्ष सिद्धि होती है। बाहरसे वायु खींचकर उदरमें भरकर वहाँसे उसे नाभिके मध्यमें ले जाकर नाकके आगे और पैरके अँगूठेमें मनके सहारे उसे धारण करके सन्ध्याकालमें इसका अभ्यास करनेवाला योगी सव रोगोंसे मुक्त हो जाता है। नासाग्रपर दृष्टि जमानेसे वायुको जीता जा सकता है, नाभिके मध्यमें रोकनेसे सब रोगोंका नाश हो जाता है और पैरके अँगूठेमें वायु धारण करनेसे शरीर हल्का होता है। जीभसे वायु खींचकर पीनेसे श्रम, दाह और रोग नहीं होते। जो व्यक्ति दोनों सन्ध्या समय वायु खींचकर पीता है उसकी वाणी तीन मासमें कल्याणस्वरूपा सरस्वती बन आती है। छह महीने इसका अभ्यास करनेसे सब रोग मिट जाते हैं। जीभसे वायु खींचकर जो उसे जीभके

मूलमें ही रोक लेता है वह अमृत पीता है और उसका सब कल्याण होता है। इडा नाडी-द्वारा दोनों भौंहोंके बीच आत्मामें आत्माको धारण करनेसे सब रोग मिट जाते हैं। दोनों नाडियोंसे वायुको नाभिमें खींचकर जो एक घड़ीतक पेटके दोनों ओर चलाता है वह रोगोंसे छूट जाता है। एक महीनेतक तीनों समय जीभसे वायु खींचकर पेटके मध्य भागमें जो रोकता है वह दैवी आहार प्राप्त करता है। उसके सब ज्वर और विष नष्ट हो जाते हैं। जो मनुष्य एक मुहूर्ततक भी नित्य मनके साथ वायुको नासाग्रपर धारण करता है उसके सैकड़ों जन्मोंके पाप पूर्णतः मिट जाते हैं। नेत्रकी पुतलीमें नाकके अग्र भागपर तथा चक्षु, श्रोत्र आदि विभिन्न अंगोंमें चित्तका संयम करनेसे अनेक लोकोंका ज्ञान हो जाता है। विभिन्न प्राणियोंकी बोलियोंमें चित्तका संयम करनेसे उनकी बोलियोंका ज्ञान हो जाता है। संचित कर्ममें चित्तका संयम करनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान हो जाता है। दूसरेके चित्तमें संयम करनेसे दूसरेके चित्तका ज्ञान हो जाता है। शरीरके रूपमें चित्तका संयम करनेसे दूसरेका-सा रूप हो जाता है। बलमें चित्तका संयम करनेसे हनुमान आदि-जैसा बल आ जाता है। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, ध्रुव, स्वत्व, नाभि-चक्र, कण्ठ-कूप, आदिमें संयम करनेसे विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

किन्तु प्राणायामका यह अभ्यास किसी सद्गुरुकी देखरेखमें और उनके आदेशके अनुसार ही करना चाहिए। यह सब प्राणायामका क्रम है।

प्रत्याहार

प्रत्याहार पाँच प्रकार होता है—

१. विषयोंमें प्रवृत्त होनेवाली इन्द्रियोंको बलपूर्वक उनके विषयोंसे खींच लेना।

२. यह समझना कि जो कुछ दिखाई देता है सब आत्मा ही है।

३. नित्य किए जानेवाले कर्मोंके फलका त्याग करना।

४. सब विषयोंसे विमुक्त होना।

५. निम्नांकित १८ स्थानोंमें क्रमशः आरोह-अवरोह करके उन्हें विषयोंसे दूर किए रखना प्रत्याहार कहलाता है।—पैर, पैरका अँगूठा, गुल्फ, पिंडली, जंघा, जानु, गुदा, लिङ्ग, नाभि, हृदय, कण्ठ, गलेका छिद्र, तालु, नाक, आँख, भौंहोंका मध्य, ललाट, मस्तक।

धारणा

धारणा तीन प्रकारकी होती है—(१) आत्मामें मनकी धारणा, (२) दहराकाश (हृदयाकाश) में बाहरके आकाशकी धारणा। (३) पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशमें उनकी पाँचों मूर्तियों-की धारणा।

ध्यान

यह दो प्रकारका होता है सगुण और निर्गुण। मूर्तिका ध्यान सगुण है और आत्माके स्वरूपका ध्यान निर्गुण है।

समाधि

जीवात्मा और परमात्माकी एकताके अनुभवतकके ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाताकी त्रिपुटीसे रहित परमानन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्यमय अवस्थाको समाधि कहते हैं।

—शांडिल्योपनिषत्

योगसे ब्रह्मका साक्षात्कार कैसे हो सकता है?

अपने पुत्र शुकदेवजीको सांख्यका तत्त्व और सांख्य (ज्ञान) के द्वारा ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय बताकर व्यासजीने योगके द्वारा ब्रह्म-का साक्षात् करनेका उपाय बताना प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा—

देखो बेटा! इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी सारी वृत्तियोंको सब ओरसे रोककर उन्हें सर्वव्यापी आत्माके साथ जोड़ देना ही योग

है और योग-शास्त्रियोंके मतानुसार यही सर्वोत्तम ज्ञान है। इसका उपाय यह है कि साधक सब ओरसे अपना मन हटाकर शम, दम आदि साधनोंसे सम्पन्न होकर आत्मतत्वका चिन्तन करे, एक मात्र परमात्मामें ही रमण करे (ध्यान जमाए रक्खे), ज्ञानवान् पुरुषसे ज्ञान ग्रहण करे और शास्त्रोंमें बताए हुए सब कर्म निष्काम भावसे करता हुआ उस ज्ञातव्य तत्त्व ब्रह्मको जान ले। योगके जो पाँच दोष बताए गए हैं—काम, क्रोध, लोभ, भय, स्वप्न (शयन) उन्हें पूर्णतः जीत ले और इनका दमन कर ले। इनमें क्रोधको शमसे, दृढ संकल्पके द्वारा कामको, सब प्रकारके संकल्पोंका त्याग करके और सत्त्व गुणका सेवन करके निद्राको, धैर्यके सहारे शिश्न और उदर (विषय-भोग, और भोजन) की चिन्ता या लोभ दूर कर दे, नेत्रोंकी सहायतासे हाथ और पैरोंकी, मनके द्वारा नेत्र और कानोंकी तथा कर्मके द्वारा मन और वाणीकी रक्षा करे अर्थात् शुद्ध करे। सदा सजग या सावधान रहकर भयका और विद्वान् पुरुषोंका सत्संग करके दम्भ और स्वप्नका त्याग करे। इस प्रकार सावधानीके साथ आलस्य छोड़कर भोगमें बाधा देनेवाले सब दोषोंको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिए तथा अग्नि और ब्राह्मणोंकी पूजा और देवताओंको प्रणाम करना चाहिए।

साधकको चाहिए कि ऐसी वाणीका कभी प्रयोग न करे जिससे किसीके मनको पीडा या मानसिक कष्ट हो। उसे यह समझते रहना चाहिए कि इस सारी सृष्टिका कारण निर्मल ब्रह्म है और यह सारा चराचर जगत् उस ब्रह्मके ईक्षण (संकल्प) से ही उत्पन्न हुआ है। ध्यान, वेदाध्ययन, दान, सत्य, अपनी प्रशंसासे संकोच, सरलता, क्षमा, शौच, आचार-शुद्धि और इन्द्रियोंके निग्रहसे साधकके तेजकी वृद्धि होती है और ऐसा करनेसे समस्त पापोंका स्वयं नाश हो जाता है। इतना ही नहीं, इससे साधकके सारे मनोरथ तो सिद्ध होते ही हैं साथ ही उसे विज्ञान (परमात्माका ज्ञान) भी प्राप्त हो जाता है। योगीको चाहिए कि वह सब प्राणियोंको समान समझे। जो

कुछ मिले या न मिले उसीमें सन्तोष करे और निष्पाप होकर तेजस्वी, हिताहारी और जितेन्द्रिद होकर काम तथा क्रोधको वशमें करके ब्रह्मपद पानेकी इच्छा करता रहे।

योगीको चाहिए कि मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके रातके पहले और पिछले पहरमें ध्यानस्थ होकर मनको आत्मामें लगा दे। पाँच इन्द्रियोंसे युक्त जीवात्माकी कोई भी एक इन्द्रिय यदि दुर्बल हुई और अपने विषयकी ओर प्रवृत्त हुई तो उसकी बुद्धि क्षीण हो जाती है इसलिये योगके साधकको पहले अपने मनका, फिर कानका, फिर नेत्रका, फिर जीभका और फिर नाकका निग्रह करके पाँचों इन्द्रियाँ वशमें करके उन्हें मनमें स्थापित कर देना चाहिए। फिर सब प्रकार-के संकल्पोंका त्याग करके मनको बुद्धिमें लीन कर देना चाहिए। जब मन-सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ बुद्धिमें स्थिर होकर निर्मल हो जाती हैं तब उस योगीको ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है और उसे अपने अन्तःकरणमें बिना धुएँवाली लपट फेंकती हुई अग्नि, चमचमाते सूर्य और क्रोधित हुई बिजलीकी चमकके समान प्रकाश-स्वरूप आत्माका दर्शन हो जाता है। फिर उस आत्मामें सब कुछ और सबमें वह आत्मा दिखाई देने लगता है। उस परमात्मा-का दर्शन वे ही लोग कर पाते हैं जो महात्मा ब्रह्मज्ञानी, मनीषी, महाज्ञानी, धैर्यवान् और सब प्राणियोंका हित करनेमें लगे रहते हैं। जो योगी प्रतिदिन नियत समयतक अकेला, एकान्तमें बैठकर नियमोंका पालन करता हुआ इस प्रकार योगाभ्यास करता है वह अक्षर ब्रह्मके समान हो जाता है।

योगमें विघ्न

योग-साधना करते समय मोह, भ्रम, और आवृत्ति आदि विघ्न होते हैं। फिर दिव्य सुगन्ध आने लगती है। इसके पश्चात् दिव्य शब्द सुनाई देने लगते हैं, दिव्य रूपके दर्शन होने लगते हैं, अनेक प्रकारके

अद्भुत रस और स्पर्शका अनुभव होने लगता है, इच्छानुकूल सर्दी और गर्मी लगने लगती है, वायु-रूप होकर आकाशमें चलनेकी शक्ति आ जाती है, प्रतिभा बढ़ जाती है और दिव्य भोग अपने आप आ उपस्थित होते हैं। सच्च योगीको चाहिए कि यदि योग-बलसे भी ये सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँ तो भी उनसे दूर ही रहे क्योंकि ये सब योगके विघ्न हैं। इन सबकी ओरसे अपना मन हटाकर आत्मामें ही एकाग्र किए रखना चाहिए।

योगीको चाहिए कि नित्य नियमसे किसी पर्वतपर, किसी देव-वृक्ष (तुलसी, पीपल) के समीप, एकान्त मन्दिरमें अथवा वृक्षोंके सामने ही सवेरे तथा रातके पहले और पिछले पहरोंमें योगका अभ्यास करे। योगके साधकको चाहिए कि इन्द्रियोंको वशमें रखकर हृदयाकाशमें स्थित आत्माका एकाग्र होकर चिन्तन करे। मनको योगसे कभी हटने न दे और जिन उपायोंसे चंचल मनको रोका जा सके उन उपायोंका सेवन करके अपनी साधनासे विचलित न हो। योगके साधकको चाहिए कि वह किसी वस्तु, व्यक्ति या स्थानके प्रति मन, वाणी और कर्मसे आसक्त न हो, सबकी ओरसे उपेक्षाका भाव रक्खे, नियमित भोजन करे, लाभ-हानिको समान समझे, प्रशंसा और निन्दासे दूर रहे, एककी भलाई और दूसरे बुराई न सोचे, लाभसे प्रसन्न और हानिसे चिन्तित न हो, समस्त प्राणियोंको समान समझे, वायुके समान सर्वत्र विचरता हुआ भी असंग और अनिकेत (भवन-रहित) रहे। इस प्रकार स्वच्छ चित्त और सर्वत्र समदर्शी रहकर अपने सब कर्मोंके फलका उल्लंघन करके जो श्रेष्ठ योगी छह महीनेतक नित्य योगाभ्यास करता है वह परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है चाहे वह कोई नीच वर्णका पुरुष या स्त्री ही क्यों न हो। जो योगी मनको वशमें कर चुका रहता है उस योगीको निश्चल मन, बुद्धि और इन्द्रियों-द्वारा उपलब्ध होनेवाले अजन्मा, पुरातन, अजर, सनातन, नित्य मुक्त, अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् परमात्माका अपने आत्मासे ही अनुभव हो

जाता है। जो मिताहारी और शुद्धचित्तवाला योगी निश्चल मनसे रातके पहले और पिछले पहरोंमें अपने आत्माको परमात्माके ध्यानमें लगाता है उसे अपने अन्तःकरणमें परमात्माका दर्शन अवश्य हो जाता है।

कर्म और ज्ञान

सकाम कर्म (यज्ञादि) करनेसे मनुष्य मृत्युके पश्चात् सोलह तत्त्वों (पाँच इन्द्रिय, पाँच उनके विषय, स्वभाव, चेतना, मन, प्राण अपान और जीव)-से बना हुआ मूर्तिमान् शरीर धारण करता रहता है और भोगासक्त होकर बारम्बार विभिन्न शरीरोंमें आनन्द मानकर उनका सेवन करता है, किन्तु ज्ञानके प्रभावसे तो जीवात्मा उस नित्य, अव्यक्त, अविनाशी परमात्माको ही प्राप्त कर लेता है। ज्ञानके द्वारा मनुष्यको उस परम पद (ब्रह्म) की प्राप्ति हो जाती है जहाँ पहुँच जानेसे सदाके लिये शोक, कष्ट और पुनर्जन्मका संकट नहीं रह जाता और जहाँ बिना क्लेशके उस अव्यक्त, अचल, नित्य, अनिर्वचनीय, विकार-शून्य, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है जो बिना क्लेशके प्राप्त हो जाता है और मिलकर कभी विलग नहीं होता। ऐसे मनुष्यको सुख-दुःख, शोक-मोह, भूख-प्यास, जरा-मृत्यु, मानसिक संकल्प और कर्म-संस्कार कोई बाधा नहीं पहुँचाते। ऐसा मनुष्य सबको समान और मित्र समझता है ओर सब प्राणियोंके कल्याणमें ही आनन्द लेता है।

प्राणियोंके अन्तःकरण (हृदयकाश)-में जो स्वयंप्रकाश, चिन्मय देवता, कमलके पत्तेपर पड़ी हुई पानीकी बूँदके समान निर्लेप भावसे विराजमान है वह आत्मतत्त्व ही क्षेत्रज्ञ है, उसे वही व्यक्ति ठीक समझ सकता है जिसने योगके द्वारा अपने चित्तको वशमें कर लिया हो। तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण तो बुद्धिके गुण हैं। इनके सम्बन्धसे जीव भी गुण-स्वरूप और गुण भी जीव-स्वरूप जैसे जान पड़ने लगते हैं किन्तु वास्तवमें जीवात्मा तो

परमात्माका ही अंश हैं। ईश्वर अंश जीव अविनासी। सत, चेतन, घन आनँदरासी।

यद्यपि संन्यस्त जीवनकी बड़ी प्रशंसा की गई है और संन्यास आश्रमको बड़ा महत्त्व दिया गया है फिर भी उसी संन्यासीको श्रेष्ठतम माना गया है जिसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया हो अर्थात् जो ज्ञानवान् हो।

योग-साधनोंमें रुद्र अर्थात् प्राण ही प्रधान है। प्राणको अपने वशमें कर लेनेवाला योगी इसी शरीरसे दसों दिशाओंमें स्वच्छन्द विचरण करने लगता है। वह अपने योग-बलसे अपना स्थूल शरीर यहीं छोड़कर अष्टविध ऐश्वर्यसे युक्त होकर अपने सूक्ष्म शरीरके द्वारा लोक-लोकान्तरोंमें सुखपूर्वक विचरण करने लगता है।

योगके दो प्रकार

वेदमें दो प्रकारके योगोंका वर्णन है—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूलयोगसे अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं किन्तु सूक्ष्म योग आठ गुणों या अंगोंवाला होता है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यही वास्तविक योग है। योगका मुख्य साधन प्राणायाम भी दो प्रकारका होता है—सगुण और निर्गुण (सबीज और निर्बीज)। किसी विशेष स्थानमें चित्तको स्थापित करनेको धारणा कहते हैं और किसी स्थान-विशेषका आश्रय न लेकर मनको निर्बीज समाधिमें एकाग्र करनेको निर्गुण प्राणायाम कहते हैं। सगुण प्राणायामसे मनको निर्गुण (वृत्ति-शून्य) करके स्थिर करनेमें सहायता मिलती है। यदि पूरक और कुम्भकके समय नियत देवता आदिका ध्यानके द्वारा साक्षात्कार किए बिना ही कोई प्राण-वायुका रेचन करता है तो शरीरमें वायुका प्रकोप बढ़ जाता है, इसलिये कभी ध्यान-रहित प्राणायाम नहीं करना चाहिए। रातके पहले पहरमें वायुको धारण करने की बारह प्रेरणाएँ बताई

गई हैं। मध्यरात्रिमें रात्रिके बिचले दो पहरोंमें सोना चाहिए, तथा पुनः अन्तिम प्रहरमें बारह प्रेरणाओंका ही अभ्यास करना चाहिए ; यही युक्तस्वप्नावबोध (उचित सोना और जागना) है।

एक प्राणायाममें पूरक, कुम्भक और रेचकके भेदसे तीन प्रेरणाएँ समझनी चाहिएँ। इस प्रकार जहाँ बारह प्रेरणाओंके अभ्यासका विधान किया गया है वहाँ चार-चार प्राणायाम करनेका नियम समझना चाहिए। तात्पर्य यह कि रातके पहले और पिछले पहरोंमें ध्यानपूर्वक चार-चार प्राणायामोंका नित्य अभ्यास करना योगीके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार प्राणायामके द्वारा मनको वशमें करके शान्त और जितेन्द्रिय होकर एकान्तवास करनेवाले आत्मज्ञानी योगीको अपना मन परमात्मामें लगा देना चाहिए।

उसे सर्वप्रथम इन्द्रियोंके पाँच दोष (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) दूर कर देने चाहिएँ। फिर लय और विक्षेपको शान्त करके सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मनमें स्थिर कर देना चाहिए। तत्पश्चात् मनको अहंकारमें, अहंकारको बुद्धिमें और बुद्धिको प्रकृतिमें स्थापित कर देना चाहिए। इस प्रकार सबका लय करके योगीको उस परमात्माका ध्यान करना चाहिए जो रजोगुणसे रहित, निर्मल, नित्य, अनन्त, शुद्ध, दोष-रहित, कूटस्थ, अन्तर्यामी, अभेद्य, अजर, अमर, अविकारी, सबपर शासन करनेवाला और सनातन है।

योगीके लक्षण

समाधिमें स्थित योगमुक्त योगीके चित्तमें सदा प्रसन्नता बनी रहती है और उस प्रसन्नताकी पहचान यही है कि वह योगी समाधिसे विरत नहीं होना चाहता। समाधिनिष्ठ योगी भी निष्कम्प दीपककी लौकी भाँति स्थिर हो जाता है। अनेक प्रकारके विक्षेपोंसे भी योगयुक्त योगी कभी विचलित नहीं होता और अनेक प्रकारके

शंखों, नगाड़ोंकी ध्वनिसे भी उसका ध्यान भंग नहीं होता। योगकी ऊँची स्थितिमें पहुँचा हुआ एकाग्रचित्त योगसिद्ध योगी कभी अपनी समाधिसे विचलित नहीं होता क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं और मन अविचल हो जाता है। भली प्रकार समाधिमें स्थित हो जानेपर वह योगी महान् अन्धकारमें प्रकाशित होनेवाले धूमरहित प्रज्ज्वलित अग्निके समान चमकनेवाले अविनाशी ज्ञान-स्वरूप परब्रह्मका अपने हृदयमें साक्षात्कार कर लेता है। इस योग-साधनाके द्वारा मनुष्य जबतक चाहे तबतक इसी शरीरको अविकृत रखकर जीवित रह सकता है और इस अचेतन देहका परित्याग करके परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जा सकता है।

सांख्य और योगका अन्तर

सांख्यमतके माननेवाले कहते हैं कि सब प्रकारकी गतियोंको जानकर अर्थात् सब वस्तुओंको नश्वर समझकर जो मनुष्य विषयोंसे विरत हो जाता है वह देहका त्याग करनेके पश्चात् मुक्त हो जाता है। अन्य किसी उपायसे मोक्ष नहीं मिल सकता। इसलिये वे सांख्यको ही मोक्ष-दर्शन कहते हैं। ये सांख्यमतानुयायी लोग शास्त्र-प्रमाणपर विश्वास करते हैं।

योग-शास्त्रके विद्वान् कहते हैं कि ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किए बिना किसीकी मुक्ति कैसे हो सकती है? ये लोग प्रधानतया प्रत्यक्ष प्रमाणको ही मुख्य समझते हैं।

दोनों ही मतानुयायी बाहर-भीतरकी पवित्रता, तप, प्राणियोंपर दया और व्रतोंके पालन आदि नियमोंको समान रूपसे पालनीय बताते हैं। केवल उनके दर्शनोंमें और आचार-पद्धतियोंमें अन्तर है। सांख्यके समान कोई ज्ञान नहीं और योगके समान कोई बल नहीं दोनोंका लक्ष्य एक ही है। योगी जिस तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं उसी तत्त्वका सांख्यवाले भी दर्शन करते हैं। अतः, सच्चा तत्त्वज्ञानी वही है जो सांख्य और योगको एक ही देखता और समझता है।

हठयोग

हठयोगके द्वारा हठात् सिद्धि प्राप्त होती है इसलिये योग-सर्वोदयके अनुसार इस योग-पद्धतिका नाम हठ-योग पड़ा है। हठ-योग करनेसे पहले आसन सिद्ध करके रेचक, पूरक और कुम्भकके द्वारा प्राणवायुपर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना होता है। फिर षट्कर्म करनेसे आसन दृढ, चित्त शुद्ध और मन निश्चल तथा आनन्दपूर्ण हो जाता है।

षट्कर्म

शरीरको शुद्ध करना और शुद्ध बनाए रखना योगीका प्रथम कर्त्तव्य है क्योंकि जबतक शरीर पूर्णतः स्वस्थ, निरोग, स्फूर्तिमान् नहीं होगा तबतक योगकी साधना नहीं हो सकती। शरीरको स्वस्थ बनाए रखनेके लिये सात साधन बताए गए हैं—

दृढता, शोधन, स्थिरता, लाघव, धैर्य, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता।

दृढतासे शरीरकी सहनशक्ति बढ़ानी चाहिए, शोधनसे शरीरको मलरहित करना चाहिए, स्थिरतासे शरीरको किसी भी अवस्थामें स्थिर किए रखनेका अभ्यास किए रखना चाहिए, लाघवके द्वारा शरीरको हल्का बनाए रखना चाहिए। धैर्यका अर्थ है किसी भी कष्टमें विचलित न होना। प्रत्यक्षका अर्थ है इन्द्रियोंके अप्रत्यक्ष विषयोंको प्रत्यक्ष करके उनसे विरक्ति उत्पन्न करना। निर्लिप्तताका अर्थ है किसी भी कर्मसे, उसके फलसे अथवा किसी व्यक्ति या वस्तुसे किसी प्रकारका कोई लगाव न रखना।

शरीर-शोधन

योगमें जो षट्कर्म (छह कर्म) बताए गए हैं उनसे शरीरका शोधन होता है। वे हैं—

(१) धौति (२) नेति (३) वस्ति (४) नौलि (५) त्राटक और (६) कपालभाति।

धौति

धौतिके चार भेद हैं—अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृद्धौति, मूलधौति। इनमेंसे अन्तर्धौतिके चार प्रकार हैं—वातसार, वारिसार, वह्निसार, बहिष्कृत।

अपने ओठोंको कौएकी चोंचके समान आगे निकालकर, जीभ आगे गोल करके धीरे-धीरे पेटमें इतना वायु भरा जाय कि पेट फटने-सा लगे तब उस वायुको पेटमें घुमाकर धीरे-धीरे मुखसे बाहर निकालनेको वातसार धौति कहते हैं। इस क्रियासे कण्ठ, हृदय, पेट और शरीरके सब रोग दूर होते हैं, शरीर निर्मल हो जाता है, भूख बढ़ती है, कण्ठ सुरीला हो जाता है और वीर्य-शक्ति प्रबल हो जाती है।

मुखसे कण्ठतक जल भरकर और पेटमें वह जल भर जानेपर उस जलको पेटमें घुमाकर मल-द्वारसे निकालना ही वारिसार धौति है। इससे कोष्ठबद्धता नहीं होती, पेटके रोग दूर हो जाते हैं, शरीर कान्तिमान् बन जाता है और देव-देह प्राप्त हो जाती है।

पेटकी नाभिको सौ बार अपनी पीठसे ऐसा लगा लेना कि पीठ और पेटमें तनिक भी अन्तर न रहे और फिर पेटको बलपूर्वक फुला लेना ही अग्निसार-धौति है। इससे पेट, यकृत और प्लीहाके सब रोग दूर हो जाते हैं। याज्ञवल्क्यजीने कहा है कि नाभिके नीचे अग्नि-कुण्डमें जो तीन प्रकारके अग्नि हैं उनसे ही तीनों प्रकारके ताप उत्पन्न होते हैं। अग्निसार-क्रियासे वे सब प्रकारके ताप नष्ट हो जाते हैं।

बहिष्कृति-धौतिमें मुखसे पेटमें भरे हुए वायुको मुखसे न निकालकर डेढ़ घण्टे बाद गुदासे निकालना ही बहिष्कृति है। किन्तु इस

क्रियाके लिये बहुत सावधानी रखनी चाहिए। इस साधनासे सब प्रकारकी सिद्धियाँ हस्तगत हो जाती हैं।

प्रक्षालन

नाभितक जलमें प्रविष्ट होकर शक्ति-नाडीको बाहर करके दोनों हाथोंसे उसे मल-मल धोकर उसे यथास्थान स्थापित कर देना ही प्रक्षालन कहलाता है। इसका भी फल बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है।

दन्त-धौति

दन्तधौति चार प्रकारकी होती है—दाँतोंकी जड़ धोना, जीभकी जड़ धोना, दोनों कानोंके छेद धोना और कपालका छेद धोना।

दन्त-मूल धौति

खैरके रसमें भिगोकर सुखाई हुई शुद्ध मिट्टीसे दाँतोंकी जड़ोंको रगड़कर साफ़ कर लेना चाहिए। इसके लिये नीम, मौलश्री अथवा अपामार्ग (चिरचिटे) की दातौनका प्रयोग भी किया जा सकता है। नमक और सरसोंके तेलसे भी दाँत दृढ और शुद्ध हो जाते हैं।

जिह्वा-शोधन

जिह्वा-शोधनसे वृद्धता दूर होती है और शरीरमें स्फूर्ति आती है। इसके लिये तर्जनी, अनामिका और मध्यमा अंगुलियोंको जीभकी जड़तक प्रविष्ट करके जीभको भली प्रकार साफ़ कर लेना चाहिए और फिर जीभपर मक्खनका लेप करके गायके थनके समान जीभका दोहन करना चाहिए। इससे जीभ लम्बी भी होती है और खेचरी मुद्रामें सहायक भी होती है।

कर्ण-धौति

प्रातःकाल तर्जनी या अनामिकासे कानके छिद्रोंको भली प्रकार साफ़ कर लेना कर्णधौति कहलाता है। इस क्रियासे दूरश्रवण और

गुप्तश्रवणकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, कर्ण-रोग दूर हो जाते हैं और अनाहत नाद सुनाई देने लगता है।

कपाल-रंध्र-धौति

प्रातःकाल सोकर उठते ही, दोपहरमें भोजनके तत्काल बाद और संध्याको किसी भी समय शुद्ध ठण्डे जलसे सिरके बीचके गड्ढेको दाहिने हाथके अँगूठेसे प्रतिदिन धोना ही कपाल-रंध्र-धौति है। इस क्रियासे भीतरके कफके दोष नष्ट हो जाते हैं, स्नायुओंकी शुद्धि होती है और नेत्रोंकी दृष्टि बढ़ती है।

हृद्-धौति

योगशास्त्रमें हृद्-धौति तीन प्रकारकी बताई गई है—दण्ड-धौति, वमन-धौति और वस्त्र-धौति।

केलेके भीतरकी नली, हल्दीकी कोमल डण्ठल, बेंतकी कोमल छड़ी, वटकी कोमल जटा अथवा सूतकी सवा हाथ दातौन-सी बनाकर उसे मुखमें प्रविष्ट करना ही दण्ड धौति है। किन्तु इस क्रियामें बहुत सावधानीका प्रयोग करना चाहिए। इस क्रियासे कफ, पित्त आदि सब मल मुखसे निकल जाते हैं और हृदय हलका हो जाता है।

वमन-धौति

नित्य प्रति भोजनके पश्चात् कण्ठतक भरपूर जल पीकर दो क्षण आकाशकी ओर देखकर अर्थात् ऊपरकी ओर मुँह करके वमन कर देना ही वमन - धौति है। इस धौतिसे बात, पित्त, कफ नष्ट हो जाते हैं।

वस्त्र-धौति

चार अंगुल चौड़ा और ५ से १५-२० हाथतक लम्बा चिकना कपड़ा पहले भली-भाँति जलमें भिगोकर एक छोर हाथसे पकड़कर

मुखमें डालकर दाढ़से दबाया जाय और फिर उसे धीरे-धीरे चबाकर अपने उदरमें पहुँचाया जाय। इस प्रकार जब पूरा वस्त्र उदरमें पहुँच जाय तब हाथमें पकड़े हुए सिरेको मुखमें जबड़ेसे दबाकर फिर खड़े होकर दोनों हाथोंको घुटनेपर रखकर इतना झुका जाय कि सिर घुटनेके बीचमे आ जाय। फिर शरीरके सब अवयवोंको ढीला करके पेटको चक्करमें घुमाकर धीरे-धीरे उस वस्त्रको निकालकर पेटको चक्कर देकर शान्तिसे बैठ जाया जाय। फिर धीरे-धीरे उस वस्त्रको मलद्वारसे निकालनेका प्रयत्न किया जाय जो गणेश-क्रियासे संभव है। इस क्रियासे गुल्म, प्लीहा, कुष्ठ, ज्वर, कफ आदि सब रोग दूर हो जाते हैं और कान्ति बढ़ती है।

मूल-शोधन-या गणेश-क्रिया

मूल-शोधनके लिये हल्दीकी जड़ या मध्यमा अंगुलीसे बड़ी सावधानीके साथ बार-बार मल-द्वारके तीनों चक्रोंको नित्य प्रति धोकर मक्खन या घृत लगा लेना चाहिए। इस प्रकार एक, दो, तीन, चार, पाँचों उँगलियोंका प्रवेश करनेपर वस्त्र-धौतिका वस्त्र मलद्वारसे बाहर निकाल लेना चाहिए। यही मूल-शोधन या गणेश-क्रिया है। इस क्रियासे पेटकी शुद्धि होती है, भूख बढ़ती है शरीरकी कांति दीप्तिमान् होती है। परन्तु यह क्रिया बहुत सावधानीसे शनैः शनैः करनी चाहिए।

वस्तिक्रिया

वस्तिक्रिया दो प्रकार की होती है—जल-वस्ति और शुष्क वस्ति।

जल-वस्ति

नाभितक जलमें उत्कट (उकड़ूँ) आसनसे बैठकर मल-मार्गसे जलको भीतर आकृष्ट करनेका अभ्यास करे। इस आकर्षणके समय मल-द्वारका संकोच-विकास करना होता है जिसे अश्वि-मुद्रा कहते हैं। कुछ लोग इस क्रियाके लिये १२ अंगुल बाँसकी नली लेकर आठ अंगुल चढ़ाकर चार अंगुल पानीमें रखकर पानीको भीतर खींचते हैं।

महीने दो महीनेके भीतर जल स्वयं आने जाने लगता है। इस जल-वस्तिसे प्रमेह, कास, श्वास, कुष्ठ, तिल्ली, कफ और वायुके सब रोग दूर हो जाते हैं तथा शरीर सुन्दर हो जाता है।

स्थल-वस्ति या शुष्क-वस्ति

पृथ्वीपर चित लेटकर मलद्वारसे वायुका आकर्षण-विकर्षण करना ही स्थल-वस्ति है। इस क्रियासे कोष्ठबद्धता, आमवात आदि रोग दूर हो जाते हैं और भूख बढ़ जाती है।

नेति

बढ़िया, शुद्ध, चिकना, सवा फीट सूत लेकर बीससे तीस तारों तकका डोरा बनाया जाय जो आठ अंगुल लम्बा और बिना बटा हुआ हो। शेष भागको हाथकी चुटकियोंसे ऐसा मजबूत बटा जाए कि हाथमें लेनेसे खड़ा हो जाय। फिर उसे गरम मोममें डालकर हाथसे साफ करके थोड़ा-सा घी लगाकर नित्य प्रातःकाल दातूनके समय नाकमें डालकर एक दो बार भीतर-बाहर चलाकर मुखसे बाहर निकाल दिया जाय। इस क्रियासे नाक और मस्तकके तथा नेत्र और कर्णके सब रोग दूर हो जाते हैं। महर्षि घेरण्डके अनुसार तो इससे खेचरी भी सिद्ध हो जाती है।

जलनेति

नाकसे जल पीनेको जल-नेति कहते हैं। इसके लियेएक छोटी-सी टोंटीवाली झारी लेकर मुख ऊपर करके झारीसे नाकमें जल छोड़ा जाय और फिर एक नथनेसे पीकर दूसरेसे निकाल दिया जाय। कुछ लोग मुखसे भी जल पीकर नाकसे निकालते हैं। इस क्रियासे भी मस्तक शीतल होता है तथा पित्तज और वातज सब रोग दूर होते हैं।

नौलि

अपने दोनों घुटनोंपर दोनों कंधे रखकर इतने नीचे झुका जाय कि मस्तक घुटनोंके सम्मुख आ जाय। फिर शरीरको ढीला करके

दोनों ओर गोलाईमें घुमाया जाय अर्थात् पेटको दाएँ-बाँएँ, ऊपर-नीचे चक्कर दिया जाय। इस नौलि-क्रियासे गुल्म, प्लीहा, मन्दाग्नि, संग्रहणी, आमवात वादि अनेक रोग दूर हो जाते हैं। इस क्रियाको धौति, वस्ति आदि क्रियाओंका मुकुट-मणि कहा गया है।

त्राटक

नेत्रकी दृष्टि-शक्तिको स्थिर करने, निरोग करने और आकर्षक बनानेके लिये यह क्रिया नितान्त सशक्त है, किन्तु त्राटककी क्रिया बड़ी सावधानीसे करनी चाहिए।

यह त्राटककी क्रिया हरी, काली, आसमानी या पीली वस्तुपर दृष्टि जमानेसे होती है। इसके लिये आवश्यक है कि प्रातःकाल उठते ही खुले नेत्रोंको ठण्डे जल या त्रिफलेके जलसे भली प्रकार धो लिया जाय। प्रातःकाल नेत्र धो लेनेके पश्चात् और सायंकाल सोते समय कानकी मैलमें तालेवका खार मिलाकर नेत्रोंमें आँजनेसे बारह महीनेमें दिव्य दृष्टि हो जाती है। प्रातः और सायं कपाल-कूपको दाहिने हाथके अँगूठेसे जलके साथ रगड़कर धोया जाय और नाकसे जल पीनेका अभ्यास किया जाय। पलकोंको स्थिर करके आँखके गोलको दाएँ-बाएँ घुमाया जाय। दोनों नेत्र बन्द करके दो मिनट उपर्युक्त व्यायामसे उत्पन्न नेत्रोंके कम्पनको देखते रहा जाय और फिर दोनों नेत्रोंको एकदम खोलकर पाँच हाथ ऊँचे आकाशमें जमा दिया जाय। फिर २० या २५ सेकेण्डके पश्चात् पाँच हाथ नीचे जमा दिया जाय। फिर पृथ्वीसे नेत्र हटाकर पाँच हाथ दूर बाईं ओर फिर इसी तरह दाईं ओर जमा दिया जाय।

ये सब व्यायाम करके दोनों नेत्र बन्द करके एकाग्रतापूर्वक दोनों हाथोंसे दोनों कनपटियोंको धीरे-धीरे थपथपाया जाय। इससे नेत्रोंमें आकर्षण-शक्ति बढ़ जाती है।

विभिन्न वस्तुओंपर त्राटक

काँसेकी थालीमें कसौटीके पत्थर या शालग्रामको जलमें रखकर त्राटक करना लाभप्रद होता है।

एक फुट लम्बा-चौड़ा श्वेत चमकीला कागज लेकर उसपर एक इंच गोलाईकी काली बिन्दी बनाकर सामने दीवारपर सवा हाथ दूरीपर टाँगकर उसपर दृष्टि जमानी चाहिए। इस त्राटकसे एक-दो दिनमें ही बिन्दीके चारों ओर प्रकाश घूमता दिखाई देगा। पाँच-सात दिनमें यह प्रकाश उस बिन्दुको ढक लेगा किन्तु चलता रहेगा। फिर उसमें रंग-बिरंगे रंग दिखाई देने लगेंगे। उस समय मनको नेत्रोंसे मिलाकर अपनी रुचिके अनुसार एक स्थानपर उस प्रकाशको स्थिर रखनेका प्रयास किया जाय। दस पन्द्रह दिनमें ही यह प्रकाश स्थिर हो जायगा और यह शक्ति आ जाती है कि किसीको भी वशमें किया जा सकता है। इसके पश्चात् अपनी दृष्टिको सुईकी नोकके समान बनाकर बिन्दीको आर-पार वेधनेका प्रयास करनेपर आनन्दकी नगरी दिखाई पड़ने लगेगी। यही त्राटककी पूर्णता है।

श्वेत वस्त्रपर त्राटकके लिये चन्द्रमापर या शुद्ध ताजे मक्खनकी सफेद डलीपर दृष्टि जमानी चाहिए। सूर्योदयसे दो तीन घड़ी-तक आकाशमें या कागजपर पीली या केसरिया स्याहीसे ॐ बनाकर उसपर या ताजे लाल गुलाबपर त्राटक किया जाय। इन सब त्राटकोंसे सिंहको भी आकृष्ट करनेवाली दिव्य ज्योति प्राप्त हो जाती है।

कपालभाति

मस्तक शुद्ध करनेवाली कपालभाति-क्रिया तीन प्रकारकी होती है—वातकर्म, व्युतकर्म, शीतकर्म।

वातकर्म-कपालभाति

इडा या बाँएँ नथनेसे वायु भरकर दाएँ नथने पिंगला नाडीसे निकाल दे। इसी प्रकार दाएँसे वायु भरकर बाएँसे निकाल देना

ही वातकर्म-कपालभाति है। यह पूरक-रेचक-क्रिया धीरे-धीरे करनी चाहिए। इससे सभी कफ-रोगोंका नाश हो जाता है।

व्युतकर्म-कपालभाति

नथनोंसे जल पीकर मुखसे जल निकाल देना और मुखसे जल पीकर नथवोंसे निकाल देना ही व्युतकर्म कपालभाति है। इससे कफ-रोग दूर हो जाते हैं।

शीतकर्म-कपालभाति

मुखसे जल पीकर दोनों नथनोंसे बाहर गिराते जानेको शीत-कर्म-कपालभाति कहते हैं। कुछ लोग बाएँ नथनेसे पीकर दाएँ नथनेसे निकाल देते हैं और कुछ दाएँसे पीकर बाएँसे अथवा नाकसे पीकर मुखसे निकाल देते हैं। इससे शरीर सुन्दर होता है, बुढ़ापा नहीं आता, कफ-रोग दूर हो जाते हैं।

योगियोंके लिये देहकी शुद्धिके निमित्त अग्रांकित छह कर्म आवश्यक बताए गए हैं—धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक और कपालभाति, जिनका विस्तृत विवेचन ऊपर किया गया है। संक्षेपमें उन्हें इस प्रकार समझना चाहिए—

धौति

चार अंगुल चौड़ा और १५ हाथ लम्बा मुलायम सूक्ष्म वस्त्र लेकर एक एक हाथ वस्त्र नित्य मुँहमें घोटनेका अभ्यास किया जाय और उसका छोर अपनी डाढ़ोंमें दबाकर उस वस्त्रको भली प्रकार पेटमें चलाकर धीरे-धीरे निकाल लिया जाय। इससे अनेक प्रकारके रोग दूर हो जाते हैं।

वस्ति

नाभितक जलमें खड़े होकर छह अंगुलका डंडा लिया जाय जिसमें कनिष्ठिका उँगलीके समान मोटा छेद हो। उस डंडेका चार

अंगुल भाग अपनी गुदामें उत्कृष्ट आसनसे बैठकर प्रवेश करे। दोनों पैरोंकी उँगलियोंपर अपना नितम्ब टिकाकर बैठे। इस प्रकार बाँसकी नलीसे भीतर उदरमें पहुँचे हुए जलको नौलि-कर्मसे चलाकर निकाल दे। इससे उदर शुद्ध हो जाता है। ये कर्म भोजन करनेसे पहले ही करने चाहिएँ। कुछ लोग नौलिके बिना ही वायु ऊपर खींचकर वस्तिकर्म करते हैं किन्तु इससे सारा जल बाहर नहीं आता जिससे रोग हो सकते हैं। इस क्रियासे गुल्म, जलोदर तथा वात, पित्त, कफके सब रोग दूर हो जाते हैं, शरीरकी कान्ति बढ़ती है और सारा शरीर प्रसन्न हो जाता है।

नेति

एक बालिश्त लंबे चिकनें सूतके डोरेको नाकमें डालकर मुखसे निकाल लेनेको नेति कहते हैं। एक नथनेसे सूतका डोरा डालनेके समय दूसरा नथना बन्द कर लेना चाहिए और पूरक प्राणायाम करके मुखसे वायु निकाल देना चाहिए। इस सूत्रको बराबर ऊपर नीचे चलाते रहना चाहिए। इसी प्रकार दूसरे नथनेसे अभ्यास किया जाय। इस क्रियासे कपालकी शुद्धि होती है, दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है और हँसलीसे ऊपरके सब रोग मिट जाते हैं।

त्राटक

स्थिर दृष्टिसे किसी भी नन्हेसे पदार्थ या बिन्दुको तबतक देखते रहा जाय जबतक आँसू न आ जाय। यही त्राटक है। इससे नेत्रके रोग दूर होते हैं, आलस्य या निद्रा नहीं होती।

नौलि

कंधे झुकाकर जलमें पड़े हुए भँवरके समान वेगसे अपने उदरको दाहिने बाएँ घुमाया जाय। यही नौलि है। इस क्रियासे मंदाग्नि और वात-रोग दूर होते हैं।

कपालभाति

लुहारकी धौंकनीके समान वेगसे रेचक, पूरक प्राणायाम करना कपालभाति है। इससे सारे कफ-दोष नष्ट हो जाते हैं।

इस हठ-योगका एक और भी भेद है! आकाश या नासिकाके अग्र भागपर करोड़ों सूर्योंके समान, रक्त, पीत और कृष्ण इत्यादि अनेक रंगोंमें परब्रह्मका ध्यान करनेसे हठात् ब्रह्मका ज्योतिर्मय रूप दिखाई पड़ने लगता है!

हठयोग करनेवालेको पहले षट् कर्मके द्वारा शरीर-शुद्धि और मनःशुद्धि करके पवित्र हो जाना चाहिए। फिर गुरुके उपदेशके अनुसार ही धीरे-धीरे सब योग-क्रियाएँ जाननी चाहिएं। किसी पुस्तकके सहारे या अधकचरे योगाभ्यासीसे हठयोग कभी नहीं सीखना चाहिए क्योंकि इसमें थोड़ा-सा भी व्यतिक्रम होनेसे रोगका भय बना रहता है—योगे रोगभयम्। यदि वास्तवमें कोई सिद्ध योगी गुरु होगा तो वह रोग होने ही नहीं देगा और रोग होनेपर उसका उपाय कर देगा क्योंकि योगसे जो रोग होते हैं उसमें औषधिके द्वारा चिकित्सा नहीं होती।

योगाभ्यासकी अवस्थामें सब इन्द्रियोंको जीतकर हल्का सात्त्विक आहार ही करना चाहिए।

हठयोगीको बहुत सबेरे सिरपर पानी डालकर स्नान नहीं करना चाहिए क्योंकि प्रातःस्नान इसमें हानिकारक होता है। दोपहरके समय भी गर्म जलसे स्नान करना चाहिए, ठंडे जलसे कभी नहीं। इस अभ्यासकी अवस्थामें दिनमें सोना, रातको जागना, चिन्ता करना और आत्माको क्लेश माननेवाले कार्य करना नितान्त वर्जित है। प्राणायाम करते-करते जब बहुत थकावट जान पड़ने लगे तब अवश्य विश्राम करना चाहिए। इसके पश्चात् त्राटक (किसी वस्तुपर दृष्टि जमानेकी क्रिया) के द्वारा कूर्म-वायुको वशमें कर लेना चाहिए।

मूल-बन्धके द्वारा अपाव वायुको और जालन्धरके द्वारा समान वायुको वशमें कर लेना चाहिए। इस प्रकार सब वायुओंको जीतकर आसनोंका साधन करना चाहिए जिनका वर्णन पिछले अध्यायमें किया जा चुका है। हठयोगमें वायुको जीतना ही प्रधान है, क्योंकि जबतक देहमें वायु है तभीतक जीवन भी रहता है। इसलिये हठयोगी वायुको जीतकर सदा जीवित रह सकता है। हठयोगीको शीतलीकुम्भक, भस्त्रिका, भ्रमरीकुम्भक, मूर्च्छनाकुम्भक, संवितकुम्भक, केवलकुम्भक आदिका अनुष्ठान करना चाहिए। मुद्रामहाबन्ध, महामेघ खेचरी मुद्रा, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतीकरण, लम्बिकाच्छेदन, नादानुसंधान, आरम्भावस्था, घटावस्था परिचयावस्था, निष्ठावस्था आदिका भी अनुष्ठान करना चाहिए।

हठयोगका फल

हठयोगी पूर्वोक्त विधानसे यदि योगानुष्ठान करे तो वह समाधि लाभ करके परमात्मतत्त्वको पा जाता है। तब उसके जन्म, मृत्यु जरा, व्याधि, रोग, शोक, ताप और सुख-दुःख सबका लय हो जाता है और स्वात्माराम होकर वह परमानन्दका उपभोग करने लगता है।

हठयोगकी क्रिया किसी सिद्ध हठयोगीके निर्देशके अनुसार ही करनी चाहिए अन्यथा अनेक रोग हो सकते हैं।

मुद्राएँ

जैसे आसनों से शरीर दृढ होता है और षट्कर्मोंसे शुद्ध होता है, वैसे ही मुद्राओंसे मनमें स्थिरता आती है। यद्यपि मुद्राएँ भी असंख्य हैं तथापि यहाँ केवल गिनी चुनी महत्त्वपूर्ण मुद्राओंका ही विवरण दिया जा रहा है।

महामुद्रा

सबसे बड़ी और श्रेष्ठ होनेके कारण इसे महामुद्रा कहते हैं। इसकी विधि यह है कि बाँएँ पैरकी एड़ीको लिंग और गुदाके बीच

सीमणी योनिस्थानपर बलपूर्वक जमा कर दाएँ पैरको पृथ्वीपर लम्बा फैलाकर धीरे-धीरे पूरकके साथ मूलबंध और जालंधर बंध लगाते हुए दाँएँ पैरका अँगूठा पकड़कर जालंधर बँध लगाते हुए दाएँ पैरका अँगूठा पकड़कर मस्तकको फैले हुए पैरके घुटनेपर जमा दीजिए फिर पेटमें, पूरकसे भरे हुए वायुको (धीरे-धीरे) ऐसे फुलाइए जैसे बीन फुलाते हैं किन्तु यह कुंभक शक्तिसे अधिक नहीं करना चाहिए। फिर यथाशक्ति कुंभक होनेपर मस्तकको घुटनेसे उठाकर धीरे-धीरे रेचक करते हुए ऊपर उठकर बैठ जाइए। इसमें शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। यदि संभव हो तो मूलबंधके बिना ही कंद (नाभि) का आकर्षण विकर्षण किया जाय। कुम्भकके समय यह ध्यान करना (चाहिए) मानों मेरा प्राण कुण्डलिनीको जागरित करके सुषुम्नामें प्रवेश कर रहा है।

इस महामुद्रासे भूख लगती है, पाचन-शक्ति बढ़ती है और अनेक प्रकारके रोग दूर हो जाते हैं। यह महामुद्रा ही समाधिका मूल है।

कुछ आचार्योंके अनुसार बायें पैरकी एड़ीको गुदापर दृढ़तापूर्वक जमाकर दायाँ पैर फैलाकर कण्ठ सिकोड़कर पूरक करते हुए अपनी दृष्टि भौंहोंके बीच जमाकर दोनों हाथोंकी उँगलियोंको दाएँ पैरकी उँगलियोंपर जमाकर यथाशक्ति कुंभक करके रेचक करे।

महाबंध मुद्रा

बाएँ पैरकी एड़ीको सीमणी प्रमेह नाड़ीके ऊपर जमाकर दाएँ पगको उसपर टिकाकर सम सूत्रमें होकर जिस नथनेसे साँस चलती हो उससे पूरक करके ठोढ़ीको कन्ठ-कूपमें जमाकर और मनको मध्य नाडी सुषुम्नामें जमाकर मलद्वारसे वायुको ऊपरकी ओर खींचे और फिर कुंभक करके दूसरे नथनेसे धीरे-धीरे वायु निकाल दे।

इस मुद्रासे मृत्यु वशमें हो जाती है, इडा पिंगला और सुषुम्नाका संगम होता है, मन भौंहोंके बीच शिव-स्थानमें पहुँच जाता है, प्राण ऊर्ध्वगामी हो जाता है, रूप और जीवनमें वृद्धि होकर बुढ़ापा दूर हो जाता है।

महाभेद मुद्रा

बाएँ पैरकी एड़ीको सीमणीमें जमाकर जिस नासिकासे साँस चलती हो उससे पूरक करके जालन्धर बंध लगाकर कुंभक किया जाय फिर दोनों हाथोंकी हथेलियाँ पृथ्वीपर जमाकर हाथोंके बल ऊपर उठकर ऊपर-नीचे उठे-बैठे और यह ध्यान करे कि मेरा प्राण सूर्य-चन्द्र नाडीको छोड़कर कुण्डलिनीको जगाकर सुषुम्नामें प्रवेश कर रहा है। फिर धीरे-धीरे रेचक करके निर्विकल्प होकर बैठ जाय। इससे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, बाल काले हो जाते हैं, बुढापा दूर हो जाता है, रूप-सौन्दर्य बढ़ जाता है और शरीरके सब रोग दूर हो जाते हैं।

महामुद्रा और महाबंधके साथ यह महाभेद करनेसे अधिक फल मिलता है।

मूलबंध

गुदा और लिंग स्थानके रंध्रोंको बन्द करनेका नाम मूलबंध है। बाएँ पैरकी एड़ीसे गुदाको बन्द करके और सिकोड़ कर योनि, लिंग और कंदके भागका आकर्षण-विकर्षण किया जाय। इसीको योनि-मुद्रा भी कहते हैं। सिद्धासनसे भी यह बन्द हो जाता है। इससे अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं और जरा-मृत्युका भय नहीं होता।

उड्डियान बंध

उड्डियान बंधके द्वारा प्राण और वीर्य पक्षीके समान उड़कर मस्तकमें चढ़ने लगते हैं। इसकी विधि यह है कि दोनों हाथोंको घुटनोंपर जमाकर पेटको बलपूर्वक रीढ़की हड्डीसे ऐसा लगा दो कि पेटमें गड्ढा प्रतीत होने लगे। इस बंधसे मन्दाग्नि दूर होती है, फेफड़े शुद्ध होते हैं और जरा-मृत्युका भय नहीं रहता।

जालरंध्र या जालंधर बंध

मस्तकसे झरनेवाला अद्भुत् जलोंका समूह ही जाल कहलाता है। उसीका बंध करनेके लिये ठोढ़ीको नीचे झुकाकर कण्ठके गड्ढेमें जमाकर दृष्टिको भौंहोंके बीच टिकाकर कुंभक किया जाय। इससे कण्ठ-रोग दूर होते हैं और कण्ठ सुरीला हो जाता है। इस बंधका प्रभाव अंगुष्ठ, गुल्फ, जाँघ, उरु सीवणी, लिंग, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कण्ठ, लम्बिका, नासिका, भ्रूमध्य, ललाट, मूर्धा और ब्रह्म-रंध्रपर पड़ता है।

पृष्ठ-कण्ठ-बंध

कण्ठ-पृष्ठ-बंधके लिये मस्तकके ठीक नीचे तीन ग्रंथियोंके समूह पर सिर पीछे झुकाकर सिरके पिछले भागकी गोल गाँठकी त्रिग्रंथिपर जमा दिया जाय और आकाशकी ओर दृष्टि रक्खी जाय।

कण्ठस्कंध बंध

कंधेको बिना उठाये सिरको तिरछे झुकाकर अपने कंधेपर जमाया जाय।

चिबुकस्कंध बंध

अपनी ठोड़ीको कंधेके उस भागपर लगाया जाय जहाँ कण्ठ-कूपसे निकली हड्डी कंधेसे जा मिलती है। यह क्रिया दाएँ-बाएँ दोनों ओर करनी चाहिए।

कण्ठचक्र चिबुक-बंध

ठोड़ी झुकाकर कण्ठ-चक्रके दाएँ भागपर लगाया जाय। इसी प्रकार बाएँ भाग पर किया जाय।

बाम-दक्षिण पृष्ठ-बंध

सिरके पिछले भागमें जो दाएँ-बाएँ गाँठें हैं उनमेंसे दाईंको बाएँ कंधेपर और बाईंको दाएँ कंधेपर टिकाया जाय।

कण्ठ-चक्री बंध

कंठको चक्कर देकर घुमानेकी चेष्टा की जाय।

कण्ठाकर्षण

कण्ठको ऊपर-नीचे उठावा गिरावा ही इसमें क्रिया होती है।

स्कंध संचालन

सीधे खड़े होकर सारा शरीर स्थिर करके कंधोंको ऊपर-नीचे चलाना चाहिए।

इन सब मुद्राओंसे कण्ठके रोग दूर हो जाते हैं तथा हृदय और फेफड़े शुद्ध हो जाते हैं।

कुछ आचार्योंने कण्ठ-बंधके बदले जिह्वा-बंधका सुझाव दिया है। इसमें जीभको दाँतोंके बीच दबाकर बैठना ही विशेष क्रिया है।

योनि-मुद्रा

सिद्धासनसे सीधे बैठकर षण्मुखी मुद्रा लगाकर प्राणोंको अपानसे मिलाकर दोनोंको ऊपर खींचते हुए षट्चक्रोंका ध्यानपूर्वक हूँ हं सः शब्दका आघात करके कुण्डलिनी शक्तिको जगाकर सहस्रदलमें ले जाय और अपनेको आनन्दस्वरूप शिव समझकर निर्विकल्प हो जाय। इस योनि-मुद्रासे अन्तर्ज्योतिका साक्षात्कार होने लगता है।

शक्तिचालन मुद्रा

सिद्धासन, वज्रासन या बद्धपद्मासनसे बैठकर अपने दोनों हाथोंकी हथेलियाँ पृथ्वीपर जमाकर पृथ्वीसे उठकर वेगसे पृथ्वीपर पटका और उठाया जाय। इस क्रियासे होनेवाले कम्पनको कुछ देर देखकर मूलबंध लगाकर जिस नथुनेसे साँस चलती हो उससे पूरक करके प्राणको अपानसे मिलाकर पेटमें भली प्रकार वायु भरकर यथाशक्ति जालंधर लगाकर कुम्भक करे और इस कुंभकके बीचमें ही २०-२५ बार लिंग, गुदा, कंद और मेरुदण्डके नीचेकी त्रिसन्धि और नाभिके नीचेके ठीक मध्य भागके केन्द्रका आकर्षण विकर्षण करे। यह क्रिया कमसे कम दो घण्टे करनी चाहिए। इसके पश्चात् १०-१५ प्राणायाम करके निर्विकल्प होकर एकाग्रतापूर्वक बैठ जाइए।

इस मुद्रासे ४० दिनमें ही कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार चक्रमें पहुँच जाती है और योगी अमर हो जाता है।

त्रडागी मुद्रा

शवासनसे पृथ्वी पर चित्त लेटकर जिस नथनेसे साँस चलती हो उससे पूरक करके पेट को तालाब की भाँति फैलाकर वायुसे भरकर पेटकी वायुको हिलाया जाये और फिर वायुको निकाल दिया जाए। इससे सब रोग दूर होते हैं और जरा मृत्यु पास नहीं आती।

मानसिक बल बढ़ानेवाली मुद्राएँ

नभोमुद्रा—

ऊपरके तालुमें जीभ लगाकर वायु भरते रहना ही नभो मुद्रा है। इससे मन स्थिर होता है।

माण्डूकी मुद्रा

मुख बन्द करके जीभके मूलको तालुके ऊपरी भागसे स्पर्श कराया जाय। इस क्रियासे सहस्रदल-कमलसे झरनेवाला अमृत मिलने लगता है।

शांभवी मुद्रा

अपने दोनों नेत्रों और मनको एकरूप करके भृकुटिके बीच दृढतासे जमाकर मनकी भावना अपने आनन्दस्वरूप अन्तरात्माको देखा जाय। इस मुद्रासे शौर्य, तेज और इच्छा-शक्ति बढ़ती है।

पंचधारणा मुद्रा

पार्थिवी, आंभसी, वायवी, आग्नेयी और आकाशी मुद्राओंको सिद्ध करनेसे मनुष्य पृथ्वीमें घुस सकता है, जलमें पैठ सकता है, अग्निसे जल नहीं सकता, वायुमें उड़ सकता है और आकाशमें विहार कर सकता है। ये मुद्राएँ किसी सिद्ध योगीसे सीखनी चाहिएँ।

काकीमुख-मुद्रा

अपने मुखको कौएकी चोंचके समान बनाकर धीरे-धीरे पेटभर वायु पीकर, नाकसे वायुको निकाल दिया जाय। इस क्रियासे मनुष्य एक सहस्र वर्षतक जीवित रह सकता है।

खेचरी मुद्रा

खेचरी मुद्रा सिद्ध होनेसे मनुष्य आकाशमें उड़ सकता है और उसे तक्षकका भी विष नहीं चढ़ सकता। इस मुद्राको सिद्ध करनेके लिये पहले अपनी जिह्वाको प्रातः, दोपहर और सायंकाल मुलायम कपड़ेसे पकड़कर १५-२० बार गौ दूहनेके समान दुहना चाहिए। इस क्रियामें मक्खन लगानेसे लाभ होता है और इस दोहनके बलसे जीभ ६-७ मासमें पर्याप्त बढ़ जाती है। इस खेचरीके लिये जीभ इतनी लम्बी हो जानी चाहिए कि उसे बाहर निकालकर भौंहोंके बीच ले जाकर टिकाया जा सके।

दूसरी विधि यह है कि बहुत तीक्ष्ण और चिकने थूहेके पत्रके आकारका फौलादकी ४ अंगुलकी मूठवाला यंत्र बनाकर सप्ताहमें एक बार जीभकी जड़को रोम मात्र काटा जाय इस विधिसे दिनमें तीन बार दोहन-क्रिया करनेसे जीभ २-३ मासमें ही पर्याप्त बढ़ जायगी। इस घावको भरनेके लिये सेंधा नमक और बड़ी हल्दीका चूर्ण मलना चाहिए। नमकके बदले कत्था भी लगाया जा सकता है।

उपर्युक्त दोनों साधनोंमेंसे किसीसे भी जब जीभ बढ़कर भौहोंके बीच पहुँचने लगे तब अपनी जीभ कण्ठमें उलटकर वहाँतक ले जाकर कुभक करके जीभसे दोनों छिद्र रोककर एकाग्र मनसे चन्द्रसे झरनेवाले उस अमृतका पान किया जाय जो वाम नाडीसे ऊपर की ओरसे आता रहता है।

इस खेचरी मुद्राका अभ्यासी अजर-अमर हो जाता है।

विपरीतकरणी मुद्रा

पैर ऊपर और सिर नीचे करनेको विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। इसकी विधि यह है कि किसी एकान्त कक्षमें एक लम्बा-चौड़ा

गद्दा बिछाकर उसपर बैठकर अपने दोनों हाथोंके पंजे धरतीपर जमा दे फिर अपना सिर उसपर रखकर मस्तकके बल पैरोंको सीधे ऊपर उठा ले। फिर दोनों घुटनेको छातीके पास ले जाकर ठीक हृदयके बगलोंसे मिला दे। फिर अपनी कोहनी और कमरपर बल देते हुए दोनों पैरोंको ऊपर उठानेकी चेष्टा की जाये। जब कोहनी, कमर और पैर एक सीधमें आ जायँ तब समझना चाहिए कि विपरीत-करणी मुद्रा सध रही है। इस मुद्रासे शरीर संतुलित हो जाता है और अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

योग-साधनामें जिन मुद्राओंका प्रयोग करना पड़ता है; उन्हें संक्षेपमें इस प्रकार जाना जा सकता है—

१—मुकुल : दोनों हाथ सामने करके उँगलियोंको कुछ सिकोड़ लेना।

२—पंकज : कुछ सिकोड़ी हुई उँगलियोंको फैला देना।

३—व्याक्रोशा : मुकुलमेंसे दोनों तर्जनियोंको बाहर निकाल देना।

४—निष्ठुर : मुकुल मुद्राके दोनों अँगूठोंको मोड़कर अपनी उँगलियोंमें दबाकर और उन्हें ऊँचा करके दोनों हाथोंको परस्पर मिला लेना।

५—योग : तर्जनी तथा कनिष्ठिकाको कुछ मोड़कर हथेलीके बीचमें इस प्रकार रक्खे कि अधोमुखी उँगलियोंके नख दिखाई देते रहें, शेष चारों मध्यमाओं और अनामिकाओंको पीठमें खड़ी करके अँगूठोंको एक करके खड़ा करना।

६—महामुद्रा : मूलाधार (गुदा) को एड़ीसे दबाकर दाहिने हाथसे पाँवकी उँगली पकड़ना और गला मोड़कर भौंहोंके बीच देखना।

७-८—उड्डियान और महाखग : पेटको अन्दर धँसानेको उड्डियान और उसीको विश्राम देनेको महाखग कहते हैं। उड्डियानमें

पेट भीतर चला जाता है और नाभि ऊपर आ जाती है। उसी अवस्थामें उसे ठहराए रखनेको महाखग कहते हैं।

९—जालन्धर : कण्ठको सिकोड़कर ठोड़ीको हृदयपर टिकाना।

१०—मूलबन्ध : बाईं एड़ीसे गुदाको दबाकर मेरुदण्डकी गाँठको दबाते हुए मेरु (मूत्रेन्द्रिय) को एड़ीसे दबाना।

११—महावेध : उड्डियान मुद्रामें कुंभक प्राणायाम करना। यह मुद्रा सिद्धिकारक है।

१२—विपरीतकरणी : सूर्य नाडी (दाहिने नथने) से साँस ऊपर चढ़ाना और चन्द्रनाडी (बाएँ नथने) से साँस निकालना।

१३—वज्रोली : दोनों हाथोंकी हथेलियाँ धरतीपर टिकाकर दोनों पाँव ऊपर उठा लेना और अधरमें स्थित रहना! वज्रोली क्रिया दूसरी है जिसका विवेचन आगे किया जा गया है।

१४—मांडूकी : मुँह बन्द करके जीभको उलटकर तालुमें पहुँचाकर सहस्रारचक्रसे निकलनेवाला अमृत पीना।

१५—शाम्भवी : दोनों भौंहोंके बीच दृष्टि स्थिर करके आत्मारामका ध्यान करना।

ये सब मुद्राएँ किसी सिद्धयोगी गुरुकी देखरेखमें उनके आदेशके अनुसार ही करनी चाहिएँ अन्यथा लाभके बदले हानि अधिक हो सकती है। हठयोगकी साधना सबसे अधिक कठिन साधना है किन्तु सिद्ध हो जानेपर मनुष्य जन्म-मरण, जरा-रोग सबसे मुक्त होकर ब्रह्मस्वरूप हो जा सकता है।

मुद्राओंकी विशेषता

खेचरी मुद्राके लिये जीभको उलटकर कपालके भीतर लगाकर अपनी दृष्टि दोनों भौंहोंमें जमा ले। अपने कण्ठको सिकोड़कर दृढतापूर्वक छातीपर लगाए रखनेसे जालन्धर बन्द होता है जिससे मृत्यु नहीं होती। इससे बँधा हुआ काम जब सुषुम्नामें उठ जाता है तब उसे उड्डियान बन्ध कहते हैं। एड़ीके द्वारा गुदाको भली प्रकार दबा-

कर भीतरकी ओर खींचकर अपानको ऊपरकी ओर उठानेको योनि-बन्ध कहते हैं। फिर प्राण, अपान, नाद और बिन्दुकी एकता मूलबन्धमें सिद्ध करनी चाहिए ! इससे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इसके पश्चात् सब रोग नाश करनेवाली विपरीतकरणी मुद्राका अभ्यास करना चाहिए जिससे साधककी जठराग्नि बढ़ती है। इसके लिये प्रथम दिन क्षण भरके लिये नीचे सिर और ऊपर पैर करे। इस प्रकार क्षण-क्षण भर नित्य अभ्यास बढ़ाता रहे तो छह महीनेमें शरीरकी झुर्रियाँ दूर हो जाती हैं और केशोंकी श्वेतता दूर हो जाती है। जो व्यक्ति नित्यप्रति एक प्रहरतक उसका अभ्यास कर सके वह कालको जीत सकता है।

जो योगी बज्रोली मुद्राका अभ्यास करता है वह त्रिकालज्ञ हो जाता है और आकाशमें चलने लगता है। जो साधक नित्यप्रति अमरीका पान करता है और नाकके द्वारा उसको ऊपर सुड़ुकता है वह अमरोलीका साधक कहलाता है; वह राजयोगी हो जाता है और उसे हठयोगकी आवश्यकता नहीं होती।

योगकी किसी भी क्रियाका केवल पुस्तक देखकर या किसी असिद्ध पुरुषसे सुनकर अभ्यास नहीं करना चाहिए। आजकल बहुतसे योगी नामधारी योगकी दुकान खोलकर बैठ गए हैं और योगकी शिक्षा देते हैं, किन्तु न तो ऐसी शिक्षा देनेसे योग आता ही है और न योगकी शिक्षा ही दी जाती है। उसके लिये पात्रकी योग्यता, समर्थता और निष्ठाका भली प्रकार परीक्षण करके यदि कोई सद्गुरु योगमें प्रवृत्त करे तथा उसे ग्रहण करना और योगाभ्यास करना चाहिए अन्यथा अनेक प्रकारके ऐसे शारीरिक मानसिक अनिष्ट हो जाते हैं जिनकी कोई चिकित्सा ही नहीं हो सकती।

वज्रोली, सहजोली, अमरोली

वज्रोली

वज्रोली क्रियाके लिये पुरुष या स्त्री अपने लिंग या योनिसे धीरे-धीरे यत्नपूर्वक अपने वीर्य या रजको ऊपर खींचनेका अभ्यास करे। पुरुषको चाहिए कि यह मुद्रा साधनेके पूर्व सीसे आदि किसी हानिरहित धातुकी पतली चौदह अंगुल लंबी नली लेकर अपने लिंगके छिद्रमें प्रतिदिन दो-दो अंगुल भीतर डालनेका अभ्यास करे। जब वह नली बारह अंगुल भीतर चली जाय तब लिंगका मार्ग शुद्ध हो जाता है। फिर उसी प्रकारकी चौदह अंगुलकी दूसरी नली बनवावे जो ऊपरसे दो अंगुल मुड़ी हुई हो। उसे भी उसी क्रमसे बारह अंगुलतक लिंगके छिद्रके भीतर डाले और जो टेढ़ा भाग है, उसमें फूंक मारे जिससे लिंगका मार्ग शुद्ध हो जाय। फिर लिंगके द्वारा जलको ऊपर खींचनेका अभ्यास करना चाहिए। इसके पश्चात् अपना वीर्य ऊपर खींचनेका अभ्यास करना चाहिए। इससे वज्रोली सिद्ध हो जाती है और साधकको अणिमा आदि आठो सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसके पश्चात् नारीकी योनिमें पड़ते हुए अपये वीर्यको ऊपर खींचने या पड़े हुए बिन्दुको ऊपर खींचने और नारीका रज भी खींचकर ऊपर चढ़ा लेनेका अभ्यास करना चाहिए। इस क्रियासे योग-विद्याका भी ज्ञान हो जाता है और योगी ऊर्ध्वरेता होकर मृत्युको भी जीत लेता है। वज्रोली सिद्ध कर लेनेवाले योगीके शरीरसे दिव्य सुगन्ध निकलने लगती है। उसे कालका कोई भय नहीं रहता। वज्रोलीके लिये किसी सुवशा नारी तथा गो दुग्धका उचित प्रबन्ध होना चाहिए। यह आश्चर्यकी बात है कि जिस योगमें ब्रह्मचर्यका इतना महत्त्व बताया गया है

उसमें वज्रोली जैसी क्रियामें स्त्री समागमका विधान कर दिया गया।

सहजोली

गौके गोबरके उपलोंकी राखमें जल मिलाकर मैथुनके अनन्तर नारी और पुरुष दोनों उस भस्मको अपने मस्तक, सिर, नेत्र, हृदय, स्कंध, भुजा आदि सब अंगोंपर लगावें। यही सहजोली है। इससे आनन्द और मोक्ष प्राप्त होता है।

अमरोली

अपने बिन्दु (वीर्य) की प्रथम और अन्तिम धाराको छोड़कर चित्त आदि दोष और सारतासे रहित मध्य धाराको नासिकासे पीना ही अमरोली है, अर्थात् वज्रोलीके समय नासिकासे वीर्य पानको अमरोली कहते हैं।

नारीकी वज्रोली

जो नारी अभ्यासके द्वारा पुरुषके वीर्यको भीतर खींचकर अपने रजकी भी रक्षा करती है वह योगिनी होती है। इस प्रकार पुरुषके वीर्य और नारीके रजको भीतर ही सुरक्षित किए रखनेसे नारी सारी सिद्धियाँ तथा भूत, भविष्य, वर्तमान जान लेती है और उसे आकाशमें संचरणकी शक्ति प्राप्त हो जाती है।

योग-साधनाका परम फल

जैसे निद्राकी अवस्थामें स्वप्न देखते समय यह स्थूल शरीर तो सोया रहता है और सूक्ष्म शरीर मनके साथ इच्छानुसार विचरण करता रहता है वैसे ही शरीर छोड़ देनेपर यह ज्ञान-स्वरूप जीवात्मा या तो इन्द्रियोंके सहित फिरसे दूसरा शरीर ग्रहणकर लेता है या जैसे गहरी नींदमें सूक्ष्म शरीर भी निश्चेष्ट हुआ पड़ा रहता है, वैसे ही वह जीवात्मा भी मुक्त हो जाता है। जब मन और इन्द्रियोंके

शुद्ध और स्थिर हो जाने पर ज्ञानकी दृष्टि मिल जाती है तब ज्ञेय (जाननेके योग्य) आत्माका साक्षात्कार हो जाता है।

पाप-कर्मोंका नाश हो जाने पर मनुष्यके अन्तःकरणमें ज्ञानका वैसे ही उदय हो जाता है जैसे स्वच्छ दर्पणमें अपनी परछाईं स्पष्ट दिखाई पड़ जाती है। विषयोंकी ओरसे इन्द्रियोंको समेट रखनेसे ही मनुष्य पापरहित होकर सुखी हो सकता है, इसलिये बुद्धिके द्वारा मनको इन्द्रियोंके विषयोंकी ओरसे रोके रखना चाहिए।

इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे ज्ञान श्रेष्ठतर है और ज्ञानसे परात्पर परमात्मा श्रेष्ठ है। सारा ज्ञान उसी अव्यक्त परमात्मासे प्रसारित हुआ है। इस ज्ञानसे बुद्धि, और बुद्धिसे मन प्रकट हुआ है जो सब इन्द्रियोंसे सम्बद्ध होकर सब विषयोंका अनुभव करता है। इसलिये जो पुरुष सब विषयों, उनके आश्रय बने हुए सब तत्वों, स्थूल भूतों और प्राकृत गुणोंसे सम्बन्ध तोड़ लेता है, वह अमृत स्वरूप परमात्माको प्राप्तकर लेता है। परमात्माका साक्षात्कार कर लेने पर विषयोंके प्रति मनुष्यकी सारी आसक्ति अपने आप दूर हो जाती है। जब बुद्धि कर्मसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंसे छूटकर हृदयमें जा स्थित होती है, उस समय जीवात्मा ब्रह्ममें लीन होकर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। उस परमात्मामें स्पर्श, श्रवण, रसन, दर्शन, ध्यान और संकल्प-विकल्प कुछ भी नहीं है इसलिये उसमें केवल विशुद्ध बुद्धि ही प्रवेशकर पाती है। इसका क्रम यह है कि जब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका मनमें लय हो जाता है और मनका बुद्धिमें तथा बुद्धिका ज्ञानमें लय हो जाता है तब ज्ञानका परमात्मामें लय हो जाता है। यह जान लेना चाहिए कि इन्द्रियाँ मनको नहीं जानती, मन बुद्धिको नहीं जानता और बुद्धि उस सूक्ष्म अव्यक्त आत्माको नहीं जानती किन्तु अव्यक्त आत्मा इन सबको देखता और जानता है।

दुःखसे छुटकारा

मनुष्यपर जब कोई शारीरिक या मानसिक दुःख आ पड़े तो उससे छुटकारा पानेका एकमात्र उपाय यही है कि उसका चिन्तन ही न किया जाय। इनमेंसे मानसिक दुःखको तो बुद्धि-विचार और विवेकसे दूर किया जाय और शारीरिक दुःखको औषधियोंसे। यौवन, रूप, जीवन धन, आरोग्य और प्रिय जनोंका मिलना सब अनित्य और नाशवान् है इसलिये उनमें आसक्ति होनी ही नहीं चाहिए। जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंको छोड़ देता है वह अक्षय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, इसीलिये ज्ञानी पुरुष कभी शोक करते ही नहीं। जिस समय बुद्धि सब प्रकारके कर्म-संस्कारोंसे मुक्त होकर हृदयमें जा स्थित होती है उसी समय ध्यान-योगसे उत्पन्न समाधिके द्वारा ब्रह्मका ज्ञान और साक्षात्कार भली भाँति हो जाता है, क्योंकि जब साधक ध्यानके द्वारा सबके मूल कारण उस निर्गुण ध्येय (ध्यान करने योग्य) परमात्माको अन्तःकरणमें प्राप्त कर लेता है तभी ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो पाता है। जब साधक अपनी समस्त इन्द्रियोंको रोककर दृढ संकल्प करके मनमें स्थित होकर उन सब इन्द्रियों और मनको हृदयमें एकत्रकर लेता है तब साधक उससे भी परे विद्यमान परमात्माको प्राप्त कर लेता है। जैसे गुणोंका क्षय होने पर पञ्च महाभूत समाप्त हो जाते हैं, वैसे ही बुद्धि भी सब इन्द्रियोंको समेटकर हृदयमें स्थित हो जाती है। जब यह निश्चयात्मिका बुद्धि अन्तर्मुखी होकर हृदयमें स्थित हो जाती है तब मन विशुद्ध हो जाता है। इस प्रकार विशुद्ध मन जब इन्द्रियोंके गुणोंसे छूटकर परमात्माके ध्यानसे उत्पन्न गुणोंसे सम्पन्न हो जाता है तब वह निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। इसलिये मनुष्यको तपसे, शम आदि गुणोंसे तथा शास्त्रोंके स्वाध्यायसे अन्तःकरणको विशुद्ध करके परब्रह्मको प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। जब बुद्धि सभी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुणोंसे सम्बन्ध तोड़ लेती है, तब वह स्वभावतः

निर्गुण होनेके कारण ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जाती है। केवल ऐसे विरक्त पुरुष ही आत्म-ज्ञान प्राप्त करके मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर पाते हैं।

जब मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके साथ, कर्ण, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका नामक पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मनको वशमें कर लेता है तब उसे सर्वत्र व्याप्त परब्रह्मका साक्षात्कार होने लगता है। ज्ञान, फल, ज्ञेय, कर्म इनका अन्त होने पर ही शेष जो सर्वव्यापक होकर बचता है वही तो ज्ञेयमें व्याप्त होकर स्थित ज्ञान स्वरूप परमात्मा है। केवल योगी ही उस परम तत्त्वको देख पाते हैं जिसका न कोई आदि है, न मध्य है, न अन्त है और इसीलिए वह अविनाशी, सब दुःखोंसे परे परब्रह्म, परमधाम और परमपद है। जब जीव उन्हें प्राप्तकर लेता है तब वह कालकी सीमासे बाहर होकर मोक्ष या ब्रह्ममें स्थित हो जाता है। वह परब्रह्म अनादि और अनन्त होनेके कारण अक्षय और अविनाशी है। उसमें हर्ष और शोक आदि कोई द्वन्द्व नहीं है इसलिये वह सबसे परे है। वह परब्रह्म परमात्मा सर्वश्रेष्ठ और गुणातीत है। ध्यानके द्वारा मनको शुद्ध और सूक्ष्म करके परमात्माके स्वरूपका अनुभव तो किया जा सकता है किन्तु वाणीके द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उस ज्ञेयको तो ज्ञानके द्वारा ही जाना जा सकता है इसलिये ज्ञानसे बुद्धिको, बुद्धिसे मनको मनसे इन्द्रियोंको निर्मल और शुद्ध करके ही अविनाशी परमात्माको प्राप्त किया जा सकता है। विशुद्ध और सूक्ष्म बुद्धि वाला मनुष्य ही अपने मानसिक बलसे उस निर्गुण ब्रह्मको प्राप्तकर पाता है। जब साधक साधन वाले गुणोंको धारण करके सांसारिक पदार्थोंसे मन हटा लेता है तब उसका मन निरन्तर निर्मल होता चलता है। ऐसा करते-करते जब साधक गुणोंसे अतीत हो जाता है तब ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है। जिसके हृदयसे सब प्रकारके भेद-भाव दूर हो गए हों वही मुनि उस अविनाशी, निर्गुण ब्रह्ममें प्रवेश

कर पाता है। जब मनुष्य उस परमात्माका ज्ञान प्राप्तकर लेता है जो कहींसे आया नहीं है, नित्य विद्यमान है, जहाँ तक केवल पुण्यवान् लोग ही पहुँच पाते हैं, जो स्वयंभू (अजन्मा) है, जिससे सबकी उत्पत्ति होती है और जिसमें सबका लय होता है, जो अविनाशी, सनातन, अमृत, अविकारी और अचल है; तब परब्रह्मको और परम-मोक्षको प्राप्तकर ही लेता है।

जो योगी मनके द्वारा संकल्पसे ही ईश्वरीय गुण पाना चाहता है वह उस आत्मप्रसादको प्राप्तकर लेता है क्योंकि सम्पूर्ण देवता आत्मामें ही तो स्थित है। अतः आत्माको अवश्य जानना चाहिए जिसके प्रभावसे मन सम्पूर्ण भूतोंमें व्याप्त है।

इस प्रकार तपस्यासे भरा हुआ मन अज्ञानके अन्धकारसे ऊपर उठकर सूर्यके समान ज्ञानमय प्रकाशसे प्रकाशित होने लगता है। यह जीवात्मा तीनों लोकोंका कारण भूत ब्रह्म ही तो है जो अज्ञान दूर हो जानेपर महेश्वर (विशुद्ध परमात्मा) रूपसे प्रतिष्ठित हो जाता है। इस ब्रह्मतत्त्वको न तो देवता ही समझ सके न असुर ही, केवल तत्त्वज्ञ पुरुष ही इस ज्ञान स्वरूप परब्रह्मको जानते, पहचानते और समझते हैं। ब्रह्म तो सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंसे परे, अक्षर अमृत, स्वयं-प्रकाश और ज्ञान-स्वरूप है। उसे केवल वे ही लोग जानते और उस परमगति (पहुँचनेका सबसे अन्तिम लक्ष्य) प्राप्त करते हैं, जो शुद्ध अन्तः करण वाले महात्मा होते हैं। केवल ज्ञानमयी दृष्टि वाले महापुरुष ही ब्रह्मके विषयमें ठीक-ठीक जान सकते और बता सकते हैं या जिन्होंने अपने मन और इन्द्रियोंको सब ओरसे हटाकर एकाग्रचित्त होकर चिन्तन करना प्रारम्भ किया है वे ब्रह्मका साक्षात्कार कर पा सकते हैं।

तप और उसका महत्त्व

जो मनुष्य दिव्य सम्पत्ति अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहता है उसे अपना मन शुद्ध रखना चाहिए और निर्दोष तथा कठोर तप

करके शरीरसे तितिक्षा (भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी सह सकनेकी शक्ति) साधनी चाहिए। इस तपसे रजोगुण और तमोगुण नष्ट हो जाते हैं और ज्ञानस्वरूप प्रकाश प्राप्त होने लगता है। यह ज्ञान-स्वरूप प्रकाश ही ब्रह्म है।

इस तपका स्वरूप समझ लेना भी आवश्यक है। ब्रह्मचर्य और अहिंसा तो शारीरिक तप कहलाते हैं। मन और वाणीके संयमको मानसिक तप कहते हैं। इसीलिये कहा गया है कि पवित्र जीवन धारण करनेवालोंसे ही अन्न ग्रहण करना चाहिए अन्यथा रजोगुण और तमोगुण उत्पन्न होनेकी आशंका बनी रहती है। पवित्र व्यक्तिके अन्नका भोजन करनेसे रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला पाप शान्त हो जाता है, साधककी इन्द्रियाँ भी विषयोंकी ओरसे हट जाती हैं किन्तु उसे उतना ही अन्न ग्रहण करना चाहिए जितना जीवन-रक्ष के लिये आवश्यक हो। इस प्रकार योग-युक्त मनके द्वारा धैर्यके साथ ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मका साक्षात्कार करना चाहिए। ऐसे योग-परायण योगीकी बुद्धिमें किसी प्रकारका कार्य करनेमें बाधा नहीं होती। वैराग्यके कारण वह अपने स्वभावमें स्थित हो रहता है। उसे रजोगुण छू तक नहीं पाता और देहधारी होनेपर भी वह शब्दके समान निर्बाध गतिसे जहाँ चाहे वहाँ विचरण कर सकता है।

इस प्रकारकी साधनासे जिन्हें ब्रह्मका साक्षात्कार हो चुका रहता है और जिन्हें ब्रह्म-ज्ञान मिल चुका रहता है उनके सब प्राक्तन कर्म अर्थात् प्रारब्धके बन्धन समाप्त हो जाते हैं।

ब्रह्मसाक्षात्कारके अन्य उपाय

ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये एक उपाय यह भी है कि बुद्धिके सहारे अपने चित्तको सब विषयोंसे हटाकर दृढ आसन लगाकर अपनेको भली-भाँति स्थिर करके सब इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटाकर ब्रह्मकी उपासना की जाय।

कुछ लोगोंके अनुसार शास्त्रमें बताए हुए क्रमसे तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके बुद्धिके द्वारा भी ब्रह्मका अनुभव किया जा सकता है।

जिस व्यक्तिने योगके द्वारा अपनी बुद्धि शुद्ध कर ली है ऐसा योगी अपनी ही शक्तिसे ब्रह्ममें स्थित हो जाता है, स्वयं ब्रह्म बन जाता है।

इसी प्रकार कोई तो योगकी साधना करके निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार करते हैं, कोई सगुण ब्रह्मकी उपासनाके द्वारा सगुण ब्रह्मका सान्निध्य प्राप्त करते हैं और कोई बिजलीके समान ज्योतिर्मय और अविनाशी परब्रह्मका चिन्तन करके उसीके साक्षात्कारका आनन्द लेते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो तपस्याके द्वारा ही अपने सब पापोंको जलाकर अन्तकालमें उस ब्रह्मका साक्षात्कार करने लगते हैं जो नित्य, मुक्त, अपरिग्रह, आकाशसे भी विलक्षण होता है।

जिनका मन निरन्तर ज्ञानकी साधनामें लगा रहता है, वे संसारके सब बन्धनोंसे मुक्त और रजोगुणसे रहित होकर स्वयं ब्रह्म हो जाते हैं।

कुण्डलिनी-योग (तांत्रिक योग)

यदि कोई श्रेष्ठ गुरु मिल जाय तो हठ-योगकी अपेक्षा कुंडलिनी-योग इतना अधिक सरल है कि तीनसे छह महीनेके भीतर शिव-सायुज्य और ब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त हो सकता है। यह बताया जा चुका है कि मनुष्यके शरीरके सारे अंगोंमें ७२ हजार नाडियाँ हैं जिनमेंसे-प्राण शक्तिको वहन करनेवाली केवल १० ही नाडियाँ है। राजयोग या हठयोगके योगाभ्यासीको निम्नांकित दस नाडियोंका और उनमें चलनेवाले प्राणोंका पूर्ण ज्ञान होना ही चाहिए—

१. इडा २. पिङ्गला ३. सुषुम्णा ४. गान्धारी ५. हस्तिजिह्वा ६. पूषा ७. यशस्विनी ८. अलंबुषा ९. कुहू और १०. शंखिनी।

मानव-शरीरमें इन दस नाडियोंका, लिङ्ग महापुराण तथा गोरक्षपद्धति (श्लोक २९-३१) के अनुसार इस प्रकार है—

१. इडा नाडी मेरुदण्डके वाहर, अन्तमें नीचे बाईं ओर (मूलाधार चक्रके त्रिकोणकी बाईं तरफ़) से प्रारम्भ होकर बाईं नाकमें समाप्त हो जाती है तथा इसका प्रवाह ऊपरको है।

२. पिङ्गला नाडी मेरुदण्डके वाहर नीचे दाहिनी ओर (मूला-धारचक्रके त्रिकोणकी दाहिनी ओर)-से प्रारम्भ होकर दाहिनी नाकमें समाप्त हो जाती है तथा इसका प्रवाह ऊपरको है।

३. सुषुम्णा नाडी मेरुदण्डको पिरोए हुए उसके मध्य (मूलाधार-चक्रके त्रिकोणके मध्य पश्चिम) से प्रारम्भ होकर ब्रह्मरन्ध्र (मस्तिष्कके अन्दर) पर्यन्त मृणालतन्तुके समान सूक्ष्म और ज्वाला-सी उज्वल प्रकाशमान् परा नाडी है। इसीके अन्दर षट्चक्र हैं और इसके द्वारा ही अखण्ड ब्रह्मानन्दपद मिलता है। ये तीन नाडियाँ १. इडा २. पिङ्गला और ३. सुषुम्णा मूलाधारमें जो अण्डक त्रिकोण

है, उसीमेंसे प्रारम्भ होती हैं और इन्हींमेंसे प्राणकी तरंगोंका मार्ग है। इसीलिये ये योगियोंके लिये परमावश्यक तथा ज्ञातव्य हैं।

इसी सुषुम्णा नाडीको अलग-अलग योग-ग्रन्थोंमें शून्य पदवी, ब्रह्मरन्ध्री, महापंथी, शाम्भवी, श्मशानी इत्यादि नामोंसे कहा है। (हठयोगप्रदीपिका अ० ३ श्लोक ४) और ये ही मुख्य हैं।

सुषुम्णैव परं तीर्थं सुषुम्णैव परो जपः।
सुषुम्णैव परं ध्यानं सुषुम्णैव परा गतिः॥

(योगशिखोपनिषद्)

(सुषुम्णा ही परम तीर्थ है, सुषुम्णा ही परम जप है, सुषुम्णा ही परम ध्यान है और सुषुम्णासे ही परा गति मिलती है।) इसी नाडीके अन्दर वज्रा नाडी है जिसके अन्दर चित्रा नाडी और उसके अन्दर ब्रह्म नाडी है। वज्रा, चित्रा तथा ब्रह्म नाडियाँ मृत्यु होनेपर अदृश्य हो जाती हैं।

४. गान्धारी बाएँ नेत्रमें हैं।
५. हस्तिजिह्वा नाडी दाहिने नेत्रमें हैं।
६. पूषा दाहिने कानमें हैं।
७. यशस्विनी नाडी बाएँ कानमें है।
८ अलंबुषा नाडी मुखमें है।
९. कुहू नाडी लिङ्गमें है।
१०. शंखिनी नाडी गुदामें है।

षट्चक्र

इडा और पिंगला नाडियाँ ऊपरको चलती हुई रीढ़की हड्डीके बाहरकी ओर दाएँ-बाएँ पाँच स्थानोंपर मिलती हैं। जिस-जिस स्थानपर वे मिलती हैं उस-उस स्थानपर रीढ़की हड्डीके भीतरकी सुषुम्णा नाडीके भीतर पाँच चक्र बन जाते हैं। सुषुम्णा नाडीके भीतर भौहोंके बीचमें पीछेकी ओर छठा आज्ञा चक्र है। ये छह चक्र हैं—

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर; अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा।

इन छह चक्रोंके ऊपर रीढकी हड्डीके सबसे ऊपरी सिरेपर जहाँ सुषुम्णाका अन्त होता है, वहाँ सहस्र दलवाला सहस्रार चक्र है। इसी सहस्रारमें ऊपरकी ओर प्रथम गुहामें परम शिवका निवास है। इन छह चक्रोंकी अधिष्ठात्री शक्ति कुण्डलिनी है। (रुद्रयामल उत्तरखण्ड २१ वाँ पटल षट्-चक्र-निरूपण)

मूलाधार चक्र

मेरुदण्ड या रीढ़की हड्डीके भीतर सबसे निचले छोरपर गुदा और लिङ्गकी जडके कुछ नीचेके मध्यमें स्थित सुषुम्णा नाडीमें मूलाधार चक्र है जिसे मुक्त त्रिवेणी भी कहते हैं। यहाँ अण्डाकार चार दलवाला त्रिकोण है, जिसका तत्त्व पृथ्वी, रंग पीत, बीज लं, देवता गणेश, शक्ति डाकिनी और अधिष्ठातृ देव ब्रह्मा हैं। इस त्रिकोणके मध्य मेरुदण्डके सबसे निचले भागमें बन्द कलीके समान एक लिंग है जिसमें अत्यन्त सूक्ष्म एक छिद्र है जो सुषुम्णा नाडीका मुख कहलाता है। इस बन्द कलीके समान लिंगको ही स्वयंभू लिंग कहते हैं जिसके चारों ओर साढ़े तीन फेरे देकर कसकर लिपटी हुई अत्यन्त तेजस्वी सुनहरे रंगकी चमचमाती, सर्पके समान स्वरूपवाली, अपनी पूँछको मुखमें डाले सुषुम्णा नाडीको रोके पड़ी हुई जीव-शक्ति ही सुप्त कुण्डलिनी है।

समस्त जगत्को चलाए रखनेवाली तो महाकुण्डलिनी कहलाती है और किसी एक मानव जीवको चलानेवाली कुण्डलिनी कहलाती है। (योगकुण्डल्युपनिषद्)। यह कुण्डलिनी ही ओंकार-स्वरूपवाली, व्यापक परब्रह्मके स्वरूपवाले प्रत्येक व्यक्तिकी देहमें केन्द्रीभूत ऐसी जीवन-शक्ति है जो षट्-चक्रोंके द्वारा ७२ हजार नाडियोंका संचालन करती हैं (हठयोगप्रदीपिका ३।२)। जबतक यह कुण्डलिनी नहीं जागती तबतक सारी क्रियाएँ व्यर्थ हैं। जो व्यक्ति

इस कुण्डलिनीको जगाकर षट्चक्र-भेदनकी क्रिया जान जाता है, वही सच्चिदानन्द परब्रह्मका साक्षात्कार कर पाता है और वही वास्तविक योगी है। कुण्डलिनीको जो सर्पके समान कुण्डली मारे सोई हुई बताया गया है वह वास्तवमें सोई हुई प्राण-शक्ति है और वही परा शब्द-स्वरूपा ओंकारका स्वरूप है। अ + उ + म + अर्ध मात्रा ही उस कुण्डलिनीके साढ़े तीन फेरे हैं। इन चारों वर्णोंमेंसे अ का अर्थ है अग्नि, उ का अर्थ है वायु, म का अर्थ है सूर्य और अर्ध मात्राका अर्थ है वारुणी (अमृत)। इन चारोंके भी तीन-तीन भाग हैं जिनसे बारह मात्राओंवाली ओंकार कुण्डलिनी बनती है —

> पोषणी प्रथमा मात्रा, विद्युन्माला तथा परा।
> पतङ्गी च तृतीया स्याच्चतुर्थी वायुवेगिनी॥
> पंचमी नामधेया च षष्ठी चैन्द्री विधीयते।
> सप्तमी वैष्णवी नाम शङ्करी च तथाष्टमी॥
> नवमी महती नाम ध्रुवेति दशमी मता।
> एकादशी भवेत् मैनी ब्राह्मीति द्वादशी मता॥

इस कुण्डलिनी-योगका ज्ञान केवल सिद्ध योगी गुरुसे ही सीखा जा सकता है।

कुण्डलिनीके जागनेपर जो बड़े वेगसे विस्फोट होता है उसीको नाद कहते हैं और जैसे बादलकी गरजके साथ बिजली चमकती है वैसे ही नादसे जो प्रकाश होता है उसे बिन्दु कहते हैं। नाद ही शब्द-ब्रह्म या ओंकार है और वह ओंकार ही कुण्डलिनी-स्वरूपा आज्ञा-चक्रका बीज है। मदाम ब्लैवेत्स्कीने तो यहाँतक बता दिया कि इस दिव्य प्रकाशकी गति तो १८५००० मील प्रति सैकेण्ड है पर कुण्डलिनीकी गति ३५५००० मील प्रति सेकेण्ड है और यह सार्वभौम शक्ति (कोसमिक इनर्जी) है।

स्वाधिष्ठान चक्र

लिङ्गकी जड़के ऊपर मेरुदण्डके भीतर सुषुम्णामें स्वाधिष्ठान चक्र है जो छह दलोंवाले कमलके समान है। इसका तत्त्व जल, रंग

जल-सदृश, बीज वं, शक्ति राकिनी और अधिष्ठातृ देव विष्णु हैं। इस चक्रसे अपान प्राणका संचालन होता है।

मणिपूर चक्र

नाभिके पीछे मेरुदण्डके भीतर सुषुम्णामें यह दस दलोंवाले कमलका चक्र है। इसका तत्त्व अग्नि, गुण, रूप और रंग अग्निके सदृश, बीज रं, शक्ति लाकिनी और अधिष्ठातृ देवता रुद्र हैं। यह चक्र समान प्राणका संचालक है।

अनाहत चक्र

हृदयके सामने मेरुदण्डके भीतर सुषुम्णामें १२ दलोंवाले कमलके समान अनाहत चक्र है जिसका तत्त्व वायु, गुण स्पर्श, रंग धुएँके समान, बीज यं, शक्ति काकिनी और अधिष्ठातृ देव ईश्वर हैं। इसमें एक लिङ्ग है जिसे बाण-लिङ्ग कहते हैं। इस बाणलिङ्गके ऊपर एक अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र है जिसपर हृत्पुण्डरीक कमल है। इसीपर योगी अपने उपास्य देवताका ध्यान किया करते हैं। यह चक्र समान प्राणका संचालन करता है।

विशुद्ध चक्र

कण्ठकी जड़में मेरुदण्डके भीतर सुषुम्णामें १६ दलोंवाले कमलके समान विशुद्ध चक्र है जिसका तत्त्व आकाश, गुण शब्द (स्वर), रंग धुएँ-जैसा, बीज हं, शक्ति शाकिनी और अधिष्ठातृ देवता सदाशिव हैं। यह चक्र ब्रह्म-द्वार कहलाता है और उदान प्राणका संचालन करता है।

आज्ञा चक्र

भौहोंके पीछे बीचमें मेरुदण्डके ऊपरी भागमें सुषुम्णाके ऊपरी सिरेपर दो दलोंवाले कमलके समान आज्ञाचक्र है। उन दोनों दलोंकी बग़लमें आगेकी ओर पाताल-लिङ्ग (शालग्राम) और

इतर लिङ्ग है। इसका तत्त्व महत्तत्त्व है, गुण नाद और उसके ऊपर बिन्दु, रंग श्वेत, बीज ॐ, शक्ति हाकिनी (सिद्धवाली) और अधिष्ठातृ देव शम्भु या ज्योतिष्मान् बिन्दु है। जाबालोपनिषद्में इसीको अविमुक्त काशी बताया है। इसका तेज सूर्य और चन्द्रके सम्मलित तेजसे भी कहीं अधिक है। योगी लोग उसी तेजका ध्यान करते हैं (कठोपनिषद् ५।१५) जिसे अन्धकारमें असंख्य ज्योति कहा गया है। इसी स्थानपर योगियोंको परमेष्ठि गुरु परब्रह्मकी आज्ञा प्राप्त होती है, इसीलिये इसे आज्ञा चक्र कहते हैं। इसी कमलके पीछे चतुर्थ गुहा है।

सहस्रार चक्र

आज्ञाचक्रके ऊपर एक सहस्रदलवाले कमलके समान वह चक्र है जहाँ कुण्डलिनी छहों चक्रोंके तत्त्वोंको क्रमशः बेधती हुई अर्थात् उन्हें अपनेमें लय करती हुई अपने मुख्य लक्ष्य सहस्रारमें जा पहुँचती है। इसीलिये इस प्रक्रियाको लय-योग कहते हैं। इस चक्रको सहस्रार इसलिये कहते हैं कि छहों चक्रोंके कमलदलोंपरसे होती हुई कुण्डलिनीके ऊपर जाने और फिर उसी मार्गसे होकर मूलाधारमें लौटनेतकके कमलके दलोंकी संख्या सौ (१००) होती है जिसे दसों इन्द्रियोंके गुणोंसे गुणा करनेपर एक सहस्र संख्या प्राप्त हो जाती है। इसी सहस्रार चक्रपर पहुँचकर सदाशिवसे कुण्डलिनीका पूर्ण अभेदात्मक मिलन हो जाता है और इसी स्थानपर सारे विश्वके रचयिता, परा प्रकृति, पर पुरुष या परब्रह्म शाश्वत रूपसे निवास करते हैं। इसी स्थानपर योगी अपनेको भली प्रकार जानकर समाधिके द्वारा परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है। ऊपर जिन कमलोंका वर्णन किया गया है, ये सबके सब नीचेकी ओर झुके और अनखिले रहते हैं। जब योगी कुण्डलिनीको जगाकर उसे इनपरसे होते हुए सहस्रारमें ले जा पहुँचाते हैं तब ये सब खिल उठते हैं और योगी परमपद या ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।

कुण्डलिनीको जगाकर छहों चक्रों तथा तीनों बाणलिङ्गोंको बेधकर सहस्रारमें पहुँचानेके लिये योगीको अष्टाङ्गयोगका अभ्यास करना चाहिए। यह स्मरण रखना चाहिए कि जबतक षट्चक्र-वेध पूर्ण नहीं होता तबतक चित्त किसी एक चक्रपर स्थित नहीं होता। अतः, षट्चक्र-वेध पूर्ण करनेपर ही धारणा होती है।

पहले भी बताया जा चुका है कि योगका अभ्यास चाहे वह राजयोग हो या हठयोग हो या कुण्डलिनी-योग हो, सद्गुरुकी सहायताके बिना कभी प्रारम्भ नहीं करना चाहिए, अन्यथा निश्चित रूपसे हानि होती है, किन्तु जब गुरुकी कृपासे कुण्डलिनी जाग जाती है तब छहों चक्र भिन्न हो जाते अर्थात् खिल उठते हैं और ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र रूपी तीनों ग्रन्थियाँ (बाण) खुल जाती हैं।

अष्टांग योग (कुण्डलिनी-उत्थान-क्रिया)

कुण्डलिनी-योगमें कुण्डलिनी (आत्मा) को परब्रह्म परमात्मामें लय करके परमानन्द प्राप्त किया जाता है। सोई हुई कुण्डलिनीको जगाकर षट्चक्रों तथा तीनों बाणलिङ्गोंको वेधकर सहस्रारमें पहुँचानेके लिये अष्टाङ्गयोग (आठ अंगोंकी क्रिया करना) आवश्यक है। ये आठ अंग योगके प्रकरणमें बताए जा चुके हैं। इनमेंसे १. यम २. नियम ३. आसन (मुद्रा, बन्ध, वेध), नामक तीनों क्रियाएँ तो स्थूल कहलाती हैं। इसके पश्चात् ४. प्राणायाम (स्वरोदय-ज्ञान) ५. प्रत्याहार ६ धारणा (षट्चक्रभेद तथा नादानुसन्धान) ७. ध्यान और ८. लय क्रिया (समाधि) सूक्ष्म कहलाती हैं।

स्थूल क्रिया

यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहको यम कहते हैं।

किसी भी प्राणीको मन वचन या कर्मसे न डराना, न कष्ट देना ही अहिंसा है। यह योग-साधनका आधार है। अहिंसा दृढ होनेपर सब प्राणी उस योगीके आत्मीय हो जाते हैं।

सदा हितकर, प्रिय और यथार्थ वचन कहना तथा निष्कपट व्यवहार करना ही सत्य कहलाता है। जिसका सत्य सिद्ध हो जाता है उसे वरदान या शाप देनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है।

मन, वचन और कर्मसे दूसरेका द्रव्य पाने, चुराने, छीनने या ग्रहण करनेकी इच्छा न होना ही अस्तेय है। अस्तेय सिद्ध हो जानेपर योगीको सब प्रकारके रत्नोंकी जानकारी हो जाती है।

कर्म, वचन और मनसे सब प्रकारके आठों मैथुनोंको त्याग देनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं। १. किसी स्त्रीका स्मरण २. किसी स्त्रीके विषयमें उसके गुणोंका वर्णन, ३. किसी स्त्रीसे हँसी-ठट्ठा, ४. किसी स्त्रीको रागपूर्वक देखना, ५. किसी स्त्रीसे एकान्तमें बातचीत करना, ६. किसी स्त्रीसे मिलनेका संकल्प करना, ७. मैथुनका प्रयत्न, ८. प्रत्यक्ष मैथुन ही आठ मैथुन हैं। जो गृहस्थ ऋतुकालमें ही अपनी धर्मपत्नीसे सहवास करता है वह भी ब्रह्मचारी ही होता है।

अपने लिये धन, सम्पत्ति तथा अन्य प्रकारके भोग - विषयोंका सर्वथा त्याग कर देना ही अपरिग्रह कहलाता है। अपरिग्रह सिद्ध होनेपर योगीको अपने तथा दूसरोंके पूर्व जन्मका ज्ञान हो जाता है।

श्रीमद्भागवत (११।१९) में १२ प्रकारके यम गिनाए गए हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंग, लज्जा, अपरिग्रह, अनासक्तिता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा, अभय। इसीसे मिलते-जुलते १० यम हठयोगप्रदीपिकामें भी गिनाए गए हैं (उपदेश–१ श्लोक–१)

नियम

(१) शौच (२) सन्तोष (३) तप (४) स्वाध्याय (५) ईश्वर-प्रणिधान ये पाँच नियम हैं।

जलसे शरीरकी, सत्यसे मनकी, विद्या और तपस्यासे आत्माकी और ज्ञानसे बुद्धिकी शुद्धिको शौच कहते हैं। इससे मन प्रसन्न रहता, चित एकाग्र होता, इन्द्रियाँ वशमें हो जातीं तथा ब्रह्मसाक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

जीवन-निर्वाहकी कमसे कम सामग्री और परिस्थितिसे ही संतुष्ट हुए रहनेको सन्तोष कहते हैं। इससे मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।

मिताहार करते हुए अपने धर्मका विधिपूर्वक पालन करके व्रत-उपवासके द्वारा भूख, प्यास, गर्मी आदिको सहन करनेको तप कहते हैं। तपके प्रभावसे सब दोषोंका नाश हो जाता है तथा शरीर और इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं।

वेद, शास्त्र, तन्त्र आदि मोक्षशास्त्रोंका पाठ और अध्ययन तथा ओंकार और अपने इष्ट देवता का मानस जप करना ही स्वाध्याय है। इससे इष्ट देवताका साक्षात्कार होता है।

मन, वचन और कर्मसे अपना सब कुछ ईश्वरको अर्पित करके सर्वतोभावेन यह कहकर कि जो चाहे, करो (यथेच्छसि तथा कुरु) अपनेको ईश्वरके हाथ सौंप देना ही ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। ऐसा होनेपर समाधि भी सिद्ध हो जाती है।

याज्ञवल्क्यने निम्नांकित १० नियम बताए हैं—(१) तप (२) सन्तोष (३) आस्तिक्य (ईश्वरमें विश्वास) (४) दान (५) ईश्वर-पूजन ६) सिद्धान्त-श्रवण (७) ह्री (अपनी प्रशंसासे लज्जित और संकुचित होना) (८) मति (९) जप (१०) हुत (यज्ञ)। हठ-योग प्रदीपिका और लययोग-संहितामें भी ये ही १० नियम बताए गए हैं।

आसन, मुद्रा, बन्ध, वेध

आसन

आसनका एक अर्थ वह स्थान है जिसपर बैठकर साधना की जाती है और दूसरा अर्थ बैठनेका वह ढंग है जिसमें योगी स्थिरता-पूर्वक सुखसे बैठकर अपनी यौगिक क्रियाएँ कर सके।

किसी चौकीपर कुशाका आसन बिछाकर, उसपर मोटा ऊनी वस्त्र या कम्बल बिछाकर, उसपर मोटा श्वेत सूती वस्त्र डालकर और उसके ऊपर श्वेत रेशमी वस्त्र या मृग-चर्म बिछाकर योगाभ्यासके लिये बैठना चाहिए। अन्य ग्रन्थोंके अनुसार चौकीपर कुशासन, मृगचर्म और सूती वस्त्र बिछाकर ही योगाभ्यास करना चाहिए जिससे कि साधनाके समय शरीरमें उत्पन्न विद्युत् तेज पृथ्वीमें न विलीन हो पावे अन्यथा सारी साधना निष्फल हो जाती है।

योगाभ्यास करनेके लिये सुखपूर्वक बैठनेकी मुद्राको आसन कहते हैं। घेरण्डसंहितमें ८४ आसन बताए गए हैं जिनमेंसे ३२ अधिक लाभ-दायक और सुखकर हैं किन्तु उनमेंसे केवल तीन आसन ही कुण्डलिनी-योगके लिये उचित माने गए हैं—सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन (लययोग अध्याय—८)

सिद्धासन

बाएँ पैरकी एड़ीसे गुदा और लिंगके बीच कुण्डलिनीके स्थानको दबाकर दाहिने पैरकी एड़ीसे लिङ्गके ऊपरके भागको दबाया जाय जिससे दोनों पैरोंकी एड़ियाँ समान रूपसे ऊपर नीचे हो जायँ फिर मेरुदण्ड सीधा रखकर ठोड़ी आगे झुकाकर छातीसे लगाकर, एकाग्र होकर दोनों नेत्रोंको स्थिर दृष्टिसे दोनों भौहोंके बीचके भागको देखते रहा जाय। इस आसनकी सिद्धिसे तीनों बन्ध सिद्ध हो जाते हैं।

पद्मासन

बाएँ पैरको दाहिनी जाँघके मूलपर रक्खा जाय और दाहिने पैरको बाएँ पैरके मूलपर रक्खा जाय। बाएँ हाथको बाएँ जंघेपर दाएँ हाथको दाएँ जंघेपर, दोनों हाथोंकी हथेलियोंको ऊपरकी ओर और दोनों हाथोंके अँगूठे अपनी तर्जनी अँगुलीसे मिलाकर रक्खे जायँ, अपनी ठोड़ी आगे झुकाकर छातीसे लगाकर मेरुदण्डको सीधा रक्खा जाय और एकाग्र होकर स्थिर दृष्टिसे दोनों नेत्रोंके द्वारा नासिकाके अग्रभागको देखते रहा जाय। इस आसनकी सिद्धिसे प्राणायाममें सुगमता होती है।

स्वस्तिकासन

दोनों पैरोंके तलवोंको पिंडलियों और जाँघोंके बीच लगाकर, मेरुदण्डको सीधा रखकर और एकाग्र होकर दोनों नेत्रोंकी अचल दृष्टिसे दोनों भौंहोंके बीच स्थानको देखता रहा जाय।

आसनोंके अभ्याससे शरीरमें स्फूर्ति और उत्साहकी वृद्धि होती है, शरीर निरोग रहता है तथा अनेक प्रकारके रोग दूर होकर शरीर स्वस्थ हो जाता है किन्तु—

केवल अनुभव-सिद्ध सद्गुरु योगीसे ही आसन सीखकर अभ्यास करना चाहिए अन्यथा विपरीत फल हो सकता है।

मुद्रा

यों तो निम्नांकित २० मुद्राएँ गिनाई गई हैं—महामुद्रा, योनिमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्ति-चालिनी, विपरीतकारिणी, वज्राणी, शक्तिधारिणी, ताडागी, माण्डवी, शाम्भवी, नभो मुद्रा, उन्मनी, प्राङ्मुखी, धारिणी, पार्थिव धारिणी, आम्भसी धारिणी, वैश्वानरी धारिणी और वायवी धारिणी। किन्तु इनमेंसे

कुण्डलिनी योगमें केवल तीन ही मुद्राएँ सहायक मानी गई हैं—शक्ति-चालिनी, योनि और खेचरी।

शक्तिचालिनी मुद्रा

सिद्धासनसे बैठकर दोनों हाथोंसे दोनों पैरोकी एड़ियोंको मूलाधारपर बलपूर्वक दबाया जाय, हृदयसे ठोंढी लगाकर जोरसे साँस ली जाय जिससे कि पेटकी अँतड़ियोंके दबाव और उनके शिथिल होनेका दबाव मणिपूर चक्रपर पड़े और इसीके साथ साथ गुदाका संकोचन और उद्घाटन किया जाय। इस क्रियासे मूलाधारके अपान वायुकी टक्कर मणिपूरके प्राण वायुपर लगनेसे सोई हुई कुण्डलिनी जाग जाती है। इसका अभ्यास करते समय योगीको जितेन्द्रिय होकर नमक, खट्टा और तीता पदार्थ छोड़कर परिमित भोजन अथवा केवल दुग्ध-पान करके काम, क्रोध, मोह, अहंकार, छोड़कर प्रतिदिन कमसे कम चार घड़ी-पर्यन्त साधना करनेसे कुण्डलिनीको जगानेमें सहायता मिलती है।

योनिमुद्रा

सिद्धासन लगाकर शरीरके नवों बाहरी द्वारोंको उँगलियों तथा एड़ियोंसे बन्द कर दिया जाय। दोंनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे दोनो नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे दोनों नथनोंको, दोनों एड़ियोंसे गुदा और लिङ्गको दबाकर जीभको कौएकी चोंचकी तरह बनाकर साँस भीतर खींचकर कनिष्ठिकाओंसे मुँह बन्द करके उस प्राण-वायुको अपान वायुसे मिलाते हुए प्रथम चक्रमें कुण्डलिनीका ध्यान किया जाय और हुं मन्त्रका मानस जप किया जाय। इससे सोई हुई कुण्डलिनी जागने लगती है किन्तु शक्ति-चालिनी मुद्राके बिना योनि-मुद्रा सिद्ध नहीं होती।

खेचरी मुद्रा (लम्बिका योग)

जीभको लम्बा करके उलटकर मुँहके भीतर तालुके बीच नाककी जड़के नीचे छिद्रमें प्रवेश करके अमर वारुणीका इस प्रकार

पान किया जाय कि श्वास भीतर-बाहर न आ जा सके और दोनों नेत्रोंसे दोनों आँखोंके बीचके स्थानको देखते रहा जाय। जीभको पर्याप्त लम्बा करनेके लिये घेरण्ड-संहिता, गोरक्ष-पद्धति और हठ-योग-प्रदीपिकामें छेदन, चालन और दोहन नामक बहुत कष्टकर क्रियाएँ बताई गई हैं। खेचरी मुद्रा सिद्ध करनेपर योगी अपने हृदयकी गति बन्द करके समाधि-लाभ कर लेता है। इसीलिये इसे मुद्राओंका राजा कहा जाता है।

बन्ध

यों तो बन्ध अनेक प्रकार के हैं किन्तु चार ही मुख्य हैं--मूलबन्ध, महाबन्ध, जालन्धर बन्ध, उड्डियान बन्ध। इनमेंसे भी मूल, जालन्धर, और उड्डियान ही कुण्डलिनी-योगमें सहायक होते हैं।

मूलबन्ध

गुदा और लिङ्गके प्रदेशको एड़ियोंसे दबाकर गुदामार्गका संकोचन किया जाय। इससे अपान वायु ऊपरको उठकर प्राणवायुके साथ जा मिलता है और सोई हुई कुण्डलिनी जागकर सुषुम्णामें प्रवेश करने लगती है।

२. उड्डियानबन्ध

दोनों जाँघोंको मोड़कर पैरोंके तलवोंको परस्पर मिलाकर बैठा जाय, पेटके भीतर नाभि चक्रके ऊपर-नीचेके भागको पीठकी ओर ऐसे खींचा जाय कि पेट पीठसे लग जाय और तब प्राणायाम साधा जाय। इस क्रियासे नाभिके ऊपर-नीचेके भागपर अधिक तनाव बढ़नेसे प्राण-वायु सुषुम्णाकी ओर चलने लगता है।

३. जालन्धर बन्ध

कण्ठको सिकोड़कर ठोड़ीको हृदयपर जमानेसे शरीरकी नाडियाँ कस जाती हैं जिससे इडा और पिंगला नाडियोंके स्तम्भित होनेसे

प्राण-वायु सुषुम्णाकी ओर बढ़ चलता है और ब्रह्मरन्ध्रसे टपकनेवाले अमृतका बन्धन हो जाता है।

वेध (महावेध)

महावेध

जब उड्डियान बन्ध करते समय कुम्भक प्राणायाम किया जाता है उसे महावेध कहते हैं।

ये सब क्रियाएँ किसी सिद्ध गुरुसे सीखकर ही करनी चाहिए।

सूक्ष्म क्रिया

४. क : प्राणायाम

प्राणायामकी विधि ऊपर दी जा चुकी है। प्राणायामसे अँतड़ियाँ, फेफड़े और यकृत आदि दृढ होते हैं, विषाक्त रुधिर कपालसे लौट आता है और शुद्ध रुधिर पहुँच जाता है। इससे प्राण और चित्त दोनों निश्चल हो जाते हैं। जब प्राणायामके द्वारा प्राण वायुका वेग सुषुम्णामें प्रवेश कर जाता है तब शरीरके सारे दोष दूर हो जाते हैं, नाडियाँ तथा धमनियाँ शुद्ध हो जाती हैं और फिर षट् कर्म—धौति (चार प्रकारकी), वस्ति (दो प्रकारकी), नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति (तीन प्रकारकी)की आवश्यकता नहीं रहती। प्राणायाममें तीन क्रियाएँ होतीहै - रेचक, पूरक और कुम्भक।

रेचक

नथुनों से धीरे-धीरे-वायु बाहर निकालनेको रेचक कहते हैं। कभी भी रेचक वेगसे नहीं करना चाहिए क्योंकि उससे बलकी हानि होती और रोग उत्पन्न होते हैं।

पूरक

नथुनोंसे वायु भीतर खींचनेको पूरक कहते हैं।

कुम्भक

शरीरके भीतर भरे हुए वायुको रोक रखनेको कुम्भक कहते हैं। इसे यों समझना चाहिए कि साँस लेना तो प्राणकी क्रिया है, साँस निकालना अपानकी क्रिया है और इन दोनोंकी गतिको रोकना कुम्भक है। कुम्भकके आठ भेद बताए गए हैं। यह कुम्भक दो प्रकारका होता है—सहित और केवल। जब श्वाससे भरपूर कुम्भक और भरपूर रेचक करे तो सहित कुम्भक होता है। जब श्वासको सुखपूर्वक भीतर-बाहरके विषयोंको त्यागकर कुम्भक करे तो केवल कुम्भक होता है। केवल कुम्भककी सिद्धिसे मन स्थिर होता है और सोई हुई कुण्डलिनीका बोध हो जाता है।

जितेन्द्रिय और मिताहारी साधकको स्वच्छ, सुन्दर, छिद्ररहित, पवित्र कक्षमें निश्चिन्त होकर एकाग्रताके साथ वसन्त या शरद्में ही अर्थात् चैत्र, वैशाख, आश्विन और कार्तिकमें ही प्राणायामका अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। प्राणायामका अभ्यास भी किसी अनुभव-सिद्ध, सद्गुरु योगीसे सीखकर ही करना चाहिए अन्यथा निश्चित हानि होती है।

४. ख : स्वरोदय

अपने श्वास-प्रश्वासकी गतिका ज्ञान प्राप्त करनेको स्वरोदय कहते हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि इडा नाडी तो बाएँ नथुने-तक पहुँचकर और पिंगला नाडी दाएँ नथुनेतक पहुँचकर समाप्त हो जाती है। इनमेंसे एकका प्रतिदिन सूर्योदयसे ढाई घड़ीतक श्वास चलता है और फिर बारी-बारीसे ढाई ढाई घड़ीतक प्रत्येकका श्वास चलता रहता है। इन दोनोंके सन्धि-कालमें जो दोनों नथुनोंसे श्वास चलता रहता है वही सुषुम्णाका प्रवाह है। इस सन्धि-कालको जितना बढ़ाया जाय उतनी ही शीघ्रतासे यौगिक अभ्यासोंमें सहायता मिलती है। स्वरोदयके ज्ञानसे रोगों और उनके उपायोंका ज्ञान होता है। स्वरोदयके ज्ञानसे भविष्य और मृत्युका ज्ञान, रोगनिवारण, शत्रु-

विजय, इच्छित पुत्रोत्पत्ति तथा लक्ष्मीकी प्राप्ति आदि सब फल मिलते हैं (लय-योग-संहिता, स्वरोदयकथनम् १४)

५. प्रत्याहार

सब इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटा लेनेको प्रत्याहार कहते हैं। जब प्राणायामसे कमसे कम १० मिनटतक प्राणवायुका निरोध हो तभी प्रत्याहार प्रारम्भ करना चाहिए।

६. धारणा

किसी एक चक्रमें चित्तको पाँच घड़ीतक रोके रखनेको धारणा कहते हैं।

क नादानुसंधान

षट्चक्रवेध हो जानेपर जब कुण्डलिनी सहस्रारमें पहुँचकर परात्पर शिवके साथ एकात्म हो जाती है उस समय जो नाद सुनाई पड़ता है वह अनाहत नाद कहलाता है। यह नाद अनेक प्रकारका होता है। इसके अनुसंधानको ही नादानुसंधाव कहते हैं।

ख षट्चक्रवेध

षट्चक्रवेध पूर्ण करनेसे ही धारणा सिद्ध होती है।

७. ध्यान

धारणाके द्वारा जब चित्त एकाग्र होकर २४ घंटेतक स्थिर हो रहता है तब ध्यान कहलाता है। यह तीन प्रकारका होता है—स्थूल, ज्योति और सूक्ष्म निर्गुण। १. स्थूल ध्यानमें इष्टदेवके सगुण रूपका ध्यान होता है। २. ज्योतिर्ध्यानमें परब्रह्ममय जीवात्मा-स्वरूपिणी कुण्डलिनीका ध्यान होता है। ३. सूक्ष्म निर्गुण ध्यानमें निर्गुण परब्रह्मका ध्यान होता है। कुण्डलिनीको जगाकर षट्चक्र-वेध करते हुए उसके सहस्रारमें लीन होनेको ध्यान कहते हैं। स्थूल ध्यानसे सौ गुना ज्योतिर्ध्यान तथा ज्योतिर्ध्यानसे लाखगुना सूक्ष्म निर्गुण ध्यान होता है। ध्यानके प्रभावसे योगीका आत्मा अपना

जीवात्मा-भाव छोड़कर परमात्मामें मिलकर एक हो जाता है किन्तु उसे ध्याता, ध्यान, ध्येयका ज्ञान बना रहता है और उसे अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।[1]

८. समाधि या लय-क्रिया

ध्यान ही उस समय समाधि-रूपमें परिवर्तित हो जाता है जब केवल ध्येय मात्रका ही भान रह जाता है। मन और आत्माका आत्म-स्वरूप हो जाना ही समाधि है। जब जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते और सब संकल्प नष्ट हो जाते हैं उस अवस्थाको तो समाधि कहते हैं और सब विषयोंकी सुध-बुध भूल जानेको लय कहते हैं। गोरक्ष-पद्धतिके अनुसार १२ दिनतक प्राण-वायुके संयमको समाधि कहते हैं। ध्यानकी अवस्थामें तो ध्याता, ध्यान और ध्येयका ज्ञान बना रहता है किन्तु जब ये सब विस्मृत हो जाते हैं तभी समाधि होती है। समाधि सिद्ध हो जानेपर आत्मा और परमात्माका एकाकार प्रत्यक्ष हो जाता है और इसीको लय-क्रिया कहते हैं। यह समाधि दो प्रकारकी मानी गई है—जड और चैतन्य या संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात या सविकल्प और निर्विकल्प।

समाधि-अवस्थाको ही उन्मनी, मनोन्मनी, अमृतत्व, लय तत्त्व, शून्याशून्य पद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवन्मुक्त, सहजा और तुरीया अवस्था कहते हैं।

---

१. श्रीमद्भागवत (११।१५) में २३ सिद्धियाँ गिनाई गई हैं—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, कामावसायिता, दूर-श्रवण, दूर-दर्शन, भूख-प्यास न होना, मनके साथ कहीं पहुँच जाना, इच्छानुसार रूप बना लेना, परकाया-प्रवेश, स्वेच्छा-मृत्यु, देवताओंकी क्रीडाका दर्शन, संकल्पके अनुसार सिद्धि, त्रिकालज्ञता, शीतोष्ण, सुख-दुःखसे मुक्ति, सबसे आज्ञा पालन करा लेना, परचित्त-विज्ञान, अग्नि, जल, विष आदिको रोकनेकी शक्ति एवं अपराजय।

पवनके लयसे मनका भी लय हो जाता है इसलिये श्वास और नि:श्वासको प्राणायामके द्वारा साध लेनेसे सब विषयोंसे सम्बन्ध दूर हो जाता है और अन्त:करणके विकार नष्ट हो जाते हैं। यही योगियोंका लय है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और लय या समाधि प्राप्त करनेके लिये २०७३६ प्राणायामकी यह विधि बताई गई है—

१२ प्राणायामसे	१ प्रत्याहार	=	१२ प्राणायाम	
१२ प्रत्याहारसे	१ धारणा	=	१४४	,,
१२ धारणासे	१ ध्यान	=	१७२८	,,
१२ ध्यानसे	१ समाधि या लय	=	२०७३६	,,

योगियोंका कथन है कि यम, नियम, आसन, खेचरी मुद्रा और प्राणायाम आदिकी क्रियाएँ पूर्ण करनेपर ही शक्तिचालिनी मुद्राका अभ्यास करना चाहिए। इन क्रियाओंके साथ जब शक्तिचालिनी और योनिमुद्रा, कुम्भक, सगर्भ प्राणायाम, बन्ध और धारणा पूर्ण हो जाती है तभी सुप्त कुण्डलिनी जागकर छह चक्रों तथा तीन बाण-लिङ्गोंको वेधकर सहस्रार चक्रमें पहुँचकर परब्रह्ममें लीन हो पाती है। कुण्डलिनी-जागरणका अभ्यास शुक्ल पक्षमें ही करना चाहिए क्योंकि इसी पक्षमें इसका संचार ऊपरको होता है किन्तु ये सब क्रियाएँ किसी सद्गुरु योगीसे ही सीखकर करनी चाहिएँ।

कुण्डलिनी-योग सिद्ध हो जानेपर साधक सर्वगुणसम्पन्न, सर्व सिद्धियोंसे सम्पन्न, परब्रह्म-स्वरूप और जीवन्मुक्त हो जाता है। वह अपनी इच्छासे ही शरीर छोड़ता है और अपनी इच्छासे ही समाधि लगाकर सहस्रारमें अपने ही ब्रह्मस्वरूप ध्यानमें लीन होकर अमृत पीता, अनाहत नाद सुनता और परमानन्द प्राप्त करता है।

पाशुपत योग

उमाजीके पूछनेपर महेश्वरने पाशुपत योगकी व्याख्या करते हुए कहा कि यह योग सबीज और निर्बीज दो प्रकारका होता है। इस योगका अनुष्ठान अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, कामावसायिता—इन आठ ऐश्वर्योंपर अधिकार करके किया जाता है। ज्ञान ही योगका मूल है इसलिये साधकको व्रत, उपवास और नियमोंके पालनके द्वारा संपूर्ण ज्ञानकी वृद्धि करनी चाहिए। अविनाशी आत्मामें बुद्धि, मन और संपूर्ण इन्द्रियोंको एकाग्र कर लेनेका ढंग जानना ही ज्ञान है। ब्राह्मण, अग्नि और देवताओंका पूजन करते हुए सत्त्व गुणका आश्रय लेकर सारे अमंगल भावोंको छोड़ दिया जाय। दान, अध्ययन, श्रद्धा, व्रत, नियम, सत्य, आहार-शुद्धि, शौच और इन्द्रिय-निग्रहके द्वारा तेज बढ़ता है और पाप धुल जाते हैं। इस प्रकार पाप धुल जानेपर साधकको तेजस्वी, निराहार, जितेन्द्रिय, अमोघ, निर्मल होकर और मनका दमन करके योगका अभ्यास प्रारंभ करना चाहिए।

योगके अभ्यासके लिये एकान्त, निर्जन, चारों ओरसे सुरक्षित और पवित्र स्थानमें कुशका आसन लगाकर, उसपर शरीर और गर्दन सीधी करके बैठ जाय और मनको ऐसा शान्त कर ले कि किसी भी प्रकारकी व्यग्रता न आने पावे और शरीर भी हिले डुले नहीं। इस प्रकार बैठकर अपनी दृष्टि नासिकाके अग्र भागपर जमा ले। मनका दृढ हो जाना ही योगकी सिद्धिका सूचक है। मनपर संयम करके अपनी सब इंद्रियोंको उनके विषयोंसे खींचकर समेट ले और उन इन्द्रियोंको मनमें स्थापित कर ले। फिर मनके सारे संकल्प मिटाकर मनको आत्मामें स्थापित कर ले। इस प्रकार मन-सहित जब पाँचों इन्द्रियाँ आत्मामें स्थिर हो जाती हैं तब प्राण और अपान

वायु एक साथ वशमें हो जाते हैं। प्राणके वशमें हो जानेपर योग-सिद्धि अटल हो जाती है। इसके पश्चात् शरीर क्या है इसपर चिन्तन करके शरीरके भीतरके प्राणोंकी गतिपर विचार करे। इतना हो चुकनेपर मूर्धा, अग्नि और शरीरकी सुरक्षा की जाय क्योंकि मूर्धामें ही प्राण रहता है जो श्वास-प्रक्रियाको चलाता रहता है। यह प्राण ही सब प्राणियोंका आत्मा सनातन पुरुष है। वह प्राण ही मन, बुद्धि, अहंकार, पंचभूत और विषय सभी कुछ है। पेड़ूके मूल भाग, गुदा और अग्निके आश्रयसे ही अपान वायु मल-मूत्रका उत्सर्ग कराता रहता है। इसी अपान वायुके कारण देहोंमें प्रवृत्ति होती है।

जो वायु शरीरकी सब धातुओंको ऊपर उठाता हुआ अपानसे ऊपर कार्य करता है उसे उदान कहते हैं। जो वायु मनुष्यके शरीरके जोड़ जोड़में व्याप्त होकर उसे संचालित करता है उसे व्यान कहते हैं और जो वायु सब धातुओं और शरीरकी अग्निमें अग्निस्वरूप होकर समाया हुआ है उसे समान कहते हैं। सभी प्राणोंके परस्पर संयोग होनेपर जो ताप प्रकट होता है वही अग्नि है जो खाए हुए अन्नको पचाती है। अपान और प्राण-वायुके बीचमें व्यान और उदान वायु विद्यमान हैं। जब समान वायुसे अग्निका संयोग होता है तभी अन्नका पाचन होता है। शरीरके मध्यमें स्थित नाभिके भीतर समवस्थित अग्निसे ही प्राण जुड़े हुए हैं और प्राणोंमें आत्मा स्थित है। सभी प्राण नाभिका आश्रय लेकर ऊपर नीचे तथा अगल-बगल चलते रहते हैं। पाँच प्राणों तथा अग्निसे प्रेरित होकर सब नाडियाँ अन्नरसका वहन करती हैं। योगियोंका मार्ग इन्हीं पाँचों प्राणोंमें स्थित है। मूर्धाको आत्मामें स्थिर करके मनको दोनों भौहोंके बीच ले जाकर बाँध दे और तब प्राणको भली-भाँति रोककर परमात्माका चिन्तन किया जाय। प्राणमें अपानका और अपानमें प्राणका योग करके प्राण और अपान दोनोंकी गति रोककर प्राणायामका अभ्यास किया जाय।

इस प्रकार मिताहारी मुनिको एकान्तमें बैठकर अपने पाँचों प्राणोंका योग करके शान्त मनसे साँस रोककर ध्यानमग्न हो जाना चाहिए। योगीको तो चलते, फिरते, जागते, सोते, उठते, बैठते निरालस होकर योगाभ्यास करते ही रहना चाहिए अर्थात् ब्रह्म-स्वरूप महेश्वरका चिन्तन करते ही रहना चाहिए। इस प्रकार योगाभ्यासमें ही मन लगाए रहनेवाले साधकका मन प्रसन्न हो जाता है और मन प्रसन्न होते ही परमात्म-तत्त्व ब्रह्मस्वरूप महेश्वरका साक्षात्कार हो जाता है। उस समय उसे वह अविनाशी परमात्मा धूमरहित प्रज्वलित अग्नि, चमचमाते सूर्य और कौंधनेवाली बिजलीके समान प्रकाशमान दिखाई देने लगता है।

योगके दस दोष

महेश्वरने उमासे कहा कि इस पाशुपत-योगमें दस दोष बाधक होते हैं, उनसे सावधान रहना चाहिए। वे दोष हैं—काम, क्रोध, भय, स्वप्न (निद्रा), स्नेह, अधिक भोजन, वैचित्य (मानसिक व्याकुलता और चंचलता), व्याधि, आलस्य और लोभ। अतः, इनमेंसे कोई भी दोष अपने पास नहीं आने देना चाहिए।

योगके आठ गुण या सिद्धियाँ

योग सिद्ध हो जानेपर योगीको आठ गुण प्राप्त हो जाते हैं—अणिमा (सूक्ष्मसे सूक्ष्म हो जाना), महिमा (बड़ेसे बड़ा हो जाना), लघिमा (हलकेसे हलका हो जाना), प्राप्ति (इन्द्रियोंका अधिष्ठाता हो जाना), प्राकाम्य (सब मनोरथ सिद्ध कर सकनेकी शक्ति), ईशित्व (सबपर शासन कर सकनेकी शक्ति) वशित्व (सबको वशमें कर सकनेकी शक्ति)। कामावसायिता (ब्रह्मानन्द प्राप्त करना) ये गुण पा लेनेपर योगी सारे संसारपर शासन कर सकता है।

अनधिकारी

अधिक भोजन करनेवाला या कुछ भी भोजन न करनेवाला या

बहुत सोनेवाला या बहुत जागता रहनेवाला पुरुष कभी योग सिद्ध नहीं कर सकता।

अधिकारी

यह सर्वदुःखहारी योग वही सिद्ध कर सकता है जिसके आहार, विहार और कर्म उचित हों और जो ठीक समयपर सोता और ठीक समयपर जागता हो।

जो पुरुष इस प्रकार बताए हुए पाशुपत योगका अभ्यास करता है वह शिव-सायुज्य प्राप्त कर लेता है, शिवके समान हो जाता है।

उमाके पूछनेपर महेश्वरने कहा कि मैं मुमुक्षोंओंको भी न तो दर्शन देता न उनके ध्यानमें पहुँच पाता। मैंने ही सांख्ययोग और समस्त चराचर जगतकी सृष्टि की है, मैं ही पूजनीय ईश्वर, अविनाशी सनातन पुरुष हूँ और प्रसन्न होकर भक्तोंको अमृत भी दे डालता हूँ। मैं तुम्हें पाशुपत-योग समझाता हूँ जिससे साधक मुझे प्राप्त कर सकता है। मेरा ही नाम पशुपति है और सारे रोम-रोममें भस्म रमाए रहनेवाले जो मेरे भक्त मनुष्य हैं उन्हें भी पशुपति समझना चाहिए। मैंने अपने भक्तोंकी रक्षा, उनके मंगल, उनकी पवित्रता और पहचानके लिये जो भस्म प्रदान किया था वह अपने सारे अंगोंमें लगाकर ब्रह्मचर्यव्रती, जटाधारी, मुंडित अथवा अनेक शिखावाले, विकृत वेश, पिंगल वर्ण, नग्न देह और अनेक प्रकारका वेश धारण किए हुए मेरे भक्त मुझमें ही मन और बुद्धि लगाए हुए मिट्टीका पात्र हाथमें लेकर भिक्षाके लिये विचरते हुए मेरे परम उत्तम सूक्ष्म और दिव्य पाशुपत योग-शास्त्रका विचार करते रहते है। जो साधक नित्य प्रति मेरे स्वरूपभूत शिव-लिंगकी पूजा, शिव-लिङ्गको प्रणाम करता है अथवा गोदुग्ध, मक्खन, घृत अथवा जलसे ही शिवलिङ्गकी पूजा करता है, जो शिवलिङ्गके पास गुग्गुलकी धूप देता, फूल चढ़ाता और अनेक प्रकारके द्रव्योंके द्वारा शिवलिङ्गकी पूजा करता है वह संसारके सब बन्धनोंसे छूट जाता है।

इसलिये निरन्तर नियमसे मेरे भक्तको चाहिए कि अनेक प्रकारकी अर्चनाओं, नमस्कारों, उपहारों और स्तोत्रोंके द्वारा आलस्य छोड़कर मेरी पूजा करे, पलाश और बेलके पत्ते, राजवृक्ष (अमलतास)के फूलों-की मालाएँ, आकके फूल (जो मुझे विशेष प्रिय हैं), या जो कुछ भी फल, फूल, साज या जल मुझपर चढावें, मैं उसीसे सन्तुष्ट हो जाता हूँ और मेरे सन्तुष्ट हो जानेपर भक्तको सब कुछ प्राप्त हो जाता है। मेरे भक्त न तो कभी नष्ट होते न उन्हें कोई पाप छू पाते । तीनों लोकोंमें मेरे भक्तोंकी विशेष पूजा होती है। इस पाशुपत-योगका प्रयोग करनेसे मनुष्य निश्चय ही मेरा अर्थात् ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है।

प्रणव-चिन्तनसे ब्रह्म-दर्शन

ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ है। वही अविनाशी और सब धर्मोंसे रहित है। उसका साक्षात्कार करके समाधिमें लीन होनेपर साधक जन्म-मरण आदि सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। वह परमेश्वर ही हर, सच्चिदानन्द, अद्वितीय, परमात्मदेव है, वही सबका नियमन करता है, उसीका चिन्तन करने और उसके तत्त्वज्ञानसे अपने सब प्रारब्ध कर्म समाप्त करके मनुष्य आप्तकाम और कैवल्यपद प्राप्त कर लेता है। अपने अन्तःकरणमें आत्मरूपसे विद्यमान ब्रह्म ही एक मात्र जानने योग्य है, जिसे जान लेनेपर कुछ और जानना शेष नहीं रह जाता।

इस विशुद्ध आत्मा या ब्रह्मका साक्षात्कार प्रणवके निरन्तर चिन्तनसे हो सकता है। ऐसा करनेपर साधक आत्मविद्या और तपसे उस सर्वव्यापक आत्मा, परम पुरुषार्थ, निर्विशेष ब्रह्मका दर्शन कर पा सकता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में बताया गया है कि मनके द्वारा पूर्ण आनन्दस्वरूप आत्मामें लीन होनेके लिये मनके साथ सब इन्द्रियोंको परमात्मामें लगा देना चाहिए। ऐसा करके साधकको सविता देवतासे यह प्रार्थना करनी चाहिए कि वह हमारी इन्द्रियोंको और मनको परमात्मामें लगा दे।

छाती, ग्रीवा और सिर इन तीनोंको ऊँचे तानकर शरीरको सीधा रखकर मन-सहित इन्द्रियोंको हृदय-कमलमें नियन्त्रित करके ओंकारका जप करते हुए साधक इस संसार-चक्रको पार कर जाता है।

ठीक आहार-विहार करनेवाले योगाभ्यासीकी प्राण-शक्ति जब क्षीण होने लगे तब उसे चाहिए कि प्राण-वायुका निरोध करके

उसे धीरे-धीरे अपनी नाकसे बाहर निकाले और मनको पूर्णतः अपने वशमें किए रक्खे।

ओंकारकी उपासना

प्रश्नोपनिषद्में शिविके पुत्र सत्यकामके पूछनेपर पिप्पलादने कहा कि यह ओंकार निश्चय ही परब्रह्म अथवा हिरण्यगभ-रूपी अपरब्रह्म है। इसी लिये विद्वान् उपासक ओंकारमें ब्रह्मका चिन्तन करके पर और अपर ब्रह्ममेंसे किसी एकको प्राप्त कर लेता है।

जो साधक एक मात्रा विशिष्ट ओंकार (अ) का चिन्तन करता है उससे ज्ञान प्राप्त होनेपर ऋचाएँ उसे मनुष्य-लोक या पृथ्वी-लोकको ले जाती हैं जहाँ वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न होकर अपनी महिमाका अनुभव करने लगता है।

यदि साधक दो मात्राओंसे विशिष्ट ओंकार (अ, उ,) का चिन्तन करता है तो मनके साथ उसका एकत्व हो जाता है और यजुर्वेदकी श्रुतियाँ उसे सोमलोकमें ले जा पहुँचा देती हैं जहाँ वह विभूतिका अनुभव करके फिर मनुष्य-लोकमें लौट आता है।

किन्तु जो पुरुष त्रिमात्रा-विशिष्ट (ॐ) ओंकारके अक्षरात्मक प्रतीक रूपसे परम पुरुषकी उपासना करता है वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर तेजोमय सूर्यलोकमें स्थित हो जाता है और उसे सामकी श्रुतियाँ ब्रह्मलोकमें ले जा पहुँचाती हैं, जहाँ वह अपने हृदयमें स्थित परम पुरुषका दर्शन कर लेता है।

मुण्डक उपनिषद्में बताया गया है कि ओंकार धनुष है, सोपाधिक आत्मा उसका वाण है और अक्षर ब्रह्म उसका लक्ष्य है, जिसे बड़ी सावधानीसे बेधना चाहिए और बाणके समान लक्ष्यके साथ तन्मय हो जाना चाहिए।

जिस प्रकार रथके पहिएकी नाभिमें अरे आ जुड़े रहते हैं वैसे ही शरीरमें व्याप्त सम्पूर्ण नाडियाँ हृदयमें आकर एकत्र हो जाती

और उस हृदयके भीतर दर्शन-श्रवण आदिसे उत्पन्न अनेक बुद्धि-वृत्तियाँ संचरण करने लगती हैं। वहाँ ही उन बुद्धि-वृत्तियोंके साक्षीभूत आत्मा ॐ का ध्यान करना चाहिए।

माण्डूक्योपनिषद्में बताया है कि अकार, उकार और मकारकी अलग-अलग उपासना करनेसे अकार तो विश्वको प्राप्त कराता है, उकार तैजसको और मकार प्राज्ञको प्राप्त कराता है। किन्तु साधकको प्रणव (ॐ) में ही मन समाहित करना चाहिए क्योंकि यह प्रणव ही ऐसा भयशून्य ब्रह्मस्वरूप है कि उसमें नित्य समाहित रहनेवाले पुरुषको कहीं भी भय नहीं होता। प्रणव ही अपर ब्रह्म भी है और परब्रह्म भी है। सबकी उत्पत्ति और लयका स्थान प्रणव ही है। जो साधक इस प्रकार प्रणवको जानता है वह प्रणवको ही प्राप्त कर लेता है। सबके हृदयमें स्थित प्रणवको ही ईश्वर समझकर और ओंकारको आकाशके समान सर्वव्यापक जान लेनेपर बुद्धिमान् पुरुषको शोक नहीं रहता। इसलिये उपनिषदोंमें ओंकारकी उपासनाका बड़ा महत्त्व बताया गया है।

उपासनाके प्रकार

उपासना चार प्रकारकी बताई गई है—सत्यवती, अंगवती, अन्यवती और निदानवती।

सत्यवती शैलीसे उपासना करनेवाला साधक केवल मानस उपचारसे ही सर्वव्यापी ईश्वर या ॐ की निरन्तर उपासना करता रहता है।

अंगवती या प्रतीकवती उपासनामें दृष्टि तो अंगपर और बुद्धि अंगीपर रहती है। वेदान्तमें वैश्वानर-उपासना इसी प्रकारकी है। वैश्वानरके द्यु, आदित्य, वायु, आकाश, जल और पृथ्वी नामक छह अंगोंमेंसे किसी एकको ब्रह्मका स्वरूप मानकर उपासना करना वैश्वानर उपासना है। इसी प्रकार अपने हृदयमें ओंकारका ध्यान करके उपासना करना भी अंगवती उपासना है।

अन्यवती उपासनामें बुद्धि अन्यपर और दृष्टि अन्यपर रहती है। किसी भी इष्टदेवकी मूर्तिमें ओंकारकी भावना करके उपासना करना अन्यवती उपासना है।

निर्गुण और निराकार ब्रह्मकी उपासना ही निदानवती उपासना है। ओंकारकी उपासना वास्तवमें इसी शैलीसे करनी चाहिए।

उपासनाकी विधियाँ

अजपा जाप

साँस लेते और छोड़ते हुए अर्थात् श्वास-प्रश्वासके साथ ॐकार के जपको अजपा जाप कहते हैं। इस क्रियामें साँस ऊपर खींचते हुए मन ही मन 'ओऽऽ' का उच्चारण करना चाहिए और साँस छोड़ते समय मन ही मन 'म्' का उच्चारण करना चाहिए। रात-दिन यह क्रिया करते रहनेसे ऐसा अभ्यास हो जाता है कि मुखके भीतरके सब अंग स्वयं ओंकारका जप करने लगते हैं। यह क्रिया निरन्तर करते ही :रहनी चाहिए। इसे ही कबीरने सहज समाधि कहा है।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें ओंकारके मंत्रका अजपा जाप करनेके सम्बन्धमें यह विधान किया है—जो मनुष्य अपनी सारी इन्द्रियोंके द्वारोंको ऐसे रोक ले कि कहींसे भी प्राणका आना जाना न हो सके, अपने मनको अपने हृदयमें ले जा जमावे, अपने प्राणको अपने मस्तकमें खींच पहुँचाकर योगकी सारी तैयारी करके बराबर ॐ ही ॐ बोलता हुआ मुझमें लौ लगाए शरीर छोड़े वह मुक्ति पा ही जाता है। (८।१२।१३)

भगवान् श्रीकृष्णने उसी अध्याय (८) में अर्जुनसे कहा है कि जब तू सच्चे मनसे ठीक-ठीक समझ-बूझकर अपनेको मेरे हाथों सौंप देगा तब तू मुझमें ही आ समावेगा। इसलिये तू सदा मेरा ही ध्यान करता रहा कर (८।७)।

दक्षिणामूर्ति-संहितामें अजपा जापका विवेचन करते हुए बताया गया है कि श्वासकी क्रियाके अनुसार हृदय-चक्र या अनाहत चक्रमें ही प्राण स्थित होता है। साठ बार श्वास लेने और छोड़नेको प्राण कहते हैं। छह प्राणोंकी एक नाडी होती है और सात नाडियोंका रात-दिन। इस ढंगसे अजपा जाप करनेवाला साधक प्रतिदिन ६०×६×६०=२१६०० बार ॐ का जप करता है। इस उपासनाकी पद्धतिको परम आनन्दस्वरूपिणी परा विद्याकी उपासना या परोपासना कहते हैं।

दक्षिणामूर्ति-संहितामें प्रणवके बदले हंसः मंत्र जपनेका विधान भी बताया गया है किन्तु हंसः और सोऽहम् आदि प्रणवके ही रूप हैं।

घेरण्डसंहितामें केवली-कुंभकके नामसे जिस अजपा जापका विधान किया गया है वहाँ भी सोऽहम् या हंसःमें इसी प्रणव मन्त्रका विधान किया गया है। सोऽहम् मंत्रके जपसे भी जीव, ब्रह्म-भावको प्राप्त कर लेता है।

ॐ का ध्यान

गीताके अनुसार ध्यान-योगके लिये कुशासन बिछाकर उसपर मृगछाला और उसपर वस्त्र बिछाकर, उसपर शरीर, सिर और गर्दन सीधी करके मनको एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियोंको रोककर नाकके अग्र-भागपर दृष्टि जमाए रखकर ॐ का जाप करना चाहिए।

घेरण्ड-संहितामें ध्यानके तीन प्रकार बताए गए हैं—

स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्मध्यान।

स्थूलध्यान

स्थूलध्यानके लिये साधकको यह कल्पना करनी चाहिए कि ब्रह्मरन्ध्रमें जो सहस्रार नामक कमल-चक्र है, उसके बीच अत्यन्त उजला, परम प्रकाशमान् द्वादश दलका एक कमल है, जिसके बारह

दलोंपर क्रमशः हं, सं, क्षं, मं, लं, वं, रं, यूं, हं, सं, खं, फ्रें अक्षर लिखे हैं और उसकी कर्णिकामें अ, क, थ इन तीन अक्षरोंकी तीन रेखाएँ, बीचमें ह, ळ, क्ष इन त्रिकोणात्मक अक्षरोंके मण्डलमें ॐ बना हुआ है और एक नाद-बिन्दुमय पीठपर दो हंस खड़े हैं। वहाँ पादुका धरी है और उस पीठपर अत्यन्त उजले वस्त्र पहने हुए चन्दन तथा माला धारण किए हुए गुरुदेव बैठे हुए हैं जिनके बाएँ भागमें रक्त वर्णकी शक्ति सुशोभित है।

ज्योतिर्ध्यान

ज्योतिर्ध्यानके लिये साधकको यह कल्पना करनी चाहिए कि मूलाधारमें सर्पिणीके आकारकी अत्यन्त प्रकाशमान कुण्डलिनी शक्ति हैं जहाँ दीप-कलिकाके आकारमें जीव भी है और ज्योतिरूपमें ब्रह्म भी है अथवा यों समझना चाहिए कि भौंहोंके बीच मनके ऊपर ओंकारमय और लपटोंवाली जो ज्योति विराजमान है, उसीका ध्यान करना चाहिए।

सूक्ष्म ध्यान

सूक्ष्म ध्यानके लिये साधकको शांभवी मुद्राका अभ्यास करके कुण्डलिनीका ध्यान करना चाहिए। यही सूक्ष्म ध्यान है। इस सूक्ष्म ध्यानमें दोनों भौंहोंके बीच दृष्टि जमाकर एकाग्र मनसे प्रणव या परमात्माका चिन्तन और दर्शन करना ही शांभवी मुद्रा है।

अन्य विधियाँ

सुखासनपर बैठकर अपना शरीर, सिर और गर्दन सीधी करके, आँख मूँदकर सबसे पहले गुरुका ध्यान करके कुछ देर पश्चात् भौंहोंके बीच ज्योतिस्वरूप परमात्मा या प्रणवका ध्यान किया जाय और यह कल्पना की जाय कि दोनों भौंहोंके बीच अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाशमान कमलपर ज्योतिस्वरूप परमात्मा विराजमान हैं।

दूसरी विधि यह है कि सिरको झुकाकर ठोडीको छातीसे लगा ले और नासिकाके अग्र भागपर अपलक दृष्टि जमा ले। इसे केवली प्राणायाम भी कहते हैं। इस ध्यानके साथ ॐकारका जप भी चलता रहना चाहिए। जीभ उलटकर तालूमें सटाते हुए प्रत्येक श्वास-प्रश्वासके साथ ॐ का जप किया जाय।

एक विधि यह भी है कि साधक सुखासनपर बैठकर पहले गुरुका ध्यान करे, फिर कल्पना करे कि मूलाधारमें कमलके आकारके चक्रमें अग्निके समान तेज भरा हुआ है जहाँ एक सर्पकी आकृतिका कोई जीव बैठा है। आसन लगाते ही अग्नि भड़क उठती है और वह सर्पकी आकृतिवाली जीव-शक्ति (कुण्डलिनी) जागकर सुषुम्णा नाडीके द्वारा ऊपरकी ओर धीरे-धीरे चढ़ती हुई आज्ञा चक्र (भौंहोंके बीच) तक आ पहुँचती है। इस प्रकार प्रतिदिन ध्यान करते हुए १५—२० मिनटतक ॐ का जप किया जाय और फिर अभ्यास हो जानेपर प्रतिदिन तालूमें जीभ सटाकर प्रत्येक श्वास-प्रश्वासके साथ यह कल्पना करते हुए ॐका जप किया जाय कि मूलाधार चक्रसे कमल नालके समान अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यन्त प्रकाशमान डोरा रीढ़के हड्डीके बीच (सुषुम्णा)-मेंसे ऊपर-को चढ़ता है और सिरके ठीक बीचो बीचसे निकलकर बारह इच ऊपर एक उज्ज्वल और चमकीले कमलके फूलके रूपमें खिल उठता है जिसपर एक अत्यन्त प्रकाशमान ज्योतिष्पिण्ड विराजमान है। इस ज्योतिष्पिण्डको देखते हुए 'ओऽ ऽ' कहते हुए श्वास खींचा जाय और क्रमशः ऊपरकी ओर जाती हुई ज्योतिको देखते हुए ज्योतिष्पिण्डतक पहुँचनेपर 'म्' कहते हुए श्वास छोड़ जाय। इस प्रकार नित्य ध्यान करनेसे राग, द्वेष हर्ष, शोक आदि मिट जाते हैं, और समत्व-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यही ब्रह्मकर्म-समाधि है।

नाद-बिन्दु-योग

घेरण्डसंहितामें नाद बिन्दु-योगको भ्रामरी कुंभक कहा गया है। इसके लिये सिद्धासनका विधान करते हुए बताया गया है कि इसकी

साधना अर्द्धरात्रिमें करनी चाहिए किन्तु नाद-बिन्दु-योगके प्रवर्त्तक स्वामी आत्मानन्दजी कहते हैं कि सुखासनपर प्रातः ब्राह्म मुहूर्तमें और सायं गोधूलि-वेलामें इसका अभ्यास करना चाहिए। इसकी विधि यह है कि सुखासनपर बैठकर बाएँ हाथके अँगूठेसे बाएँ कानको और दाएँ हाथके अँगूठेसे दाएँ कानको भली प्रकार बन्द करके तर्जनीको भौंहोंकी दोनों ओर जमा दिया जाय, शेष तीनों उँगलियोंको दोनों आँखोंपर रखकर धीरेसे दबाए रक्खा जाय। फिर जीभको तालूसे सटाकर मनको भौंहोंके बीच स्थिर करके ज्योति-पुरुषका ध्यान किया जाय। इस प्रकारकी उपासनासे शीघ्र आत्म-साक्षात्कार हो जाता है।

प्रणवकी उपासनामें भौंहोंके बीच भागपर ध्यान लगानेका बड़ा महत्त्व बताया गया है। इसका कारण यह है कि इस स्थानको ब्रह्मलोक, सत्यलोक, तीर्थराज, तपोलोक तथा शिवलोक कहा गया है।

प्रणवकी उपासना-क्रमके प्रारम्भमें ओंकारकी अनुभूति नहीं होती। पहले केवल अनाहत नाद ही सुनाई देता है जिसका वर्णन नाद-बिन्दु-उपनिषद्में किया गया है। अनाहत नादकी यह ध्वनि समुद्र और बादलके गर्जन, झरनेकी हरहराहट और भेरीकी ध्वनिके समान सुनाई पड़ती है। उसके पश्चात् भौंरेकी गुनगुनाहट, वीणा-की झंकार, वंशीके निनाद और किंकिणीकी झनझनाहटके समान मधुर नाद सुनाई पड़ता है। इसी मधुर नादकी ओर साधकको अपना चित्त लगा देना चाहिए। इसी नाद-साधनासे परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

जप-योग और ओंकारका जप

सत्य, अग्नि-होत्र, एकान्त-सेवन, ध्यान, तपस्या, इन्द्रियदमन, क्षमा, अनसूया, मिताहार, विषयोंसे मन हटाना, मित भाषण तथा शम (मनको शान्त और अविचलित रखना) तो प्रवर्तक यज्ञ है।

किन्तु जप करनेवाले ब्रह्मचारी साधकको निवर्तक यज्ञ भी करना चाहिए जिससे उसके सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं और मोक्ष प्राप्त हो जाता है। मनको वशमें करके निष्काम भावसे सब साधनोंका प्रयोग करते हुए भी उन सब साधनोंको निवृत्तिकी ओर मोड़ देना चाहिए। व्यक्त, अव्यक्त और अनाश्रय नामके तीन निवृत्ति-मार्गोंका आश्रय लेकर साधकको स्थिर-चित्त हो जाना चाहिए। इस निवृत्ति-मार्गपर पहुँचनेकी विधि यह है कि जप-कर्त्ता हाथमें कुशा लेकर, शिखामें कुशा बाँधकर, कुशाओंसे घिरा हुआ, कुशाके आसनपर बैठे। सब विषयोंसे मन हटाकर समताकी भावना करके अर्थात् सबको समान समझकर मनको मनमें ही लय कर दे। फिर बुद्धिके द्वारा परब्रह्म परमात्माका ध्यान करे और वेद, संहिता, प्रणव (ॐ) के साथ गायत्री मन्त्रका जप करे। इस प्रकार जप करते-करते जब समाधिकी स्थिति आ जाय तब वेद, संहिता और गायत्री मन्त्रका जप भी छोड़कर केवल ॐ का ही जप किया करे।

संहिताके जपसे प्राप्त बलका आश्रय लेनेसे साधक अपने ध्यानको सिद्ध कर लेता है। वह स्थिर-चित्त होकर तपके द्वारा मन और इन्द्रियोंको जीतकर द्वेष, कामना, आसक्ति और मोहसे रहित होकर, शीत-उष्ण, शोक-मोह आदि सब द्वन्द्वोंसे पार हो जाता है। वह न तो अपने कर्मोंका कर्त्ता होता है और न उन कर्मोंसे लगाव रखता, न उसमें अहंकार रह जाता, न वह स्वार्थ-साधन करता, न वह किसीका अपमान करता, न अकर्मण्य होकर बैठा रहता। वह नित्य निरन्तर ध्याननिष्ठ होकर ध्यानके द्वारा तत्त्व (ॐ) का निश्चय कर लेता है और ध्यानमें समाधिस्थ होनेपर क्रमशः ध्यानरूप क्रियाका भी त्याग कर देता है। इस अवस्थामें उस योगीको दिव्य परमानन्दका अनुभव होने लगता है और निष्काम भावसे ही प्राणोंका परित्याग करके वह विशुद्ध परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें प्रवेश कर जाता है। यदि वह परब्रह्मका सायुज्य प्राप्त करना न चाहे तो देवयान-मार्गसे ऊपरके लोकोंमें होता हुआ परब्रह्म

परमात्माके परम धाममें जा पहुँचता है जहाँसे वह फिर संसारमें नहीं लौटता। आत्मस्वरूपका ज्ञान हो जानेपर उसका रजोगुण दूर हो जाता है जिससे वह निर्मल, शान्तस्वरूप योगी अमृतत्वरूपी विराट् आत्माको प्राप्त कर लेता है।

जपके नियम

जापकको सभी नियमोंका पालन करके जपके प्रति प्रेम और प्रसन्नताके साथ अभिमानरहित होकर फलकी इच्छा छोड़कर, सिद्धि या ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी कामना त्यागकर और आग्रह न करके सद्भावके साथ जप करना चाहिए तभी जप सफल होता है। जप करनवाला साधक तो परमात्माके उस परम धामका इच्छुक होता है जो कारण - रहित, नित्यसिद्ध, अविद्या - अस्मिता–राग–द्वेष-अभिनिवेशसे रहित, प्रिय और अप्रिय भावसे रहित, सत्त्व, रज और तमसे रहित तथा भूत, इन्द्रिय. मन, बुद्धि, उपासना, कर्म, भाव और अविद्या नामकी आठ पुरियोंसे मुक्त, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटीसे भी रहित, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्दसे परे, हर्ष, आनन्द, शोक और धर्मसे रहित तथा कालकी उत्पत्तिसे रहित है। परमात्माके उस परम धाममें पहुँचकर वही मनुष्य शोक-रहित हो पाता है जो आत्मकैवल्य प्राप्त कर चुका होता है। उसके सामने अनेक प्रकारके सुख-भोगोंसे सम्पन्न लोक नरकके ही समान हैं। इस प्रकारके जापकको स्वयं सावित्रीने ही यह वर दे रक्खा है कि जो इस प्रकार शुद्ध ध्यानके साथ जप करता है उसे निर्दोष ब्रह्मपद प्राप्त हो जाता है। धर्म स्वयं उसकी सेवामें उपस्थित रहता है, काल, मृत्यु, भय कभी उसके पास नहीं आते।

ध्यान-योग

पीछे जो ॐ या प्रणवके ध्यान और चिन्तनका विवेचन किया गया है वह ध्यान-योगका ही निरूपण है। ध्यान-योगके साधकको चाहिए कि सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, शोक-मोह आदि द्वन्द्वोंसे रहित होकर, सत्त्व गुणमें स्थित होकर, सब प्रकारसे दोषोंसे बचते हुए, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधानमें लगा रहे। सब इन्द्रियोंके विषयोंकी ओरसे मनको हटाकर उसे ऐसे स्थानपर काष्ठकी भाँति स्थिर होकर बैठ जाना चाहिए जहाँ किसी प्रकारका कोई संग न हो और ध्यान-विरोधी वस्तुएँ न हों। वहाँ मनको एकाग्र करके परमात्माके ध्यानमें लगा देना चाहिए।

गुरुसे ध्यान-योगकी शिक्षा लेकर ध्यान-योग सीखनेवाले पुरुषको चाहिए कि कानोंसे शब्द न सुने, त्वचासे स्पर्शका अनुभव न करे, आँखसे रूपको न देखे, जीभसे रस न ग्रहण करे, ध्यानके द्वारा समस्त सूँघने-योग्य वस्तुओंको त्याग दे और मनसे भी किसी विषयकी इच्छा न करे। फिर पाँचों इन्द्रियोंको मनमें स्थिर करके पाँचों इन्द्रियों-सहित चंचल मनको परमात्माके ध्यानमें एकाग्र कर दे। धीर योगी पुरुष पहले अपने हृदयके भीतर ध्यान-मार्गमें चंचल मनको एकाग्र करे क्योंकि इन्द्रियों-सहित मनको एकाग्र कर लेनेपर ही ध्यानका प्रारम्भ होता है। यही ध्यान-मार्गका प्रथम सोपान है।

प्रयत्न करनेपर यदि इन्द्रियों-सहित मन कुछ देरके लिये स्थिर हो भी जाता है तब भी वह फिर विषयोंकी ओर जानेके लिये मचल उठता है। ऐसी अवस्थामें साधकको खेद या क्लेश नहीं होना चाहिए वरन् आलस्य और मात्सर्य छोड़कर मनको पुनः एकाग्र कर लेना चाहिए।

ध्यानका आरम्भ करते समय ध्यान-योगीके मनमें ध्यान-विषयक अनेक विचार, विवेक और वितर्क आदि प्रकट होते हैं। ध्यानके समय मनमें किसी प्रकारका क्लेश होनेपर भी उससे ऊबना नहीं चाहिए वरन् और भी तत्परताके साथ मनको एकाग्र करनेका प्रयत्न करके सर्वथा अपने कल्याणका ध्यान रखना चाहिए।

ध्यान-योगीको चाहिए कि विषयोंकी ओर लपकती हुई इन्द्रियोंको धीरे-धीरे विषयोंकी ओरसे समेटता चले और अभ्याससे क्रमशः चित्तको ऐसा साध ले कि वह शान्त हो जाय। मन और पाँचों इन्द्रियोंको ध्यान-मार्गमें स्थापित करके नित्यके अभ्यासके बलसे ध्यान-योगी पुरुष निश्चय ही शान्ति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मनोनिग्रह-पूर्वक ध्यान करनेवाले योगीको जो दिव्य सुख प्राप्त होता है वह मनुष्यको किसी दूसरे पुरुषार्थ या दैवयोगसे भी नहीं मिल सकता। ध्यान-योगका सुख पाकर योगी सब प्रकारके दुःख और शोकसे मुक्त होकर मोक्ष-पद और ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।

ध्यान-योगकी साधना

जो मनुष्य इस संसार-सागरके संकटसे मुक्त होना चाहे उसे ज्ञान-रूपी नौकाका सहारा लेना चाहिए क्योंकि जिन लोगोंको बुद्धिके द्वारा समुचित ज्ञान प्राप्त करके परम तत्त्वका पूर्ण निश्चय हो गया है वे धीर पुरुष स्वयं तो भवसागरसे पार हो ही जाते हैं, दूसरोंको भी पार कर देते हैं। सावधान चित्तवाले मनुष्यको चाहिए कि वह हृदयके राग आदि दोष नष्ट करके योगमें सहायता पहुँचानेवाले देश, कर्म, अनुराग, अर्थ, उपाय, अपाय, निश्चय, चक्षुष्, आहार, संहार, मन और दर्शन इन बारह योगोंके सहारे ध्यान-योगका अभ्यास करे।

ध्यान-योगके साधकको ऐसे स्थानपर आसन लगाना चाहिए जो समतल और पवित्र हो। निर्जन वन, गुफा या ऐसा कोई

एकान्त स्थान ही ध्यानके लिये उपयोगी होता है। ऐसे स्थानपर आसन लगानेको देश-योग कहते हैं। उचित आहार-विहार, चेष्टा, सोना और जागना—ये सब परिमित और नियमानुकूल होना ही कर्म नामक योग है। परमात्मा एवं उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तीव्र अनुराग रखना ही अनुराग-योग कहलाता है। केवल आवश्यक सामग्रीको ही पास रखना अर्थ-योग है। ध्यानोपयोगी आसनसे बैठना उपाय-योग है। संसारके विषयों और सगे-सम्बन्धियोंसे आसक्ति तथा ममता हटा लेनेको अपाय-योग कहते हैं। गुरु और वेदशास्त्रके वचनोंपर विश्वास रखनेका नाम निश्चय-योग है। चक्षुको नासिकाके अग्रभागपर स्थिर रखना चक्षुर्योग है। शुद्ध और सात्त्विक भोजनका नाम आहार-योग है। विषयोंकी ओर प्रवृत्त होनेवाले मन और इन्द्रियोंकी स्वाभाविक गतिको रोकना ही संहार-योग कहलाता है। मनको संकल्प-विकल्पसे रहित करके एकाग्र करना ही मनोयोग है। जन्म, जरा, मृत्यु और रोग आदि होनेके समय महान् दुःख और दोषोंका वैराग्यपूर्वक दर्शन करना (उन्हें सारहीन समझना) दर्शन-योग है। जिसे योगके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी हो, उसे इन बारह योगोंका अवलम्बन करना ही चाहिए।

जो मनुष्य उत्तम ज्ञान प्राप्त करना चाहता हो उसे बुद्धिके द्वारा मन और वाणीको जीतना चाहिए और जो अपने लिये शान्ति चाहे उसे ज्ञानके द्वारा अपनी बुद्धि परमात्मामें लगा देनी चाहिए।

चाहे मनुष्य बहुत क्रूर हो या सब वेदोंका ज्ञाता हो या ब्राह्मण होकर भी वेदके ज्ञानसे शून्य हो या धर्म-परायण और यज्ञ करता हो या घोर पापाचारी अथवा शूरवीर हो या बड़े कष्टसे जीवन बिताता हो, वह भी यदि इन बारह योगोंको भलीभाँति जानकर अभ्यास कर ले तो जरा-मृत्युके परम दुर्गम समुद्रके पार हो जाता है। इस प्रकार योगका अभ्यास करनेवाला पुरुष यदि ब्रह्मको जानना चाहता हो तो सब प्रकारके सकाम कर्मोंकी सीमा लाँघकर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है।

पातञ्जल योग-दर्शनमें 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' अर्थात् एक देशमें चित्तको एकाग्र करनेको धारणा बतलाया गया है। साधकको सर्वप्रथम पृथ्वीतत्त्वमें चित्त लगाना चाहिए। इस धारणासे उसका पृथ्वीतत्त्वपर अधिकार हो जाता है। फिर जलतत्त्वपर चित्त लगानेसे जलतत्त्वका ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। फिर जल-तत्त्वको अग्नितत्त्वमें विलीन करके अग्नितत्त्वकी धारणा की जाय। इससे अग्नितत्त्वपर अधिकार हो जाता है। तदनन्तर अग्निको वायुमें विलीन करके चित्तको वायुतत्त्वमें एकाग्र किया जाय। इससे साधक वायुतत्त्वपर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार क्रमशः वायुको आकाशमें, आकाशको मनमें और मनको बुद्धिमें लय करके उस उस तत्त्वकी धारणा करनी चाहिए। इस प्रकार धारणाके ये सात स्तर हैं। अन्तमें जाकर बुद्धिको अव्यक्त ब्रह्ममें बिलीन कर देना चाहिए।

यह योग ऐसा सुन्दर रथ है कि धर्म ही इसकी बैठक, लज्जा उहार (छतरी), उपाय और अपाय ही इसके कूबर, अपान वायु ही धुरा, प्राण-वायु ही जुआ, बुद्धि ही आयु, जीवन ही बन्धन, चेतना ही बन्धुर, सदाचार-ग्रहण ही इसकी नेमि, नेत्र, त्वचा, घ्राण और श्रवण ही इसके वाहन, प्रज्ञा ही नाभि, सम्पूर्ण शास्त्र ही चाबुक, ज्ञान ही सारथि और क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) ही रथी या रथ-सवार है। यह रथ बहुत धीरे चलता है। श्रद्धा और इन्द्रिय-दमन इसके आगे-आगे चलनेवाले मार्ग-दर्शक रक्षक हैं और त्यागरूपी सूक्ष्म गुण इसके पीछे चलनेवाले पृष्ठ-रक्षक हैं। यह मंगलमय रथ ध्यानके पवित्र मार्गपर चलकर जीवात्माको साथ लिए हुए ब्रह्म-लोकमें ले जा पहुंचता है अर्थात् योगके द्वारा जीवात्मा परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।

इस योग-रथपर चढ़कर साधना करने और तत्काल अविकारी परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छावाले साधकको जिस प्रकार शीघ्र

सफलता मिलती है उसका उपाय दिया जा रहा है। पहले साधकको वाणीपर संयम करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, बुद्धि और अहंकार-सम्बन्धी सात धारणाओंको सिद्ध कर लेना चाहिए। इनके विषयों (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, निश्चय और अहंवृत्ति)-से सम्बन्ध रखनेवाली सात प्रधारणाएँ स्वयं इनके साथ-साथ या पीछे-पीछे चली आती हैं। ऐसा करनेसे साधक क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और बुद्धिके प्रभावको दबा लेता है और इसके पश्चात् वह क्रमशः ब्रह्मका ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है जैसा पातञ्जल योग-दर्शनमें विधान बताया गया है।

साधक जब स्थूल देहका अभिमान छोड़कर ध्यान लगाता है तब उसे अपनी सूक्ष्म दृष्टिसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि शिशिर कालके कोहरेके समान कोई सूक्ष्म पदार्थ सारे आकाशको ढके ले रहा है। देहाभिमानसे मुक्त योगीके अनुभवका यह पहला सोपान है।

कोहरा हट जानेपर उसे सारे आकाशमें जल ही जल दिखाई देने लगता है, यहाँतक कि आत्माका अनुभव भी वह जल-रूपमें ही करता है। ऐसा अनुभव जलतत्त्वकी धारणा करते समय होता है। यह दूसरे रूपका अनुभव है।

फिर जलका लय हो जानेपर अग्नि-तत्त्वकी धारणा करते समय उसे सर्वत्र अग्नि ही अग्नि प्रकाशित दिखाई पड़ती है। यह तीसरे रूपका अनुभव है।

अग्निके लय हो जानेपर योगीको यह अनुभव होने लगता है कि आकाशमें सर्वत्र वायु ही वायु फैला हुआ है। उस समय वृक्ष और पर्वत आदि सब शस्त्रों (पदार्थों)-को पी जानेके कारण वायु पीतशस्त्र कहलाता है अर्थात् पृथ्वी, जल और तेज-रूपी सब पदार्थोंको निगलकर वायु केवल आकाशमें ही घूमता रहता है और साधक स्वयं यह अनुभव करने लगता है कि मैं भी उनके कणके

समान बहुत नन्हा और हल्का होकर वायुके साथ निराधार आकाशमें बैठा हुआ हूँ। यह अनुभवका चौथा रूप है।

इसके पश्चात् तेज और वायु-तत्त्वपर विजय प्राप्त कर लेनेसे वायुका सूक्ष्म रूप आकाशमें लीन हो जाता है और केवल नीला आकाश मात्र शेष रह जाता है। उस अवस्थामें जो योगी ब्रह्म-भावको प्राप्त होनेकी इच्छा करता हो उसका चित्त अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। उसे अपने स्थूल रूपका भानतक नहीं रह जाता। इसीको वायुका लय और आकाश-तत्त्वपर विजय कहते हैं। यह पाँचवाँ अनुभव होता है।

पार्थिव ऐश्वर्य सिद्ध हो जानेपर योगोमें नवीन सृष्टि करनेकी शक्ति आ जाती है। जिसे वायु-तत्त्व सिद्ध हो जाता है वह केवल हाथ, पैर, अँगूठे या उँगली मात्रसे दबाकर पृथ्वीको कम्पित कर सकता है। आकाशको सिद्ध कर लेनेवाला पुरुष आकाशमें आकाशके ही समान सर्वव्यापी हो जानेके कारण अपने शरीरको अन्तर्धान करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। जल-तत्त्वपर अधिकार कर लेनेसे इच्छा करते ही साधक बड़े-बड़े जलाशयको पी जा सकता है जैसे अगस्त्यजी पी गए थे। अग्नितत्त्वको सिद्ध कर लेनेपर साधकका शरीर इतना तेजस्वी हो जाता है कि न तो कोई उसकी ओर आँख उठाकर देख सकता और न उसके तेजको कम कर सकता। अहंकार-तत्त्वको जीत लेनेपर पाँचों भूत (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश) उस योगीके वशमें हो जाते हैं। पंच भूत और अहंकार इन छह तत्त्वोंका आत्मा बुद्धि है। उसे जीत लेनेपर तो सभी ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते है और योगीको पूर्ण रूपसे निर्दोष प्रतिभा (विशुद्ध तत्त्व-ज्ञान-शक्ति) प्राप्त हो जाती है। इन ऊपर बताए हुए सात पदार्थों (पंच महाभूत, अहंकार और बुद्धि)-से बना हुआ यह व्यक्त जगत् अन्तमें अव्यक्त परमात्मामें ही विलीन हो जाता है क्योंकि उन्हींसे यह जगत् उत्पन्न होकर व्यक्त नाम धारण करता है।

योग-शास्त्रके ज्ञाता लोग शास्त्रमें बताए हुए कर्मोंके द्वारा स्थूल शरीरसे निकले हुए सूक्ष्म शरीरवाले जीवात्माको भी देख लेते हैं। जैसे सूर्यकी किरणें चारों ओर विचरती दिखाई देती हैं वैसे ही यह जीवात्मा भी स्थूल शरीरसे निकलकर सब लोकोंमें चला जाता है, किन्तु जिसे ज्ञान-दृष्टि मिल जाती है, वह योगी सब सजीव शरीरोंके भीतर सूक्ष्म रूपसे स्थित अलग-अलग सब जीवोंको देख लेता है। शरीरके तत्त्वको जाननेवाले जितेन्द्रिय योगी लोग स्थूल शरीरोंमें-से निकले हुए सूक्ष्म लिङ्ग शरीरोंसे युक्त जीवोंको अपने आत्माके द्वारा देख लेते हैं। जो योगी अपने योग-बलसे सब कर्मजनित काम आदि भावोंका परित्याग कर चुके हैं और प्रकृतिसे भी असम्बद्ध होकर मुक्त हो चुके हैं, उन सभी योगी पुरुषोंका जीवात्मा सदा दिन और रातमें सोते-जागते समय निरन्तर उनके वशमें रहता है। उन योगियोंका नित्य स्वरूप सदा सात सूक्ष्म गुणों-महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)-से युक्त होकर अजर-अमर देवताओंके समान नित्य प्रति विचरता रहता है।

जीवात्मा तो परमात्माका ही अंश है जो सब जीवधारियोंके हृदयमें विराजमान रहता है। किन्तु जो लोग रजोगुण और तमोगुण-से प्रभावित रहते हैं वे अपनी देहके ही भीतर अवस्थित जीवात्माको न तो देख ही पाते हैं, न समझ ही पाते हैं। आत्माके दर्शनकी इच्छा करनेवाले योगी लोग तो योगके अभ्याससे जड स्थूल शरीर, अमूर्त सूक्ष्म शरीर और सुदृढ कारण शरीर सबको लाँघ जाते हैं।

जो मनुष्य पञ्च तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), मन, और बुद्धि इन सात सूक्ष्म तत्त्वोंको अशाश्वत समझकर और छह अंगों अर्थात् ऐश्वर्योंवाले महेश्वरका ज्ञान प्राप्त करके यह जान लेता है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे ही यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है वह परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर ही लेता है।

परब्रह्मका साक्षात्कार करनेकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षु पुरुषको चाहिए कि क्षमासे क्रोधको, सब प्रकारके संकल्पके त्यागसे कामनाओं-

को, ज्ञान, ध्यान आदि सात्त्विक गुणोंके सेवनसे निद्राको, सजगता और सावधानीसे भयको दूर कर डाले, आत्माका चिन्तन करते हुए श्वासकी रक्षा या प्राणायाम करे, धैर्यके द्वारा इच्छा, द्वेष और कामको दूर करे, शास्त्रके अभ्याससे भ्रम, मोह, संशय, आलस्य और अनेक प्रकारका भाव उत्पन्न करनेवाली बुद्धिको दूर कर दे, हितकर, सुपाच्य और परिमित आहारसे शारीरिक उपद्रवोंका शमन कर डाले, सन्तोषसे लोभ और मोहका तथा तात्त्विक दृष्टिके द्वारा विषयोंका निवारण कर डाले, दयासे अधर्मको, विचारपूर्वक आचरणसे धर्मको, भविष्यका विचार करके आशाको, सब प्रकार-की आसक्ति छोड़कर अर्थको, सब वस्तुओंको असत्य समझकर स्नेहको, योगाभ्यासके द्वारा भूखको, करुणाके द्वारा अपने अभिमान को, सन्तोषके द्वारा तृष्णाको, उद्योगके द्वारा आलस्यको, शास्त्रमें दृढ विश्वासके द्वारा विरोधी तर्कको, मौनके द्वारा बहुत बोलनेके दुरभ्यासको, साहस तथा वीरताके द्वारा भयको जीत ले, बुद्धिके द्वारा मन, वाणी और सब इन्द्रियोंको वशमें कर ले, विवेकके द्वारा बुद्धिको शुद्ध कर ले और फिर आत्मज्ञानके द्वारा विवेकका भी शमन करके आत्माको परमात्मामें विलीन कर दे। इस प्रकार पवित्र आचार-विचारसे युक्त साधक सब ओरसे उपरत होकर शान्त भावसे परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है।

काम, क्रोध, लोभ, भय और निद्रा—ये योगमें विघ्न डालने-वाले पाँच दोष हैं। इसलिय इनका परित्याग करके, वाणीपर संयम रखकर निम्नांकित योगके साधनोंका सेवन करना चाहिए—ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, बाहर-भीतर-की पवित्रता, शुद्ध आहार और इन्द्रियोंका संयम। इन साधनोंसे साधकका तेज तो बढ़ता ही है, उसके पापोंका नाश हो जाता है, उसके संकल्प सिद्ध होने लगते हैं और हृदयमें विज्ञान (परमात्माका ज्ञान) चमक उठता है। इस प्रकार जब सब पाप धुल जाते हैं और साधक तेजस्वी, मिताहारी, जितेन्द्रिय, देहाभिमानसे मुक्त होकर

काम और क्रोधको अपने अधीन कर लेता है तब वह ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठित हो जाता है।

ब्रह्मको प्राप्त करनेका स्वच्छ, निर्मल और पवित्र मार्ग यही है कि मनसे सब प्रकारका मोह और आसक्ति निकाल फेंके, काम और क्रोधको पास न फटकने दे, दीनता, उद्दंडता और उद्वेग अपनेसे दूर रक्खे, अपने चित्तको स्थिर किए रहे, विचलित न होने दे और निष्काम भावसे मन, वाणी और इन्द्रियोंपर संयम रक्खे अर्थात् किसी प्रकारकी भी तृष्णा मनमें न आने दे। इतना होनेपर परम ज्योतिस्वरूप ब्रह्मके दर्शन स्वयं होने लगते हैं।

क्षर और अक्षर-तत्त्वके ज्ञानसे

ब्रह्म-साक्षात्कार

यह सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत् ही व्यक्त कहलाता है जिसका प्रतिदिन क्षरण होता रहता है। इससे भिन्न तत्त्व ही अक्षर और अव्यक्त है। उसी अव्यक्त अक्षरसे इस व्यक्त नामवाले मोहात्मक जगत्का क्षरण (उत्पादन) हुआ है इसीलिये इसे क्षर कहते है। सांख्यके २४ तत्त्वोंसे परे सो सर्वव्यापी परमात्मा है वह २५वाँ तत्त्व है। सभी तत्त्व उसके आश्रयमें रहते हैं इसलिये उसे परम तत्त्व कहते हैं। महत्तत्त्व (बुद्धि), अहंकार, पंच महाभूत, पंच तन्मात्रा, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, मन और अव्यक्त प्रकृति—ये २४ तत्त्व हैं और पच्चीसवाँ तत्त्व है निराकार परमात्मा जो अद्वितीय, चेतन, नित्य, सर्वस्वरूप, निराकार और सबका आत्मा है। वह परम पुरुष परमात्मा ही सब शरीरोंके हृदयमें निवास करता है। यह महान् आत्मा अविकारी होनेपर भी प्रकृतिके संसर्गसे विकारवान् हो जाता है। प्रकृतिके संयोगसे ही वह सत्त्व, रज, तम गुणोंसे युक्त हो जाता है तथा अज्ञानी मनुष्योंका संग करनेसे उन्हींके समान अपनेको शरीरमें बैठा हुआ समझनेके कारण विभिन्न सात्त्विक, राजस और तामस योनियोंमें जन्म ग्रहण करता रहता है। प्रकृतिके संसर्गसे उसे अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान लुप्त हो जाता है और वह अपने शरीरके साथ एकात्म होकर समझने लगता है कि मैं यह हूँ, मैं यह हूँ, अमुकका पुत्र अथवा अमुक जातिका हूँ। इस प्रकार वह सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंका अनुसरण करने लगता है।

ज्ञानी पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंको तो क्षर कहते हैं और इन २४ तत्त्वोंसे भिन्न २५ वें परम पुरुष परमात्माको अक्षर कहते हैं। इस बातको समझकर जान लेना ही वास्तविक ज्ञान है और इस ज्ञानसे ही परब्रह्मकी प्राप्ति होती है।

योगी जिस तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, सांख्यवेत्ता विद्वान् उसीका ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसीलिये बुद्धिमान् लोग मानते हैं कि सांख्य और योगका फल एक ही होता है।

आत्मा तो जन्म-मृत्युसे रहित, सबका द्रष्टा और निर्विकार है। वह सत्त्व आदि गुणोंमें अभिमान कर बैठनेके कारण गुणस्वरूप कहलाने लगता है। निर्गुण आत्मामें गुण रह ही कैसे सकता है इसलिये विद्वान् पुरुष मानते हैं कि जब जीवात्मा इन सत्त्व, रज और तम गुणोंको अपना न मानकर, उन्हें प्रकृतिका गुण मानकर, उन्हें छोड़कर, अपने शरीरमें भी अपनेपनकी बुद्धिका परित्याग कर देता है तब वह विशुद्ध परमात्म-स्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है।

सांख्य और योगशास्त्रके पंडित तथा परम तत्त्वकी खोज करनेवाले विद्वान् समझते हैं कि वह परमात्मा बुद्धिसे परे, परम ज्ञानसम्पन्न, चिन्मय, अज्ञात, अव्यक्त, सगुण ईश्वर, निर्गुण ईश्वर और नित्य अधिष्ठाता है। वह परमात्मा ही प्रकृति और उसके गुणों (२४ तत्त्वों) से अलग पच्चीसवाँ तत्त्व है। जब विवेकी पुरुष उस चेतन-स्वरूप अव्यक्त परमात्म-तत्त्वको ठीक-ठीक समझ लेते हैं तभी उन्हें परब्रह्म परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है।

क्षर और अक्षर-तत्त्वका अन्तर यही है कि सदा एक रूपमें रहनेवाला परमात्म-तत्त्व तो अक्षर कहलाता है और अनेक रूपोंमें प्रतीत और प्रकट होनेवाला प्रकृतिका सारा प्रपञ्च क्षर कहलाता है। जब यह पुरुष २५ वें तत्त्व-स्वरूप परमात्मामें स्थित हो जाता है तब

समझना चाहिए कि वह ब्रह्ममें स्थित हो गया। ब्रह्मको ही एक मात्र सत्य जाननेका यह ज्ञान तो वास्तविक ज्ञान है और उसे अनेकों रूपोंवाला समझना ही अज्ञान है। कुछ मनीषी विद्वान् २५ तत्त्वोंको ही तत्त्व कहते हैं किन्तु तत्त्व-चिन्तकोंने २४ जड तत्त्वोंको तो तत्त्व कहा है और २५ वें चेतन परमात्माको निस्तत्त्व (सब तत्त्वोंसे भिन्न) बताया है। चैतन्यत्व ही परमात्माका लक्षण है। महत्तत्त्वादि जितने विकार हैं वे सब क्षर तत्त्व हैं और परम पुरुष परमात्मा ही अक्षर है जो क्षर तत्त्वोंसे भिन्न तथा उनका सनातन आधार है।

सांख्य-मतके अनुसार प्रकृति और पुरुष दोनों ही अक्षर भी हैं और क्षर भी। य दोनों ही अनादि और अनन्त हैं। ये दोनों परस्पर मिलकर ईश्वर (सर्वसमर्थ) माने गए हैं। सांख्य-शास्त्र-वाले इन दोनोंको ही तत्त्व कहते हैं।

सृष्टि और प्रलय तो प्रकृतिका ही हुआ करता है इसलिये प्रकृतिको अक्षर कहते हैं। किन्तु महत्तत्त्व आदि गुणोंको उत्पन्न करनेके कारण इसमें बार-बार विकार होता रहता है इसलिये उसे क्षर भी कहते हैं। प्रकृति और पुरुषके संयोगसे महत्तत्त्व आदि गुणोंकी उत्पत्ति होती है इसलिये एक दूसरेपर आश्रित होनेके कारण उस पुरुषको भी क्षेत्र कहते हैं। योगी जब अपने योगके प्रभावसे प्रकृतिके सब गुणोंको मूल प्रकृतिमें विलीन कर देता है तब उनके साथ-साथ २५वाँ तत्त्व पुरुष भी परमात्मामें जा मिलता है, इसलिये उसे भी क्षर कह सकते हैं।

जब ज्ञानवान् पुरुष यह जान लेता है कि मैं कुछ अन्य हूँ और यह प्रकृति मुझसे भिन्न है, तब वह प्रकृतिसे अलग हो जानेके कारण अपने शुद्ध ब्रह्म-स्वरूपमें स्थित हो जाता है अर्थात् जब वह सब प्रकृत गुणोंको निरथंक समझकर उनसे विरत हो जाता है उस समय वह परब्रह्म परमात्माका दर्शन पा जाता है और उसका दर्शन

करके भी उससे भिन्न न होकर समझने लगता है कि मैं जिस संसारको और इस शरीरको सब कुछ समझता रहा और मोहवश एक शरीरसे दूसरे शरीरमें भटकता फिरता रहा वह सब व्यक्त था, इस संसारमें केवल परमात्मा ही मेरा बन्धु है, मैं इसके समान हो गया हूँ, जैसा यह है वैसा ही मैं भी हूँ, यह परमात्मा भी अत्यन्त निर्मल है और मैं भी वैसा ही निर्मल हूँ, अब मैं सावधान हो गया हूँ तथा ममता और अहंकारसे रहित हो गया हूँ और परमात्माके साथ संयोग करनेमें ही मेरा कल्याण है। इस प्रकारका उत्तम विवेक जिसे प्राप्त हो जाता है उसे अपने शुद्ध स्वरूपका ज्ञान हो जाता है और वह अव्यक्त प्रकृति, व्यक्त महत्तत्त्वादि, सगुण (जड वर्ग), निर्गुण (आत्मा) और सबके आदि भूत निर्गुण परमात्माका साक्षात्कार करके स्वयं भी वैसा ही हो जाता है।

नित्य-ज्ञान-सम्पन्न परब्रह्म परमात्मा ही बुद्ध हैं और उस परमार्थ तत्त्वको न जाननेके कारण जिज्ञासु जीवात्मा ही बुध्यमान है। योगके सिद्धान्तके अनुसार बुद्ध (नित्य ज्ञानसम्पन्न परमात्मा) और बुध्यमान (जिज्ञासु जीव) ये दोनों ही चेतन माने गए हैं।

यह जीवात्मा इस संसारमें क्रीडा करनेके लिये ही विकारको प्राप्त होता है। यह जीवात्मा अव्यक्त प्रकृतिको जानता है इसलिये उसे बुध्यमान कहते हैं। जड प्रकृति तो सगुण या निर्गुण किसी भी परब्रह्म या परमार्थ-रूपको नहीं जानती। इसीलिये सांख्यवादी लोग इस प्रकृतिको अप्रतिबुद्ध (ज्ञान-शून्य) कहते हैं। प्रकृतिके साथ संयोग होनेके कारण ही जीव संगतात्म (संगतिवाला) हो जाता है और इसी संगलोकके कारण ही अव्यक्त और अविकारी जीवात्माको लोग मूढ कहने लगते हैं। २५वाँ तत्त्व जो महान् आत्मा है वह अव्यक्त प्रकृतिको तो जानता है इसलिये उसे बुध्यमान कहते हैं परन्तु वह भी २६वें तत्त्व निर्मल, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, अप्रमेय, सनातन परमात्माको नहीं जानता। किन्तु सनातन परमात्मा तो उस २५वें तत्त्व जीवात्माको और चौबीसवीं प्रकृतिको भली भाँति जानता

है क्योंकि वह अव्यक्त और अद्वितीय ब्रह्म सभी दृश्य और अदृश्य वस्तुओंमें स्वभावसे ही रमा हुआ है। जब यह जीवात्मा उस शुद्ध ब्रह्मसे सम्बद्ध होकर निर्मल और सर्वोत्कृष्ट बुद्धि प्राप्त कर लेता है तब वह २६वें तत्त्व परब्रह्मका साक्षात्कार करके तद्रूप हो जाता है। उस केवल ब्रह्मसे मिलकर वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होकर अपने परमार्थस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसीको परमार्थतत्त्व कहते हैं। जब जीवात्मा यह विचार करने लगता है कि मैं २५ तत्त्वोंसे भिन्न २६वाँ नित्य, ज्ञान-सम्पन्न और जाननेके योग्य अजर अमर परमात्मा हूँ तब वह ब्रह्म-भाव प्राप्त कर ही लेता है।

भक्तियोग

भक्ति-मार्गके द्वारा ब्रह्मके साक्षात्कारपर विचार करनेसे पूर्व भक्ति-तत्त्वको समझ लेना नितान्त आवश्यक है। शाण्डिल्यसूत्रोंमें भक्तिका लक्षण बताते हुए कहा गया है कि ईश्वरमें परम अनुरक्ति अर्थात् पूर्ण अनन्य तल्लीनता ही भक्ति है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

भक्ति-सूत्रमें भी इसीका समर्थन करते हुए कहा गया है कि अपने आराध्यके प्रति जो राग या अनुरक्ति होती है उसे ही भक्ति कहते हैं—

आराध्य-विषयकरागत्वमेव भक्तित्वम्।

ऊपर निर्दिष्ट परानुरक्तिका अर्थ ही है चरम सीमातक पहुँची हुई अनुरक्ति। राग या अनुरक्तिका लक्षण समझाते हुए पांतजल योग-सूत्रमें कहा गया है—

सुखानुश्रयी रागः (२।३९)।

अर्थात् राग या भक्ति-प्रेम-सदा सुखमय होता है। जैसे-जैसे भक्त अपने इष्टदेवका स्मरण और कीर्तन करता चलता है वैसे-वैसे उसे आनन्द प्राप्त होता चलता है और ज्यों-ज्यों उसे आनन्द प्राप्त होता चलता है त्यों-त्यों भगवान्‌में उसकी आसक्ति या भक्ति बढ़ती चलती है। इस आसक्तिको ही भगवत्प्रेम कहते हैं। जब यह आसक्ति उस अवस्थातक पहुँच जाय जब भक्तको अपने इष्टदेवके अतिरिक्त कुछ भी अच्छा न लगे तब समझना चाहिए कि उसकी भक्ति पराकाष्ठाको पहुँच चुकी है। यह भक्ति-भावित प्रेम समझाया या बतलाया नहीं जा सकता क्योंकि यह प्रेम अवर्णनीय है। जिस व्यक्तिके चित्तमें इस नवीन प्रेमका उदय होता है उसे समझ सकना शास्त्रज्ञोंकी सीमासे बाहर है। यह प्रेम या भक्ति भी शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य, पाँच प्रकारकी बताई गई है। इनमेंसे मीराके समान माधुर्य-भक्ति तथा हनुमान् आदिके समान दास्य-भक्ति ही अधिक

फलवती होती है। यह भक्ति जब दृढ हो जाती है तब जो ज्ञान उत्पन्न होता तथा अपने इष्टके रूप और गुणका साक्षात्कार होता है वही ब्रह्म-साक्षात्कार है।

भक्तिके लिये किसी न किसी मूर्त इष्ट देवका आलम्बन नितान्त आवश्यक है। भगवान् विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य, देवी, राम, कृष्ण, हनुमान्, नृसिंह, भैरव अथवा अन्य भी किसी देवताकी भक्ति की जा सकती है। सभी देवताओं और उनके अवतारोंमें परब्रह्मका ही रूप विद्यमान रहता है। इन देवताओंके अनेक रूप होते हुए भी तात्त्विक दृष्टिसे वे सभी सगुण ब्रह्मके ही स्वरूप हैं—

सर्वदेवनमस्कारं केशवं प्रति गच्छति।

इनमेंसे किसीमें भी प्रयत्नपूर्वक मनको स्थिर कर लेनेको ही भक्ति कहते हैं—

उपायपूर्वं भगवति मनःस्थिरीकरणं भक्तिः।

जब बिना कारण ही किसी भी देवता या इष्टदेवमें रुचि होनेसे और स्वाभाविक सात्त्विक वृतिसे मनुष्यका मन उसमें रम जाय वह विहिता भक्ति कहलाती है। जब अपने कर्मके क्षय अथवा भगवान् विष्णु या अपने इष्टदेवको प्रसन्न करनेके लिये भक्ति की जाती है वही वास्तवमें सात्त्विकी भक्ति होती है।

शाण्डिल्य-सूत्र-भाष्यमें लिखा है कि सच्चा भक्त अपने शरीर, मन और वाणीसे किए हुए प्रत्येक कार्यको भगवान् नारायणको अर्पण कर देता है। यह भक्ति उन्नीस प्रकारकी होती है—षट्शद्-वर्ग (२) शद्वर्ग (३) त्रिषड्विंशति वर्ग, (४) पञ्चविंशति वर्ग, (५) चतुर्विंशति वर्ग, (६) विंशति वर्ग, (७) एकोनविंशति वर्ग, (८) अष्टादश वर्ग, (४) पञ्चदश वर्ग, (१०) त्रयोदश वर्ग, (११) द्वादशवर्ग, (१२) एकादश वर्ग, (१३) दशवर्ग, (१४) नववर्ग, (१५) सप्तवर्ग, (१६) षड्वर्ग, (१७) पंचवर्ग, (१८) चतुर्वर्ग, (१९) त्रिवर्ग। [भागवत २।७।१० और ११वाँ स्कन्ध]

सूरदासने भक्तिकी पहचान बताते हुए उसके लक्षणोंका यह विवरण दिया है—

रे मन आपको पहिचानि ।
सब जनमतैं भ्रमत खोयौ, अजहुँ तौ कछु जानि ।
ज्यौं मृगा कस्तूरि भूलै, सो तु ताकैं पास ।।
भ्रमत ही वह दौरि ढूँढै, जबहिं पावै बास ।
भरम ही बलवन्त सबमैं, ईस हूँ कै भाइ ।।
जब भगत भगवंत चीन्है, भरम मनतैं जाइ ।
सलिलकौ सब रंग तजिकैं, एक रंग मिलाइ ।।
सूर जो द्वै रंग त्यागै, वहै भक्त सुभाइ ।

इसका तात्पर्य यह है कि भक्त वह है जो आत्म-ज्ञानी हो, जिसे आत्माकी पहचान हो और भ्रम तभी दूर हो सकता है जब वह भगवान्को पहचान जाय । भक्तका स्वभाव यही है कि वह दो रङ्ग छोड़कर अपने इष्टदेवसे एक रंग या तल्लीन हो जाय ।

भक्तिकी परिभाषा

नारदके भक्तिसूत्रमें भक्तिके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार करते हुए भक्तिकी परिभाषाके विषयमें अनेक मत दिए गए हैं । महर्षि वेदव्यासका मत है—

पूज्यादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ।

[भगवान् या इष्टदेव या बड़े लोगोंमें अनुराग करना ही भक्ति है।] उनका कथन है कि अपनी इन्द्रियोंको कर्मके द्वारा पूर्णतः निवृत्त कर लेनेके लिये विधिपूर्वक भगवान्का पूजन और अर्चन करना चाहिए क्योंकि इस प्रकार पूजा करनेसे प्रेमका उदय होता है और फिर जब मनुष्य प्रेमाविष्ट हो जाता है तब बाह्य कर्म-काण्डके द्वारा की हुई पूजा और मानसिक पूजा दोनोंकी निवृत्ति हो जाती है और धीरे-धीरे विशुद्ध भक्तिका उदय होने लगता है ।

गर्गाचार्यका मत है—

कथादिष्विति गार्गः ।

[भगवान्की कथा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति कहलाती है ।] उनका मत कि है भगवान्के गुणोंके श्रवण एवं कीर्त्तनको ही अपनी सारी साधनाका सार जानकर उसमें दृढताके साथ मन लगाना और श्रद्धा करना ही भक्ति है ।

शाण्डिल्यका मत है—

आत्मस्याविरोधनेति शाण्डिल्यः ।

[उन बातोंमें अनुराग करना ही भक्ति कहलाता है जिसका अपने आत्मसे प्रेम करनेमें कोई विरोध न हो ।] उनका मत है कि संसारसे समस्त सम्पर्क छोड़कर और संसारकी प्रतीतिसे मन हटाकर आत्म-चैतन्यमें सब प्रकारके अस्तित्वकी आहुति देकर परमानन्दमें मग्न हो जानेको ही आत्मरति कहते हैं अर्थात् द्वैत या अद्वैत भावसे अपने आत्म-चैतन्यमें अनुरक्त होना ही भक्ति है ।

नारदका मत है कि—

नारदस्तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।

[मनुष्य जो कुछ भी लौकिक या पारमार्थिक कर्म करे वह सब भगवान्को अर्पित कर दे । भगवान्को भूलनेकी स्थितिमें परम व्याकुल हो जाना ही भक्ति है ।] जैसे भगवान्के दूर होते ही गोपियाँ व्याकुल हो उठती थीं वैसी भक्ति करनेको नारदने कर्म, ज्ञान और योग तीनोंसे श्रेष्ठ बताया है—

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा । [ना० सू० २५]

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी इसीका समर्थन करते हुए कहा गया है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

[तपस्वी, ज्ञानी और कर्मयोगी, तीनोंसे भक्तियोगी अधिक श्रेष्ठ होता है। इसलिये अर्जुन ! तुम योगी बनो। इन सब योगियोंमें भी जो पूर्ण रूपसे मुझमें तल्लीन होकर श्रद्धाके साथ मग्न रहता है वह सबसे अधिक श्रेष्ठ है।]

परा भक्ति

भक्तिका पात्र होनेके लिये भी नारदने अपने भक्तिसूत्रमें साधना-का एक क्रम बताते हुए कहा है कि भक्तिकी इच्छा करनेवालेको पहले कुसंग छोड़ देना चाहिए, क्योंकि कुसंगसे ही काम, क्रोध, मोह, स्मृति-भ्रंश, बुद्धि-नाश और सर्वनाश होता है। कुसंग छोड़ने-पर ही अनिर्वचनीय प्रेम उत्पन्न करनेवाली वह परा भक्ति प्राप्त होती है जो गूँगेके रसास्वादनकी भाँति वर्णित नहीं की जा सकती। उसमें मग्न होनेपर भक्त गद्‌गद होकर परमानन्दका स्वयं तो अनुभव कर लेता है पर उसकी व्याख्या नहीं कर पा सकता। यह परा भक्ति गुणर-हित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाली, न मिट सकने-वाली, सूक्ष्म और केवल अनुभव-द्वारा ही जानी जा सकनेवाली होती है। इस परा भक्तिमें मग्न रहनेवाले भक्त अपने इष्टदेवको ही प्राप्त करते, उसीको देखते, उसीकी बात सुनते, उसीकी बात कहते और उसीका चिन्तन करते रहते हैं।

गौणी भक्ति

ज्ञान, योग, तप आदि अन्य जितने भी साधन हैं उनकी अपेक्षा भक्ति-मार्ग अधिक सरल और सुलभ है क्योंकि इसमें आचार, साधना, कायक्लेश आदि किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती। इसीलिये नारदने घोषणा की है कि भक्तिके अतिरिक्त, अपने इष्टको प्राप्त करनेकी कोई दूसरी श्रेष्ठ साधना है ही नहीं। यह भक्ति ग्यारह प्रकारकी बताई गई है—गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति,

आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति। राजा परिक्षित्, नारद, हनुमान और पृथुराज आदिकी भक्ति गुणमाहात्म्यासक्तिवाली, ब्रजनारियोंकी भक्ति रूपासक्तिवाली, राजा पृथुकी भक्ति पूजासक्तिकी, प्रह्लादकी स्मरणासक्तिकी, हनुमान, अक्रूर और विदुर आदिकी दास्यासक्तिवाली, अर्जुन, उद्धव, सुबन्धु और श्रीदामा आदिकी सख्यासक्तिवाली, गोपिकाओंकी कान्तासक्तिवाली, नन्द, यशोदा, दशरथ-कौशल्या, कश्यप-अदितिकी भक्ति वात्सल्याशक्तिवाली, राजा बलिकी आत्मनिवेदनासक्तिकी और शुकदेव आदिकी तन्मयतासक्तिवाली भक्ति थी।

शाण्डिल्य-सूत्रमें गौणी भक्तिका परिचय देते हुए कहा गया है—

भक्त्या भजनोऽपसंहारात् गौण्या परायै तद्धेतुत्वात्।

[शांडिल्यसूत्र ५६]

[भजन या सेवा करना ही गौणी भक्ति है।] यह गौणी भक्ति ही परा भक्तिकी नींव है। इस गौणी भक्तिके अन्तर्गत सेवा, अर्चना आदि साधनोंके द्वारा जब भक्त सब प्रकारके विघ्नोंको दूर कर देता है तब परा भक्तिका पथ प्रशस्त हो जाता है। इस गौणी भक्तिमें श्रद्धापूर्वक भगवत्सेवा करते-करते अन्तःकरणकी वृत्तियाँ शुद्ध हो जाती हैं और चित्त शुद्ध हो जानेपर निर्मल भक्तिका उदय हो जाता है। इसीलिये कुछ आचार्योंने गौणी भक्तिको बहुत महत्त्व दिया है।

साधना-भक्ति

हरिभक्तिविलासमें भक्तिकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जिन बाह्य इन्द्रियोंकी सहायतासे शब्द, रस, रूप, स्पर्श और गन्धका बोध होता है, उन सब इन्द्रियोंका सत्त्वमूर्ति हरिके प्रति स्वाभाविक रूपसे एकाग्र हो जाना ही भगवद्-भक्ति कहलाता है। इस भक्तिके लिये आठ प्रकारकी साधना करनी पड़ती है—भगवद्-भक्तोंके प्रति वात्सल्य, भगवान्‌की अर्चनाका समर्थन, दम्भरहित होकर श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा, उनकी लीलाएँ सुननेमें अनुरक्ति,

उनके आगे नृत्य करना, गीत आदि गाना, प्रतिदिन उनका नाम स्मरण करना और उन्हींके नामसे जीवन धारण करना। इनके अतिरिक्त विष्णुका नाम और लीलाके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, अपने सब कर्मोंके अर्पण अर्थात् दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदनयुक्त नवधा भक्तिसे भक्त कृतार्थ हो जाते हैं। भगवान्‌के शंख-चक्र बनाना, ऊर्ध्व पुण्ड्र धारण करना, विष्णुका मन्त्र ग्रहण करना, उनकी अर्चना, जप, ध्यान, स्मरण, नाम-कीर्तन, श्रवण, वन्दन, पदसेवा, पादोदकधारण, प्रसाद-ग्रहण, वैष्णवोंकी सेवा करना, द्वादशी-व्रतमें निष्ठा और तुलसीरोपण—यह सोलह प्रकारकी भक्ति-व्यवस्था है। इनके अतिरिक्त भगवान्‌की मूर्तिका दर्शन, मथुरा-वृन्दावन आदि तीर्थोंमें गमन, भ्रमण और निवास, पूजाके धूपावशेषको सूँघना, निर्माल्य-ग्रहण, भगवान्‌के आगे नृत्य और वीणा-वादन, कृष्णलीला आदिका अभिनय, भगवान्‌के नाम-श्रवणमें उत्सुकता, पद्म और तुलसीकी माला धारण करना, एकादशीकी रात्रि-को जागरण करना, भगवान्‌के उद्देश्यसे ही गृह-निर्माण कराना तथा यात्रा-महोत्सव आदि करना भी भक्तिके लक्षणके अन्तर्गत आता है।

प्रेम-भक्ति

किन्तु इस साधना-भक्तिकी अपेक्षा भी प्रेम-भक्तिका माहात्म्य अधिक माना जाता है। 'नारदपांचरात्र'में लिखा है कि जब भक्त सदा यही चिन्ता करता रहे कि भगवान् मेरे हैं और इस भावनाके साथ वह पुलकायमान होकर परम आनन्दावस्थामें आँखोंसे आँसू बहाता, गाता, रोता, नाचता और लम्बी-लम्बी साँसे ले लेकर भगवान्‌को पुकारता है, वही प्रेम-भक्त है। हरिभक्ति-विलासमें भी इसीका समर्थन किया गया है। भक्ति-शास्त्रमें उत्तमा भक्तिको षडन्वित (छह गुणवाली) बताया गया है। इसमें सदा भगवान्‌की सेवामें तत्पर रहना आवश्यक है। यह उत्तमा भक्ति क्लेशघ्नी (क्लेशोंका नाश करनेवाली), शुभदा, मोक्षलघ-कारिता, सुदुर्लभा, सान्द्रानन्द-

विशेषात्मा और श्रीकृष्ण-कर्षणी नामक छह गुणवाली होती है। जो भक्ति अप्रारब्ध और प्रारब्ध पापवाले क्लेशोंको नष्ट कर देती है वह क्लेशघ्नी कहलाती है। इस क्लेशके तीन भेद होते हैं—पाप, पापके बीज और अविद्या। जो भक्त सम्पूर्ण संसारसे स्नेह करता है, सबमें अनुराग रखता है, सबमें सद्गुण देखता है और सुखकारी व्यवहार करता है उसकी भक्ति शुभदा कहलाती है। जो भक्त चारों पुरुषार्थोंको तृणवत् समझकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको तुच्छ समझते हैं वे मोक्ष-लघु-कारिता भक्ति करते हैं। सुदुर्लभा भक्ति दो प्रकारकी होती है—अलभ्या और अदेया। अनेक प्रकारके साधनोंसे भी भक्ति अर्जित न कर पाना तो अलभ्या कहलाती है और भगवान्के साथ रहकर मुक्ति मिलनेपर भी भक्ति न मिलना ही अदेया भक्ति कहलाती है। जो कोई भगवान्के दर्शन करके ब्रह्मानन्द-सुखका अनुभव करने लगे, वह सान्द्रानन्द-विशेषात्मा-भक्तिका अधिकारी होता है और जब भक्तिकी प्रबलता इतनी होती है कि श्रीकृष्ण स्वयं ही खिंचे चले आवें जैसे चीरहरणके समय द्रौपदीकी भक्ति थी, तब वह श्रीकृष्णाकर्षिणी होती है।

प्रेम-भक्तिकी व्याख्या

जिस भक्तिसे भली प्रकार चित्त निर्मल हो जाय और अपने इष्टदेवके प्रति ममता उत्पन्न हो उस भावको प्रेम कहते हैं। भक्ति-रसामृतसिंधुमें इस प्रेम-भक्तिके क्रमिक विकासको इस प्रकार वर्णन किया गया है—

> आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
> ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
> अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
> साधकानामथ प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥

[साधकोंमें इस प्रेमके प्रादुर्भावका यह क्रम होता है कि पहले श्रद्धा, फिर साधुओंका सङ्ग, फिर भजन-कीर्तन आदि क्रियाएँ,

तब अनर्थकारी बातोंसे निवृत्ति, तब निष्ठा, उसके पश्चात् रुचि, तब आसक्ति, तब भाव और अन्तमें प्रेम उत्पन्न होता है।]

भक्ति-योग

श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनने पूछा कि—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

[जो भक्त इस प्रकार अर्थात् निर्गुण और सगुण ब्रह्मके रूपमें आपकी उपासना करते हैं उनमें कौन श्रेष्ठ है ?]

इसके उत्तरमें भक्तियोगका प्रतिपादन करते हुए और अर्जुनको समझाते हुए श्रीकृष्णने कहा—जो व्यक्ति एकाग्रचित्त होकर सात्त्विक श्रद्धाके साथ मेरे सगुण स्वरूपकी आराधना करते हैं वे ही श्रेष्ठ हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जो भगवान्‌को 'गतिस्त्वम्' (आप ही एक मात्र मेरी गति हैं) समझकर अनन्य भावसे भगवान्‌के शरणागत हो जाते हैं वे ही भगवत्स्वरूप प्राप्त करते हैं। जिन्हें पूर्णतः यह विश्वास हो जाता है कि जिन भगवान्‌की मैं उपासना करता हूँ वे निश्चय ही मेरा उद्धार करेंगे, उनमें सात्त्विक श्रद्धाका उदय होता है और वे अपने आराध्यको ही सर्वस्व समझकर भक्तिपूर्ण चित्तसे भजन करते हैं। वे ही वास्तवमें भक्तियोगी हैं।

भक्ति-रसके अधिकारी

भक्तिरसके अधिकारी वे ही लोग माने गए हैं जिनके हृदयमें प्राक्तन या पिछले जन्मकी और आधुनिकीय या इस जन्मकी सद्भक्तिवासना विराजमान रहती है। भक्तिरसका आस्वादन उन्हींके हृदयमें उत्पन्न होता है। आस्वादनके इन कारणोंको ही विभाव कहते हैं।

जब भक्त अत्यन्त तन्मय होकर भगवान्में मन लगा देता है और अधीर होकर अपनेको प्राण-वायुमें अर्पित कर देता है तब प्राण दूसरी अवस्थामें जाकर देहको अत्यन्त क्षुब्ध कर देता है। उस समय भक्तके शरीरमें स्तंभ, रोमांच, कंप और अश्रु आदि सात्त्विक भाव उत्पन्न हो जाते हैं और वह आविष्ट होकर नाचने, गाने, चिल्लाने और बड़बड़ाने लगता है।

अपने इष्टदेवके साथ मिलनेको योग कहते हैं, जो तीन प्रकारका होता है—सिद्धि, तुष्टि और स्थिति। उत्कण्ठित अवस्थामें अपने इष्टदेवको प्राप्त कर लेना सिद्धि कहलाती है। वियोगके पश्चात् उन्हें प्राप्त कर लेना तुष्टि कहलाती है और अपने इष्टदेवके साथ वास करने और एकत्र रहनेको स्थिति कहते हैं।

जब भक्तके मनमें शुद्ध सात्त्विक रूपसे भक्ति-प्रेम उत्पन्न हो जाता है और भक्त अपने इष्टदेव या भगवान्की कृपा और आत्मीयता प्राप्त करनेके लिये अपने चित्तको तन्मय कर लेता है उसे भाव-भक्ति कहते हैं। इस भक्तिमें विरक्ति, अभिमान-शून्यता, क्षमा, अपने इष्टदेवसे मिलनेकी आशा, इष्टदेवका नाम-स्मरण करके उनके गुणोंका कीर्तन करनेमें सदा रुचि और उनके निवास-स्थान आदिमें प्रीति उत्पन्न होने लगती है।

प्रपत्ति या शरणागति

भक्तिकी पराकाष्ठा प्रपत्ति या शरणागतिमें होती है। यह शरणागति छह प्रकारकी मानी गई है—

> आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्।
> रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्ववरणं तथा॥
> आत्मनिपेक्षकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

[यह संकल्प करना कि मैं सदा अपने इष्टदेवके अनुकूल रहूँगा अर्थात् जैसा वे मुझे रखना चाहेंगे वैसा ही रहनेमें आनन्दका अनुभव

करूँगा, अपने इष्टदेवके प्रतिकूल न तो कोई आचरण करूँगा न अपने इष्टदेवके प्रतिकूल चलनेवाले या उनमें अश्रद्धा करनेवाले किसी व्यक्तिसे कोई सम्पर्क रक्खूँगा, यह पक्का विश्वास हो जाना कि मेरे इष्टदेव ही मेरी रक्षा करेंगे और यह निश्चय करके उन्हें अपने गोप्ता या रक्षकके रूपमें वरण कर लेना, मान लेना अर्थात् यह पक्का विश्वास कर लेना कि वे ही मेरे रक्षक हैं, वे ही मेरी रक्षा करेंगे, अन्य किसीसे भी मुझे न तो रक्षाकी याचना ही करनी है न सहायता ही लेनी है, इतना हो चुकनेपर पूर्णतः अपनेको इष्ट-देवके हाथमें सौंपकर कह देना कि यथेच्छसि तथा कुरु (जो तेरी इच्छा हो वह कर) और अन्तमें अपने इष्टदेवके सम्मुख सदा दीन भावसे रहना कि मेरा कोई अस्तित्व नहीं है, कोई सहारा नहीं है, आप ही दीनबन्धु हैं, मैं दीन आपकी शरणमें पहुँच गया हूँ, यही छह प्रकारकी शरणागति है ।]

जो भक्त सदा सन्तुष्ट, एकाग्रचित, संयतात्मा और दृढ निश्चय-वाले हैं और जिन्होंने अपना मन और अपनी बुद्धि कृष्णार्पण कर दी है वे ही श्रेष्ठ हैं अर्थात् जो प्राप्ति या अप्राप्ति, संपत्ति या विपत्ति सबमें संतुष्ट रहते हैं, जो सदा भगवान्‌में मन लगाए रहते हैं, जिन्होंने शरीर और इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लिया है, जिनका भगवान्‌में दृढ विश्वास है, जिन्होंने सब संकल्प-विकल्प छोड़कर अपना मन और अपनी बुद्धि भगवान्‌को अर्पण कर दी है, वे ही भक्त भगवान्‌को प्रिय हैं। जो व्यक्ति किसी दूसरेसे सन्तप्त नहीं होता और जिसने हर्ष, विषाद, भय और उद्वेग सबका परित्याग कर दिया है वही भगवान्‌को सबसे अधिक प्रिय है। जो व्यक्ति निरपेक्ष, पवित्र, कुशल, उदासीन, सब व्यथाओंसे दूर और सब प्रकारके कर्मोंका आरम्भ छोड़ चुका है और जितना मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहता है, जो किसीसे दुःख पाकर भी उसकी निन्दा नहीं करता, जिसने शोक और इच्छाका परित्याग कर दिया है जिसने शुभ और अशुभकी भावना भी छोड़ दी है, जिसके लिये शत्रु और

मित्र, शीत और उष्ण, मान और अपमान, सुख और दुःख सब कुछ समान हैं, वही भक्त भगवान्‌को अधिक प्रिय है।

भक्तिरस

जिस प्रकार साहित्यमें नौ रसोंकी स्थिति मानी गई है उसी प्रकार भक्तोंने भक्तिरसका अस्तित्व भी प्रमुख माना है। भक्ति-रसामृतसिंधुमें इस भक्तिरसका परिचय देते हुए कहा गया है—

विभावैरनुभावश्वैच सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।
एषा कृष्णरतिः स्थायिभावो भक्तिरसो भवेत् ॥

[श्रीकृष्णमें रति स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और संचारीभावके योगसे भक्ति-रस हो जाता है।]

उनके अनुसार ईश्वर या श्रीकृष्ण ही आलम्बन विभाव, भक्त ही आश्रय, भगवान्‌के गुण श्रवण और कीर्तन आदि भक्तकी चेष्टाएँ ही उद्दीपन-विभाव, स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय ही सात्त्विक भाव तथा निर्वेद, विषाद, दैन्य और ग्लानि आदि ही संचारी भाव हैं। श्रीकृष्णमें यह रति आश्रय या पात्र-भेदसे पाँच प्रकारकी होती है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और प्रियता या माधुर्य। जब किसी साधकके मनमें इनमेंसे किसी एक प्रकारकी रतिका उदय होता है तब उसे केवला रति कहते हैं और जब कई प्रकारकी रति मिलकर उत्पन्न होती हैं उसे संकुला रति कहते हैं।

ऐसी ही स्थितिके लिये कहा गया है—

दियौ सु सीस चढ़ाइ लै, आछी भाँति अएरि।
जापै सुख चाहतु लियौ, ताके दुखहिं न फेरि॥

[अरे भक्त! तेरे इष्टदेवने तुझे जो कुछ दिया है उसे तू भली प्रकार हर्षपूर्वक स्वीकार करता चल क्योंकि जिससे तू सुख लेना

चाहता है उसके दिए हुए दुःखको क्यों लौटाता है ? तू उसके दिए हुए दुःखको भी सुख ही समझकर उसका भी आनन्द लेता चल ।] जब भक्त पूर्ण रूपसे अपनेको भगवान्‌के हाथमें सौंप देता है तब उसकी सारी चिन्ता भगवान् या इष्टदेव ही करने लगते हैं । वह निश्चिन्त हो जाता है । यही भक्तियोग है । ऐसा होनेपर भगवान् ही भक्तके पीछे पीछे चलते और उसकी देखभाल करने लगते हैं ।

श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं

भक्ति तो किसी भी देवताको इष्ट मानकर की जा सकती है किन्तु ऊपर जो भक्तियोगका विवरण दिया गया है उसमें भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिका ही विशेष विवेचन किया गया है । उसका कारण यह है कि भक्ति-योगपर श्रीकृष्ण-भक्तोंने ही श्रीकृष्णको स्वयं भगवान् मानकर अधिक लिखा है । युधिष्ठिरके पूछनेपर भीष्मने (शान्तिपर्व अ० २०७) भी कहा था कि भगवान् श्रीकृष्ण सबके ईश्वर और प्रभु हैं जिनकी महिमा वेदोंमें भी वर्णित की गई है । वे ही सब प्राणियोंके आत्मा हैं, उन्होंने ही पाँच भूतोंकी रचना की, उन्होंने ही अनेक अवतार लेकर दुष्टोंका विनाश किया, उन्हींसे चारों वर्णोंकी उत्पत्ति हुई, वे ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र-रूप हैं, वे ही देव और देवेन्द्रोंके उत्पादक हैं, उन्होंने ही इस लोकको उत्पन्न किया, वे ही तपस्या-रूप हैं, वे ही सब ज्ञानियोंकी परम गति हैं, वे सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं, उन गोविन्दकी आराधना करके अनेक महर्षि मुक्त हो गए, वे ही जगत्‌के सृष्टिकर्त्ता, संहारकर्त्ता और कारणोंके भी कारण हैं । जो लोग संसारके सब बन्धनोंसे मुक्त करनेवाले उन भगवान् विष्णुकी अनन्य चित्तसे आराधना करते हैं वे अत्यन्त दुर्लभ सायुज्य मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् वे श्रीकृष्ण परब्रह्मके साथ एकात्म हो जाते हैं । यही श्रीकृष्णका सनातन परमात्मभाव है । वे सत्य-पराक्रमी, कमलनयन, महाबाहु केशव ही अचिन्त्य परमेश्वर हैं । उन्हें केवल मनुष्य नहीं मानना चाहिए ।

भीष्मजीने (शान्तिपर्व अ० २१०) एक गुरु-शिष्यके संवादका प्रसंग छेड़ते हुए यही बताया कि सम्पूर्ण वेदका मुख प्रणव (ॐ) तथा सत्य, योग, यज्ञ, तितिक्षा, इन्द्रिय-संयम, सरलता और परम-तत्त्व जो कुछ हैं वे सब कुछ वासुदेव कृष्ण ही हैं। संसारकी सृष्टि और प्रलय करनेवाले अव्यक्त और सनातन ब्रह्म भी वे ही हैं। सृष्टि और प्रलयका यह सारा रूप और काल-चक्र सब श्रीकृष्णके ही स्वरूप हैं। वे ही पितर, देवता, ऋषि, यक्ष, राक्षस, नाग और मनुष्य आदि सबकी रचना करते हैं। वे ही प्रलय बीतनेपर कल्पके प्रारम्भमें प्रकृतिके आश्रयसे वेद, शास्त्र और सनातन लोकधर्मोंको फिरसे प्रकट करते हैं। वे परब्रह्म, अनादि और सबसे परे हैं जिन्हें न देवता जानते हैं न ऋषि। उनका ज्ञान अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान ही सारे दुःखोंका परम औषध है।

अतः, भगवान् श्रीकृष्णको परब्रह्म मानकर उनकी भी भक्ति की जा सकती है किन्तु यदि कोई किसी अन्य देवताकी भी भक्ति करे तो उसे भी इसी भाव और रीतिसे भक्ति करनेपर उसी देवतामें ब्रह्म-साक्षात्कार हो जायगा।

ब्रह्मचर्य और वैराग्यसे ब्रह्मज्ञान

जो मनुष्य शास्त्रोंमें बताए हुए सब कर्म निष्काम भावसे करता चलता है वह मनुष्य तत्त्व-ज्ञानके द्वारा परम गति प्राप्त कर लेता है। सब प्राणियोंमें मनुष्य-योनि सर्वश्रेष्ठ है। इसे साधन-धाम बताया गया है अर्थात् मनुष्य-देहसे सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्योंमें भी केवल ज्ञानी मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ होता है। ज्ञानी बननेके लिये वाणी, शरीर और मनकी पवित्रता, क्षमा, सत्य, धैर्य और स्मृति—ये कल्याणकारी गुण होने परम आवश्यक हैं। इसके साथ-साथ ब्रह्मचर्य नामक गुणको तो शास्त्रोंमें ब्रह्मका स्वरूप ही बताया गया है। ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला मनुष्य ब्रह्मका ज्ञान और ब्रह्मको प्राप्त करनेके साथ-साथ उस परम पदको भी प्राप्त कर लेता है जहाँ पाँचों प्राण, मन, बुद्धि, दसों इन्द्रियोंवाला शरीर, शब्द और स्पर्श आदि कुछ भी नहीं है। वह परमपद या ब्रह्म न कानसे सुनता, न आँखोंसे देखता, न वाणीसे बोलता और न मनसे सोचता है। मनुष्यका कर्तव्य है कि बुद्धि और विवेकके द्वारा उसका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करके उसकी प्राप्तिके लिये निष्कलंक ब्रह्मचर्यका पालन करे। जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य-व्रतका ठीक-ठीक पालन करता है वह अवश्य ही ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है। जो मनुष्य यह जानते हैं कि ब्रह्मचर्यमें दोष आ जानेसे ही सब प्राणियोंमें वर्णसंकरता उत्पन्न हो जाती है, उन्हें चाहिए कि पूर्ण विरक्त होकर सारे दोष नष्ट कर डालें जिससे उन्हें फिर देहके बन्धनमें न पड़ना पड़े। जो मनुष्य उतना ही भोजन करता है जितना शरीरकी रक्षाके लिये आवश्यक है और अभ्यासके बलसे उस निर्विकल्प समाधिमें जा पहुँचता है जहाँ सब गुण समाप्त हो जाते हैं तब वह अपने मनके द्वारा मनोवाह नाडीपर संयम रखते हुए अन्तकालमें सुषुम्णा नाडीसे

प्राणोंको ले जाकर संसारके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। तत्त्व-ज्ञानका उदय ऐसे ही ब्रह्मचारीके मनमें हो पाता है जिसका मन प्रणव (ॐ) की उपासनासे परिशुद्ध होकर नित्य, प्रकाशमय और निर्मल हो चुकता है। अतः, जो ब्रह्मचारी अपने मनको वशमें करके निर्दोष और निष्काम कर्म करता रहता है उसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो ही जाता है।

गार्हस्थ्य-धर्मसे भी परब्रह्म-प्राप्ति

प्रायः लोग कहा करते हैं कि घरबार छोड़कर, गृहस्थ-धर्मके चक्करमें न पड़कर, विरक्त होकर, किसी पर्वत, गुफा या वनमें जाकर एकान्तमें आत्मचिन्तन करके मुक्त होनेका उपाय करना चाहिए किन्तु भीष्मजीने श्वेतकेतु और सुवर्चलाके संवादका प्रसंग सुनाते हुए युधिष्ठिरसे कहा कि सुवर्चलाने बहुतसे विद्वान् ऋषि-कुमारोंकी सभामें पहुँचकर यह कहा कि मेरा पति वही हो सकता है जो अन्धा भी हो और अन्धा न भी हो। यह सुनकर बहुतसे लोग तो क्रुद्ध होकर उसे बहुत कोसते हुए चले गए और बहुतसे यों ही चुप-चाप घर लौट गए। तब उद्दालक ऋषिके पुत्र श्वेतकेतुने उसके पास जाकर कहा—भद्रे ! मैं वही हुँ जिसे तुम पति बनाना चाहती हो। मैं अन्धा हूँ यह भी ठीक है क्योंकि मैं अपने मनमें सदा यही मानता हूँ। किन्तु किसी भी विषयके सम्बन्धमें मेरे मनमें सन्देह नहीं है इसलिये मैं विशाल नेत्रोंवाला भी हूँ। अतः, तू मुझे स्वीकार कर ले। जिस परमात्माकी शक्तिसे यह जीवात्मा सदा सब कुछ देखता, ग्रहण करता, स्पर्श करता सूँघता, बोलता, स्वाद लेता, मनके द्वारा मनन-चिन्तन करता और बुद्धिके द्वारा निश्चय करता है वह परमात्मा ही चक्षु है। (चष्टे इति चक्षुः—जो देखता है वही चक्षु हैं)। जिसे यह चक्षु नहीं प्राप्त है वही अन्धा है और जिसे परमात्मा-रूपी चक्षु प्राप्त है वह अन्धा नहीं है। जिस परमात्माके भीतर यह सारा जगत् काम कर रहा है और यह सारा संसार जिस आँखसे देखता, कानसे सुनता, त्वचासे स्पर्श करता, नासिकासे सूँघता, जीभसे स्वाद लेता और जिस लौकिक चक्षुसे यह सारा व्यवहार होता है वैसा मेरा कोई चक्षु नहीं है इसलिये मैं अन्धा हूँ और आत्म-दृष्टि रखनेके कारण सब कर्म करता हुआ भी उनमें

मैं लिप्त नहीं होता हूँ, शान्त भावसे सदा परमात्माका ही चिन्तन करता हुआ उनपर निर्भर रहता हूँ, ज्ञानके द्वारा अमृतमय परमात्मा-का साक्षात्कार कर चुका हूँ और जो कुछ भला-बुरा होता रहता है उसपर कोई ध्यान न देकर किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं करता, इसलिये मैं अनन्ध या आँखवाला हूँ। तुम मेरा वरण करो।

विवाह हो जानेपर श्वेतकेतुने सुवर्चलासे कहा—तुम मेरी सहधर्मचारिणी बनकर सभी शुभ कर्म करो, मेरे ही भावमें स्थित होकर मेरी आज्ञाके अनुसार ही सब कर्म करो और फिर यह समझ कर कि ये सब कर्म मेरे नहीं हैं, मैं इनकी करनेवाली नहीं हूँ, यह ज्ञान सिद्ध करके इस ज्ञानकी अग्निसे सब कर्म भस्म कर डालो। तुम परम सौभाग्यवती हो।

तब एक दिन सुवर्चलाने अपने पति श्वेतकेतुसे पूछा—बताइए, आप कौन हैं? अर्थात् दहराकाश (हृदय-गुफा) में रमण करनेवाला आत्मा कौन है? श्वेतकेतुने कहा—आत्माका तो कोई नाम-गोत्र है नहीं। वह कैसे उत्तर देगा? और मैं, तुम, सबमें जो अहं है वह जब परमार्थ-तत्त्व है ही नहीं तब तुम किसलिये किससे पूछ रही हो? देखो देवि! जगत्‌की रक्षाके लिये तुम्हें भी वैसे ही निर्लेप होकर लोक-मर्यादाका पालन करना चाहिए जैसे मैं कर रहा हूँ।

इसके पश्चात् श्वेतकेतुने बताया कि ब्रह्म तो परम शुद्ध और उपमारहित है। वाणीसे उसका वर्णन नहीं किया जा सकता और चर्म-चक्षुओंसे उसे देखा नहीं जा सकता। केवल ज्ञानकी दृष्टिसे ही उसका साक्षात्कार हो पा सकता है। वह तो केवल ज्ञान-स्वरूप ही है। अध्यात्मतत्त्वके चिन्तनसे जो नित्य ज्ञान मिलता है वह दीपककी भाँति स्पष्ट रूपसे प्रकाशित होने लगता है और उसी ज्ञानसे मनुष्य-को परम गति प्राप्त होती है।

इस प्रकार वे दोनों पति-पत्नी निर्लिप्त होकर नित्य-नैमित्तिक कर्म करते हुए अपने समस्त कर्म परमात्मा गोविन्दको अर्पित करके;

उन्हींके ध्यानमें तन्मय रहकर, गार्हस्थ धर्मका पालन करते हुए परब्रह्मका दर्शन पा गए और इस प्रकार परमात्म-चिन्तन करके उन्होंने परम गति (ब्रह्म)-को प्राप्त कर लिया। [शान्तिपर्व, अ० २२०]

गृहस्थ-आश्रम सब धर्मोंका मूल कहा जाता है। इस आश्रममें रहकर अन्तःकरणके राग आदि दोष पक जानेपर (सब प्रकारके भोगोंसे जी ऊब जानेपर) जितेन्द्रिय पुरुषको पूरी सिद्धि प्राप्त हो जाती है और ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है।

श्रेष्ठ गार्हस्थ्य-जीवन

जहाँ श्रेष्ठ गार्हस्थ्य-जीवन होता है वहींपर श्री (शील, शोभा, सम्पत्ति, शान्ति) सदा बनी रहती है। इन्द्रके पूछनेपर श्री (लक्ष्मी) ने कहा था कि जो लोग अपने धर्मका पालन करते, धैर्यसे कभी विचलित न होते और सदा श्रेष्ठ कामोंमें लगे रहते हैं उन्हींके यहाँ मैं निवास करती हूँ। ऐसे पुरुषका लक्षण बताते हुए लक्ष्मीने कहा कि जो लोग दान, अध्ययन और यज्ञ-याग करते, देवता, गुरु, पितर और अतिथियोंकी पूजा करते, अपना घर-बार झाड़-बुहार कर स्वच्छ रखते, पति अपनी पत्नीके और पत्नी अपने पतिके मनको प्रेमसे जीत लेते, प्रतिदिन अग्निहोत्र करते, गुरु-सेवी, जितेन्द्रिय ब्राह्मण-भक्त. सत्यवादी, श्रद्धालु, क्रोधहीन और ईर्ष्यारहित होते, दूसरेके गुणोंमें दोष न देखते, स्त्री, पुत्र और घरके प्राणियोंका भरण-पोषण करते, कभी क्रोध-वश किसी दूसरेसे लाग-डाँट न रखते, दूसरोंकी समृद्धिसे कभी सन्तप्त न होते, धैर्य रखते, दान देते, उचित उपायोंसे धन संग्रह करते. श्रेष्ठ जनोंके योग्य आचार-विचारसे रहते, कभी कलह न करते, चिल्लाकर न बोलते, सब जीवोंपर दया करते, दूसरोंपर अनुग्रह करते, बच्चोंको कभी न मारते-पीटते, उनसे प्रेम करते, सरल स्वभाववाले, भक्ति-युक्त, संयमी होते, अपने सेवकोंको सन्तुष्ट रखते, कृतज्ञ और मधुर-भाषी होते,

सबका समुचित सम्मान करते, सबका उचित सत्कार करते, अपनी प्रशसासे लज्जित और संकुचित होते, व्रत एवं नियमोंका पालन करते, सब पर्वोंपर विशेष स्नान करते, अंगोंमें चन्दन लगाते, उपवास और तपस्या करते, सबके विश्वास-पात्र होते, वेदोंका स्वाध्याय करते, सूर्योदय होनेतक सोए नहीं रहते, सूर्योदयसे पहले जाग उठते, रातमें कभी दही और सत्तू नहीं खाते, मन और इन्द्रियोंपर संयम रखते, सबेरे देवता, गौ और घीका दर्शन करते, बड़ोंको प्रणाम करते, मांगलिक वस्तुओं (गौ, दूर्वा, हरिद्रा, गंगा जल आदि)-को देखते, ब्राह्मणोंकी पूजा करते, सदा धर्मकी चर्चा करते, प्रतिग्रह (दूसरोंसे कुछ लेने)-से दूर रहते, रातके आधे भागमें (रातके द्वितीय और तृतीय प्रहर)-में ही सोते, दिनमें कभी न सोते, कृपण, अनाथ, वृद्ध, रोगी और स्त्रियोंपर दया करके उन्हें अन्न और वस्त्र देते, त्रस्त, दुखी, घबराए हुए, भयभीत, व्याधि-ग्रस्त, दुर्बल, पीडित और लुटे हुएको ढाढस बँधाते, सदा धर्मका आचरण करते, कभी किसीकी हिंसा न करते, सब कार्योंमें प्रेमके साथ एक-दूसरेका हाथ बँटाते, गुरुजन और बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करते, पितरों, देवताओं और अतिथियोंकी विधिवत् पूजा करते और उन्हें अर्पण करनेके पश्चात् बचा हुआ अन्न (विघस) ही प्रसाद रूपमें ग्रहण करते, सदा सत्य व्यवहार करते, तप करते, कभी अकेले स्वादिष्ट भोजन न करके पहले दूसरोंको देकर पीछे अपने काममें लाते, पर पुरुष और परस्त्रीसे कोई सम्पर्क न रखते, सब प्राणियोंको समान समझकर उनपर दया करते और नित्यदान, चतुरता (कुशलता), सरलता, उत्साह, निरभिमानिता, परम सौहार्द, क्षमा, सत्य, दान, तप, शौच, करुणा, कोमलता और मित्रोंसे प्रेम रखते, निद्रा, तन्द्रा, अप्रसन्नता, अविवेक, अप्रीति, विवाद आदि दोषोंसे दूर रहते, वहाँ मैं निवास करती हूँ। जहाँ क्रीडा, रति और विहार-के अवसरपर स्त्रियाँ पुरुष-वेश धारण करतीं और पुरुष स्त्रियोंका वेश धारण करते, वहाँ मैं नहीं रहती।

लक्ष्मीने यह भी कहा कि आशा, श्रद्धा, धृति, शान्ति, विजिति, संनति, वृत्ति और जया जो आठ देवियाँ हैं वे भी सदा मेरे ही साथ निवास करती हैं।

इसी प्रसंगमें लक्ष्मीजीने यह भी कहा कि मैं ऐसे स्थानोंपर कभी नहीं रहती जहाँ बड़े-बूढ़ोंकी सभामें उद्दण्ड युवक उनमें दोष निकालते और उनकी हँसी उड़ाते, उनका सम्मान नहीं करते, उन्हें प्रणाम नहीं करते और उनके आनेपर खड़े नहीं होते। मैं वहाँ नहीं रहती जहाँ पिताके रहते ही पुत्र घरके स्वामी बन बैठते और शत्रुओंके सेवक बनकर अपने उस निन्दनीय कार्यकी डींग हाँकते हैं, अनुचित उपायोंसे धन कमाते हैं, दिन-रात जोर-जोरसे चिल्ला-चिल्लाकर हल्ला मचाते हैं, जिनके घरोंमें पुत्र अपने पितापर और स्त्रियाँ अपने पतियोंपर अत्याचार करती हैं, जहाँ स्त्रियाँ कलह करतीं, कठोर और कर्कश स्वरमें चिल्लातीं, एक दूसरेमें दोष निकालतीं, गाली देतीं, अपने सास-श्वशुर, जेठ, देवर, यहाँतक कि अपने पुत्रोंसे भी झगड़ा करतीं, दिन-रात खाती रहतीं, जहाँ माता-पिता, वृद्ध पुरुष, आचार्य, अतिथि और गुरुजनोंका अभिनन्दन नहीं होता, सन्तानोंके लालन-पालन और शिक्षापर ध्यान न देकर दिन-रात उन्हें मारा-पीटा जाता है, जहाँ देवताओं, पितरों, गुरुजनों, अतिथियोंको अन्न दिए बिना लोग स्वयं भोजन कर लेते हैं, जहाँ रसोईमें मन, वाणी और क्रियाकी पवित्रता नहीं रहती भोजनकी वस्तुएँ बिना ढके छोड़ दी जाती हैं, घरोंमें इधर-उधर बिखरे अनाजके दानोंको चूहे खाते रहते हैं, जहाँ बिना ढके दूध छोड़ दिया जाता है, जूठे हाथोंसे घी तथा अन्य खाद्य वस्तुएँ छुई जाती रहती हैं, घरमें कुदाल, पिटारी, बर्तन, वस्त्र और अन्य सामान इधर-उधर छितराए पड़े रहते हैं जिन्हें गृहस्वामिनियाँ ठीकसे सँभालकर नहीं रखती, जहाँ घरकी दीवारकी टूट-फूटकी मरम्मत नहीं होती, जहाँ पशुओंको घरमें बाँध देनेपर उन्हें न तो चारा-पानी दिया जाता, न उनकी सेवा की जाती, जहाँ छोटे

बच्चे देखते रह जाते हैं और बड़े लोग बैठकर गपागप खाते रहते हैं, जहाँ सेवकों तथा अन्य कुटुम्बी जनोंको भूखे रहकर लोग स्वयं खाते-पीते रहते हैं, बढ़िया स्वादिष्ट भोजन केवल अपने ही लिये बनवाते और खाते हैं, सूर्य निकलनेके पश्चात् उठते हैं, दिन-रात घरमें कलह मचाए रखते हैं, विद्वानों, महापुरुषों, साधुओं और महात्माओंसे द्वेष रखते और उनका अपमान करते हैं, जहाँ दासियाँ बढ़िया बढ़िया वस्त्र पहन-पहनकर चटकती-मटकती और आँखें चलाती हैं, जहाँकी स्त्रियाँ पुरुष-वेश धारण करके और पुरुष स्त्रियोंका वेश बनाकर प्रसन्न होते हैं, जहाँ पूर्वजों-द्वारा दी हुई जागीरें और दानकी वस्तुएँ छीन ली जाती हैं, जहाँ पञ्च बना हुआ मित्र धोखा देकर स्वयं मित्रकी सम्पत्ति हड़प लेता है, जहाँ व्यापारी दूसरोंका धन ठगते रहते हैं, जहाँ धूर्त्त भी तपस्वी और महात्मा बनकर ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंसे पैर पुजवाते हैं, लोग अकारण व्रत करते हैं, शिष्य गुरुकी सेवा नहीं करता, गुरु अपने शिष्यको मित्र समझता है, जहाँ घरोंमें माता-पिताकी प्रभुता समाप्त हो जाती है और वे अपने पुत्रोंसे अन्नकी भीख माँगते हैं, जहाँ गुरु ही शिष्योंकी सेवा करते हैं, जहाँ सास-ससुरके सामने बहुएँ घरके सदस्यों और सेवकोंपर शासन करतीं, पतिको भी आदेश देतीं, सबके सामने पतिको ललकारकर और बुलाकर उसे डाँटती और ऊँचे स्वरसे बात करती हैं, जहाँ पिता ही अपने पुत्र-का मन रखते हैं और उनके डरसे सारा धन उन्हें बाँटकर स्वयं कष्ट उठाते हैं, हितैषी और मित्र समझे जानेवाले लोग विपत्ति पड़नेपर हँसी उड़ाते हैं, जहाँ लोग कृतघ्न, नास्तिक और पापाचारी होते, अभक्ष्य भोजन करते और धर्मकी सारी मर्यादाएँ तोड़कर मनमाना आचरण करते हैं। ऐसे किसी भी स्थानपर मैं (लक्ष्मी) नहीं रहती। लक्ष्मीका अर्थ केवल धन ही नहीं है। उसका अर्थ है सुख, शान्ति, सद्भाव, स्नेह, शील, समृद्धि, सन्तोष और आत्मीयता।

[शान्ति पर्व अध्याय २२८]

एक बार श्रीकृष्णके पास बैठी रुक्मिणीने लक्ष्मीसे पूछा कि तुम किनके यहाँ रहती हो और किसका सेवन करती हो ? इसका उत्तर देते हुए लक्ष्मीने उनसे कहा कि जो पुरुष सौभाग्यशाली, निर्भीक, कार्यकुशल, कर्मठ, क्रोधरहित, देवताओंकी आराधना करने वाले, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, स्वधर्मपरायण, धर्मज्ञ, अपने घरके बड़े-बूढ़ोकी सेवा करनेवाले, मनको वशमें रखनेवाले और क्षमाशील हों, उन्हीं समर्थ पुरुषो तथा स्त्रियोंके पास मैं रहती हूँ। जो स्त्रियाँ सत्यवादिनी, सरल (कपट-रहित) और देवता तथा द्विजोंकी पूजा करती हैं, घरके बर्तन-भाँडे शुद्ध और स्वच्छ रखतीं, गौओंकी सेवा करतीं, धान्यका संग्रह करतीं, सौम्य वेशभूषाके कारण देखनेमें प्रिय लगतीं, ऐसी सौभाग्यशालिनी, सद्‌गुणवती, पतिव्रता, सबसे प्रिय व्यवहार करनेवाली, कल्याणमय आचार-विचारवाली और सदा हँसमुख रहती हुई स्वच्छ वस्त्र पहने रहनेवाली स्त्रियोंके पास ही मैं निवास करती हूँ।

जो पुरुष कभी अपना समय व्यर्थ नहीं खोते, सदा दान, शौचाचारमें ध्यान देते हैं, जिन्हें ब्रह्मचर्य, तपस्या, ज्ञान, गौ. और द्विज प्रिय हैं, जो अपने लिये कुछ न चाहकर सदा दूसरेका कल्याण करते हैं, ऐसे पुरुषोंके साथ मैं सदा निवास करती हूँ।

मैं सुन्दर सवारियोंमें, कुमारी कन्याओंमें, आभूषणोंमें, यज्ञोंमें, वर्षा करनेवाले मेघोंमें, खिले हुए कमलोंमें, शरत्‌की तारिकाओंमें, हाथियों और गोशालाओंमें, सुन्दर आसनोंमें, खिले हुए कमलोंसे सुशोभित सरोवरोंमें तथा उन नदियोंमें सदा निवास करती हूँ जहाँ हंसोंकी मधुर ध्वनि गूँजती रहती है, क्रौंच कलरव करते रहते हैं, जिनके तटोंपर वृक्षोंकी श्रेणियाँ फैली रहती हैं, जिनके तटपर तपस्वी, सिद्ध और ब्राह्मण रहते हैं, जिनमें बहुत जल भरा रहता है और जिनमें सिंह और हाथी आ आकर स्नान किया करते हैं।

मतवाले हाथी, साँड, राजा, सिंहासन और सत्पुरुषोंमें मेरा नित्य निवास है। जिस घरमें अग्निमें आहुति दी जाती है, गौ, ब्राह्मण

और देवताओंकी फूलोंसे पूजा होती है, उन घरोंमें मैं नित्य निवास करती हूँ। वेदोंका स्वाध्याय करनेवाले ब्राह्मणों, सबकी रक्षा करनेवाले क्षत्रियों, कृषि और गोरक्षाके कर्ममें लगे हुए वैश्यों तथा नित्य सेवा-परायण शूद्रोंके यहाँ भी मैं सदा निवास करती हूँ।

मैं ऐसे मनुष्योंके पास निवास नहीं करती जो अकर्मण्य, नास्तिक, वर्णसंकर, कृतघ्न, दुराचारी, क्रूर, चोर, डाकू, हिंसक, गुरुजनोंमें दोष देखनेवाले, तेज, बल, सत्त्व और गौरवसे हीन, बात-बातमें खिन्न होनेवाले, कपट-व्यवहार करनेवाले, मूढ और थोड़ेमें ही सन्तोष करके हाथपर हाथ धरकर बैठनेवाले होते हैं।

मैं उन स्त्रियोंके पास भी निवास नहीं करती जो घरके बर्तन जूठे छोड़ देतीं और इधर-उधर बिखेरे रहती हैं, फटे कपड़े सीती नहीं हैं, बिना सोचे-समझे काम करती है, सदा अपने पतिके प्रतिकूल बोलती और आचरण करती है, दूसरोंके घरोंमें आती-जाती रहती है, लज्जा-संकोच छोड़ बैठती हैं, बच्चोंसे निर्दय व्यवहार करती हैं, दूसरोंकी समृद्धि, सुन्दरता और वैभवसे ईर्ष्या करती हैं, पापाचारमें तत्पर रहती हैं, टोना, टोटका, जादू आदि अभिचार-क्रियाओंका प्रयोग करती हैं, अपवित्र, जूठे हाथोंसे वस्त्र, घी, आटा तथा अन्य खाद्य पदार्थ छूती रहती हैं, चटोर, धैर्यहीन, कलहप्रिय और नींदमें बेसुध होकर खाटपर पड़ी करवट बदलती रहती हैं।

मैं अनन्यचित्त होकर तो धर्ममूर्ति, ब्राह्मण-भक्त, सर्वप्रिय नारायणके पास ही रहती हूँ किन्तु जिस पुरुषके पास मैं निवास करती हूँ वह सदा धर्म, यश, धन और कामसे सम्पन्न हुआ रहता है।

—अनुशासनपर्व, अध्याय ११

अङ्गिरा, मरीचि आदि मुनियोंसे लक्ष्मीजीने कहा कि मैं केवल पुण्यवान् सुनीतिज्ञ गृहस्थोंके घर ही स्थिर भावसे रहूँगी।

मैं उन लोगोंके यहाँ कभी नहीं रहती जिनसे उनके गुरुदेव, देवता, माता, पिता, बान्धव, अतिथि और पितर लोग रुष्ट रहते हैं, जो

सदा चिन्तित, भयभीत, शत्रुग्रस्त, पातकी, ऋणग्रस्त, कृपण, शोक-पीडित, मन्दबुद्धि, स्त्रीके वशीभूत, कटुभाषी, कलह करनेवाले या जिसके घर निरन्तर कलह होता हो, जहाँ स्त्रियाँ प्रधान होती हों, जहाँ हरि-पूजा और भगवान्‌का गुणगान न होता हो, जो कन्या-विक्रय आत्म-विक्रय, वेद-विक्रय या हिंसा करता हो, जो अपने आश्रित माता, पिता, पत्नी, गुरुपत्नी, गुरुपुत्र, अनाथ भगिनी, कन्या तथा आश्रय-रहित बान्धवोंका पोषण न करके सदा धन-संचय करता रहता हो। ऐसे लोगोंके यहाँ मैं नहीं रहती जिनके दाँत और वस्त्र मैले-कुचैले हों, माथा रूखा और बाल बिखरे हुए हों, जिनकी हँसी बुरी लगती हो, जो भीगे पैरको धोकर या बिना धोए नग्न रहते अथवा संध्या और दिनमें शयन करते हैं, जो पहले सिरमें पीछे अन्य अंगोंमें तेल लगाते, जो तेल लगाकर मलमूत्र त्याग करते, प्रणाम करते और फूल तोड़ते हों, जो नखसे तृण काटते और धरती कोड़ते हों, जिनके शरीर और पैर मैले रहते हों, जो ब्राह्मण या देवताकी वृत्ति हरण करते हों, जो मन्द-बुद्धि, शठ, पापी तथा मन्त्र-विद्या-द्वारा जीविका-निर्वाह करते हों, जो चिकित्सक या पाचकका काम करते और किसीके विवाह या धर्म-कार्यमें बाधा पहुँचाते हों।

—ब्रह्मवैवर्तपुराण; गणेश खण्ड, अध्याय २१, २२।

एक बार भगवान् विष्णुने लक्ष्मीसे पूछा—देवि! तुम स्थिर होकर कहाँ रहती हो? लक्ष्मीने कहा—जहाँ सफ़ेद कबूतर रहते हों, जहाँकी गृहिणियाँ सुन्दरी, गृहकार्यमें चतुर, मधुरभाषिणी और कलहहीना, होती हैं, जहाँ स्वर्णके सदृश धान और चाँदीके सदृश चावल होता है, जहाँ अन्न साफ़ करके रक्खा रहता है, जहाँके लोग प्रिय-भाषी, वृद्धोपसेवी, प्रियदर्शन, मितभाषी, कर्मठ, धर्मशील, जितेन्द्रिय, विद्याविनीत, निरभिमानी, जनानुरागी, और परोपकारी हों ऐसे व्यक्तियोंके यहाँ मैं रहती हूँ। जो देरतक स्नान करता, शीघ्र भोजन करता, सुगन्धित पुष्प पाकर भी उसे न सूँघता और नग्न स्त्री-को नहीं देखता, ऐसे ही लोग मुझे प्रिय हैं। जिन पुरुषोंमें त्याग,

सत्य और शौच ये तीन महागुण हों मैं उन्हींके घर वास करती हूँ। आँवला, गायका गोबर, शंख, श्वेत वस्त्र, कमल, चन्द्र, महेश्वर, नारायण, पृथ्वी, और उत्सव-मन्दिरमें लक्ष्मीका नित्य निवास है।

गुणवती, भक्ति-भाविता, पतिकी आज्ञानुवर्तिनी, पतिका उच्छिष्ट खानेवाली, सदा सन्तुष्ट, धीर, प्रियवादिनी, सौभाग्यशीला, लावण्यमयी, प्रियदर्शना, श्यामा, मृगाक्षी, सुशीला और पतिव्रता स्त्रियोंके यहाँ मैं सदा निवास करती हूँ।

जो पुरुष बासी फूल सूँघता, बहुत लोगोंके साथ सोता, टूटे, फटे आसनपर बैठता, उससे लक्ष्मी सदा दूर रहती है। जो व्यक्ति चिताङ्गार, अस्थि, अग्नि, द्विज, भस्म, गौ, अश्व, भूसे और गुरुको पैरोंसे स्पर्श करता उसकी आई हुई लक्ष्मी भी चली जाती है।

—स्कन्दपुराण : लक्ष्मी-चरित

गरुडपुराण (अध्याय ११४) और मार्कण्डेय पुराण आदिमें भी विस्तारसे इसी प्रकारका लक्ष्मी-चरित मिलता है।

श्रेष्ठ गृहस्थका धर्म

अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेवाला जीव तभी सुखी हो सकता है जब वह अपने जीवनमें निम्नांकित प्रकारका व्यवहार करे। 'युक्त-चेष्टस्य कर्मसु'के अन्तर्गत भी ये ही व्यवहार आते हैं। दान, व्रत, ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन, इन्द्रियनिग्रह, शान्ति, समस्त प्राणियोंपर दया, चित्तका संयम, कोमलता, पराये धनसे विरक्ति, मनसे भी किसीका अहित न करना, माता-पिताकी सेवा, देवता, अतिथि और गुरुओंकी पूजा, दया, पवित्रता और शुभ कर्मोंमें लगा रहना ही श्रेष्ठ गृहस्थका धर्म और व्यवहार है। (आश्वमेधिकपर्व—१८।१५-१८)

परमात्माके साथ एकता, समता, सत्य-भाषण, सदाचार, ब्रह्म-निष्ठा, अहिंसा, सरलता तथा सकाम कर्मोंसे उपरति ही मनुष्यका सबसे बड़ा धर्म है।

गृहस्थ स्त्रीका धर्म

एक बार शिवजीने पार्वतीजीसे पूछा कि तुम तो ब्रह्माकी पत्नी सावित्री, इन्द्रकी पत्नी शची, विष्णुकी पत्नी लक्ष्मी, यमकी भार्या धृति, मार्कण्डेयकी पत्नी धूमोर्णा, कुबेरकी पत्नी ऋद्धि, वरुणकी भार्या गौरी, सूर्यकी पत्नी सुवर्चला, चन्द्रमाकी स्त्री रोहिणी, अग्निकी भार्या स्वाहा, कश्यपकी पत्नी अदिति आदि सभी पतिव्रता देवियोंके साथ रही हो, इसलिये यह बताओ कि स्त्रियोंका धर्म क्या है।

उमाने कहा कि मैं उन पुण्य नदियोंसे सम्मति लेकर आपके प्रश्नोंका उत्तर दूँगी जो आपके चरणोंका स्पर्श करनेके लिये आ पधारी हैं। उमाके पूछनेपर गंगाजीने उनसे कहा कि स्त्री-धर्मकी व्याख्या तो आप ही कर सकती हैं। इसपर उमाने स्त्रियोंका धर्म बताना प्रारम्भ किया और कहा—जिस नारीके स्वभाव, बातचीत और आचरण उत्तम हों, जिसके दर्शन मात्रसे पतिको सुख मिलता हो, जो अपने पतिके अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुषमें मन न लगाती हो, अपने स्वामीको सदा देव-तुल्य समझती हो, उसे देवता समझकर उसकी सेवा-परिचर्या करती हो, कभी किसी भी अवसरपर रुष्ट या अप्रसन्न न होती हो, जो सदा अपने स्वामीका मुख निहारा करती हो और नियमित सात्त्विक आहारका सेवन करनेवाली हो वही स्त्री धर्मचारिणी और धर्मपरायणा होती है। वह पतिके समान ही व्रतका पालन करनेवाली होती है इसीलिये वह पतिव्रता कहलाती है। पति और पत्नीका यह सहधर्म ' साथ रहकर धर्माचरण करना) परम मंलमय धर्म है। जो स्त्री सदा प्रसन्नचित्त रहकर अपने हृदयके सम्पूर्ण अनुरागके साथ अपने पतिके अधीन रहकर पतिकी इच्छाके अनुकूल वस्त्राभूषण धारण करती हो, पतिके कठोर वचन कहने या दोष निकालनेपर भी हँसती और मुस्कराती रहती हो, यहाँतक कि पुरुष नामवाले चन्द्रमा, सूर्य या किसी वृक्षकी ओर भी दृष्टि न डालती हो और अपने दरिद्र, रोगी दीन अथवा थकानसे खिन्न

पतिकी भी शुद्ध भावसे सेवा करती हो वही स्त्री धर्मका फल प्राप्त करती है।

जो स्त्री शुद्ध हृदयवाली, गृह-कार्यमें कुशल और पुत्रवती होकर अपने पतिसे प्रेम करती हुई उसे ही अपना सर्वस्व समझती हो, जो प्रसन्न चित्तसे अपने पतिकी सेवा करते हुए उसपर पूर्ण विश्वास करती हो और उसके साथ विनयपूर्ण व्यवहार करती हो, वही धर्मका फल प्राप्त करती है। जिसके हृदयमें अपने पतिके लिये जैसी प्रबल चाह होती है वैसी काम, भोग और सुखके लिये भी नहीं होती वही पतिव्रत्त धर्मका फल पाती है। जो नारी प्रतिदिन प्रातः-काल सूर्योदयसे पहले उठती, घरका काम-काज सँभालती, घरको झाड़-बुहारकर स्वच्छ और पवित्र बनाए रखती, देवताओंके लिये पुष्प और बलि अर्पण करतो, देवता, अतिथि और घरके अन्य पोष्य वर्गको भोजनसे तृप्त करके न्याय और विधिके अनुसार शेष अन्न ग्रहण करती हो, घरके लोगोंको हृष्ट, पुष्ट और सन्तुष्ट रखती हो, उत्तम गुणोंसे सम्पन्न होकर सास-श्वशुरकी सेवा करती हो, माता-पिताका आदर करती हो, ब्राह्मणों, दुर्बलों, अनाथों, दीनों, अन्धों और अपाहिजोंको अन्न देकर उनका पोषण करती हो, मर्यादा-पूर्वक व्रत करती हो, निरन्तर पतिके हित-साधनमें लगी रहती हो, वही नारी पातिव्रत धर्मके पालनका फल और सुख पाती है।

पति ही नारियोंका देवता, गुरु (पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्) बन्धु, बान्धव और गति है। उसके लिये न तो कोई दूसरा सहारा है न कोई देवता। यदि पति दरिद्र, रोगी, आपद्ग्रस्त या शत्रुओंके हाथ पड़ जाय उस अवस्थामें यदि वह प्राण-त्यागकी भी आज्ञा दे तो आपद्धर्म समझकर निःशंक होकर उसे पूरा करना चाहिए। यही स्त्रीका सबसे बड़ा, मुख्य और एकमात्र धर्म है।

(अनुशासन पर्व, अ० १४६)

धर्म और अधर्म

ऊपर बताया गया है कि पुरुष और स्त्रियोंको धर्मका आचरण करना चाहिए अधर्मका नहीं। धर्मके आचरणसे ही मन, बुद्धि और आत्माका संस्कार-परिष्कार होता है क्योंकि शौचाचार या सदाचार ही धर्मका आधार है। यह कहा गया है कि धर्मका तत्त्व अत्यन्त गूढ है इसलिये जैसा काम महापुरुष करते चले आए हों वही सदाचार है और वही धर्म है।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्था।

शान्तिपर्व (अध्याय ६०।७८)में सार्ववर्णिक धर्म बताते हुए कहा गया है कि किसीपर क्रोध न करना, सदा सत्य बोलना, बाँटकर खाना, अपराधीको भी क्षमा करना, अपनी धर्मपत्नीसे ही सन्तान उत्पन्न करना, मन, वचन, कर्मसे पवित्र रहना, किसीसे द्रोह न करना, सरल होना अर्थात् छल-कपट न करना और सेवकोंका पोषण करना सभी वर्णोंका धर्म है।

सत्य सदा कल्याणकारी होता है। यदि सत्य बोलनेसे किसीकी प्राण-हानि होती हो तो वह सत्य नहीं है जैसे कौशिक मुनिने सत्य-भाषणके फेरमें चोरोंको एक सज्जनका ठिकाना बता दिया जिससे वह सज्जन मारा गया और कौशिक मुनिको नरक भोगना पड़ा।

इसी प्रकार अहिंसा भी ऐसी होनी चाहिए कि उसके कारण सज्जनों या अन्य जनोंको कष्ट न हो। बलक नामक व्याधने एक ऐसे हिंसक मनुष्यको मार डाला जो दूसरोंको मारता, सताता और त्रास देता था। उसे मार डालनेके कारण बलक व्याधको स्वर्ग मिला। इसलिये धर्माचरणके सम्बधमें यह विचार कर लेना चाहिए कि हम जो कुछ भी कह और कर रहे हैं उसका फल कैसा होगा। यदि फल कल्याणकारी हो तो वह कार्य धर्म है, यदि अकल्याणकारी है तो वह अधर्म है।

यह तो ठीक है कि महापुरुष जैसा आचरण करते आए हों वही धर्म है और वही करना भी चाहिए किन्तु दशा यह हो गई है कि जो लोग धर्मका उपदेश देते हैं वे स्वयं घोर अधर्म और पापमें लिपटे पड़े हैं। इसीलिये सामान्य लोग भी—

धर्मं प्रसङ्गादपि नाचरन्ति पापं प्रयत्नेन समाचरन्ति।
आश्चर्यमेतद्धि मनुष्यलोकेऽमृतं परित्यज्य विषं पिबन्ति॥

[लोग धर्मके आचरणका अवसर आनेपर भी धर्म नहीं करते किन्तु पाप-कर्म बड़ा प्रयत्न करके करते चलते हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि लोग अमृत छोड़कर विष पीते चले जा रहे हैं।]

यह धर्म प्रत्येक युग और समयमें बदलता भी रहता है। जो अपनी जीविकाके उपार्जनमें काट-कपट नहीं करता, बेइमानी नहीं करता, सब जीवोंका हित करता रहता, न किसीसे द्वेष करता न किसीका विरोध करता, न किसीसे कुछ भी कामना करता, न कोई काम करते हुए भी उसमें लिप्त रहता (उसके फलकी इच्छा न करता), न किसीकी प्रशंसा करता न निन्दा करता, मिट्टी, पत्थर और सोनेको समान समझता, किसीका धन अपहरण करनेकी न सोचता, सदा संतुष्ट रहता, धन और विषय-भोगोंसे दूर रहता, न किसीको भयभीत करता, न किसीसे भयभीत होता, न किसी भी जीव-की हिंसा करता, अपने आश्रितोंकी रक्षा और उनका पालन-पोषण करता रहता, घरमें अपनेसे बड़ोंका आदर करता, छोटोंकी आवश्यकताओंका ध्यान रखकर उनसे स्नेहपूर्ण व्यवहार करता, बालकोंको देव-स्वरूप समझकर उनसे दयापूर्वक व्यवहार करता, कभी किसी बालकको नहीं मारता-पीटता, शरणमें आए हुएको या दूसरोंसे पीडितको अभयदान देता, शरणागतकी रक्षा करता, तप, यज्ञ और दान करता रहता, स्वाध्याय-द्वारा ज्ञानकी वृद्धि करता रहता, मांस, मदिरा, अंडा, लहसुन, प्याज़, तमाखू आदि किसी भी मादक अथवा तामसी पदार्थका सेवन नहीं करता, संपूर्ण प्राणियोंको

अपने समान समझता है वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है और वही धर्मको जानता है।

धर्मका स्वरूप इतना सूक्ष्म है कि वह सबकी समझमें नहीं आ सकता। धर्मका ज्ञान तो सत्पुरुषोंका आचार देखकर ही समझमें आ पाता है। जो मनुष्य गाय, बैल आदि जीवोंको बेचता, गोहत्या, जीव-हत्या करता, दूसरोंका धन चुराता या प्राण लेता, डाका डालता, दूसरोंका धन या भूमि हड़पनेकी चेष्टा करता या हड़पता है, उसका वंश नहीं चलता और उसका सर्वनाश हो जाता है। किसी कर्मका परिणाम देखकर ही कर्म करना चाहिए। यदि किसी भी कर्मसे दूसरेकी हानि होती हो, हिंसा होती हो, उसके मनको कष्ट पहुँचता हो तो वह अधर्म है। ऐसा काम कभी नहीं करना चाहिए जिससे किसीको कष्ट पहुँचे।

शास्त्रके अनुसार नमस्कार, स्वाध्याय, घी और अन्नसे ही देवताओंकी पूजा करनी चाहिए। जो लोग किसी कामनासे यज्ञ करते, कुआँ-तालाब खुदवाते या धर्मशाला बनवाते, उनकी सन्तान गुणहीन होती है। ऐसे सभी लोकमंगलके काम श्रद्धाके साथ करने चाहिएँ, कामनाके साथ नहीं। सत्य-भाषण, सत्य व्यवहार, इन्द्रिय-संयम और सद्भाव ही धर्मके आधार हैं। सब जीवोंपर जो दया करता है वही वास्तवमें धर्मको समझता है। जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो किसी फलकी इच्छासे कोई कर्म आरंभ नहीं करता, जो अपने नियमका पालन करता है, रातके दूसरे और तीसरे पहरमें ही सोता है, ब्राह्म-मुहूर्तमें उठ जाता है, अपने माता-पिता और बड़ोंका अभिवादन करता है, गौकी सेवा करता, सूर्यको अर्घ्य देता, यथाशक्ति अन्नदान करता और नित्य अग्निको जिमाता है, उस धर्मात्माके घर कभी किसी वस्तुकी कमी नहीं रहती और वही वास्तवमें धर्मको भी जानता है और ब्रह्मको भी।

जीव-दया और अहिंसाकी भावना ही धर्मका वास्तविक तत्त्व है। जब व्यासजीसे पूछा गया कि आप धर्म-धर्मकी बात क्या करते

हैं, अर्थ और कामकी बात क्यों नहीं करते तब उन्होंने कहा—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

[अरे भाई ! मैं हाथ उठा-उठाकर चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा हूँ पर कोई मेरी बात सुनकर नहीं दे रहा है कि धर्मसे ही अर्थ और कामकी भी सिद्धि होती है, इसलिये तुम धर्मका सेवन क्यों नहीं करते ?] इसके पश्चात् जब उनसे धर्मकी व्याख्या पूछी गई तो उन्होंने यही कहा—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभव-संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

[जिस कामसे लोकका कल्याण होता हो वही धर्म है क्योंकि धर्मका प्रवचन लोक-कल्याणके लिये ही किया गया है। जिस कामसे किसीकी हिंसा न होती हो वही धर्म है क्योंकि अहिंसाके स्थापनके लिये ही धर्मका प्रवचन हुआ है।]

लोगोंने व्यासजीके विषयमें जब यह कहा कि उन्होंने तो बड़े-बड़े पोथे लिख मारे हैं, उन्हें कौन पढ़ेगा, इसपर कहा गया—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

[अट्ठारह पुराणोंमें व्यासजीने दो ही बातें तो कही हैं—दूसरेका उपकार करते रहना, सर्वभूतहिते रत रहना अर्थात् सब प्राणियोंका हित करते रहनेमें ही मगन रहना तो पुण्य है और दूसरेको मन, वचन या कर्मसे कष्ट देना ही पाप है।] महाभारतमें इसीको और भी स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

समणसुत्तमें भी यही कहा गया है—

यदिच्छसि आत्मतः यच्च नेच्छसि आत्मतः ।
तदिच्छ एतस्यापि च एतावत्कं जिनशासनम् ॥

[धर्मका जो तत्त्व मैं बताए दे रहा हूँ उसे सुन और समझ लो कि जो कुछ तुम अपने लिये हितकर नहीं समझते हो वह दूसरेके लिये भी मत करो, न चाहो और जो कुछ तुम अपने लिये चाहो वही दूसरेके लिये भी चाहो ।] यही स्वस्य च प्रियमात्मनः (अपनेको प्रिय लगनेवाले कार्य)-को धर्म माननेका रहस्य है ।

इस प्रकारका संयत धार्मिक जीवन वहन करनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य बहुत सोच-विचारकर काम करे, हड़बड़ीमें कोई काम न कर बैठे क्योंकि उसमें भूल और अधर्म होनेकी संभावना बनी रहती है ।

एक बार देवों और ऋषियोंने धर्म और अधर्मपर विचार करना आरंभ किया । उस समय अग्निने कहा कि जो मनुष्य पूर्णिमाके चन्द्रमाको अक्षतसहित जलका अर्घ्य देता है उसे अग्निहोत्रका फल मिलता है । जो अमावास्याको किसी भी वृक्षका पत्ता तोड़ता है उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है । जो अमावास्याको काठकी दातौन करता उससे चन्द्रमाकी हिंसा तो होती ही है, पितर भी उससे रुष्ट रहते हैं और उसके कुलमें वंशकी हानि होती है ।

लक्ष्मीने कहा कि जिस घरमें बर्तन इधर-उधर बिखरे पड़े रहते हैं, बर्तन-भांडे, वस्त्र, आसन, पीढ़े टूटे, फटे, फूटे रहते हैं, स्त्रियोंको मारा-पीटा जाता हो उस पापी घरसे देवता चले भी जाते हैं और उसकी पूजा भी नहीं ग्रहण करते ।

अंगिराने कहा कि जो एक वर्षतक करंजके पेड़के नीचे दीपदान करता और ब्राह्मी बूटी हाथमें लिए रहता है उसकी सन्तान बढ़ती है।

गार्ग्यने कहा—जहाँ सदा श्रद्धाके साथ अतिथियोंका सत्कार होता है, घरमें दीपक जलाया जाता रहता है, जहाँ कोई दिनमें नहीं सोता है, जहाँ न कोई मांस खाता न मदिरा या मादक द्रव्यका सेवन करता वही धर्मका घर है।

धौम्यने कहा—घरमें फूटे बर्तन, टूटी खाट, मुर्गा, कुत्ता और पीपल-बड़का पेड़ नहीं होना चाहिए। फूटे बर्तनमें कलियुगका वास होता है, टूटी खाट घरमें रहनेसे धनका नाश होता है, जिस घरमें मुर्गा और कुत्ता रहता है उसमें देवता हविष्य नहीं ग्रहण करते और घरमें पीपल या बड़का वृक्ष होनेसे चील, गिद्ध आदि पक्षी और साँप-बिच्छू आदि जीव-जन्तु रहने लगते हैं।

जमदग्निने कहा—हृदयकी शुद्धि बहुत बड़ा धर्म है क्योंकि यज्ञ, सत्य और हृदयकी शुद्धि तीनों बराबर हैं। हृदयकी शुद्धतासे ही तो ब्रह्मका साक्षात्कार हो पाता है।

वायुने कहा—जो मनुष्य प्रतिदिन अग्निहोत्र करता, श्राद्धके दिन ब्राह्मणको उत्तम भोजन कराता, पितरोंके लिये दीपदान और तिलमिश्रित जलकी अंजलि देता है उसे सौ यज्ञोंका फल मिलता है।

लोमशने कहा—जो स्वयं विवाह न करके परस्त्रीमें आसक्त रहता और ब्राह्मणका धन हरता है उसके यहाँसे देवता और पितर रुष्ट होकर चले जाते हैं।

जो सदा श्रद्धाके साथ अपने गुरुओंकी आज्ञाका पालन करता है वह धर्मका पालन करता है। जो प्रत्येक मासकी त्रयोदशी और पूर्णिमाको ब्राह्मणको घृत-सहित चावल देता है उसे इन्द्र अश्वमेघ

यज्ञका चौथा अंश दे देते हैं। उस दानसे मनुष्य तेजस्वी और बलवान् होता है और उसकी सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

जो मनुष्य सबेरे उठकर स्नान करके पवित्र श्वेत वस्त्र पहनकर एकाग्र मनसे ब्राह्मणको तिल-पात्र देता है और पितरोंके लिये मधु-सहित तिलोदक, दीपक और खिचड़ी देता है, उसके पितृ-पितामह सन्तुष्ट हो जाते हैं, उसका वंश बढ़ता है और उसे सम्पत्ति प्राप्त होती है। [शान्तिपर्व अध्याय १२९]

जो धर्मात्मा पुरुष सबेरे उठकर हाथमें कुश और जल लेकर गौकी सींगपर जल छिड़ककर, सींगसे गिरे हुए जलको अपने मस्तकपर धारण करता और निराहार रहता है उसे सब तीर्थोंका फल मिल जाता है।

यमराजने कहा कि पितरोंको जल-दान और दीप-दान करते ही रहना चाहिए। इस दीपदान और जलदानसे पितर बहुत प्रसन्न होते हैं और कपिलाका दान कर देनेसे तो और भी अधिक पुण्य फल मिलता है। जो मनुष्य किसी ब्राह्मणको जूता और छतरी दान करता है उसका सदा कल्याण होता है।

ब्रह्महत्यारा, गो-हत्यारा, परस्त्री-लम्पट, गुरु-स्त्री-गामी, अभिमानी, अश्रद्धालु और स्त्रीपर निर्भर रहकर जीविका चलाने-बाला ये महापापी और दुराचारी होते हैं। इनसे कभी कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए।

प्रमथोंने कहा—जो मनुष्य सदा स्त्री-सहवासके कारण दूषित रहते, बड़ोंका अपमान करते, मांस खाते, वृक्षकी जड़में सोते, खाटपर पैरके स्थानपर सिर रखकर सोते, जलमें मल मूत्र-फेंकते या थूकते ऐसे मनुष्योंको हम धर दबोचते हैं।

किन्तु जो मनुष्य अपने शरीरमें गोरोचन लगाते, हाथमें बच नामकी ओषधि लिए रहते, ललाटपर घी और अक्षत धारण करते और मांस नहीं खाते, उन्हें हम नहीं छेड़ते। जिनके घरमें अग्निहोत्रकी अग्नि दिन-रात जगती रहती हो, लकड़बग्घेकी खाल,

उसकी दाढ़ें और पहाड़ी कछवा घरमें हो, घीकी आहुतिसे सुगन्धित धूम निकलता रहता हो, बिलाव तथा काला या पीला बकरा रहता हो, वहाँ कोई भयंकर मांस-भक्षी निशाचर भूत-प्रेत आदि नहीं आते। इसलिये अपने घरोंमें ये (राक्षसोंको दूर रखनेवाली) वस्तुएँ अवश्य रखनी चाहिएँ।

दिग्गजोंने कहा—कार्तिकके कृष्णपक्षमें आश्लेषा नक्षत्रके साथ अष्टमी तिथिको जो मनुष्य संयत आहार करके क्रोधशून्य होकर श्राद्धके अवसरपर हमारे निमित्त गुड़-मिश्रित भात, किसी बामीपर बलि ले जाकर उसपर नागकेसर तथा चन्दन चढ़ाकर नीले कपड़ेसे ढककर सूर्यास्त होनेपर उस बामीके पास रख देता है उसे अक्षय फल मिलता है और उसका पराक्रम बढ़ता है।

महादेवजीने कहा—जो मनुष्य शान्तचित्त होकर एक मास-तक प्रतिदिन गौको भोजन कराता है, स्वयं एक ही समय खाता है उसे बहुत बड़ा पुण्य प्राप्त होता है क्योंकि गौएँ वर-दायिनी होती हैं और उनकी सेवासे अभीष्ट फल प्राप्त होता है।

स्कन्दने कहा—जो मनुष्य नीले (काले) साँड़की सींगोंमें लगी हुई मिट्टी लेकर तीन दिनोंतक स्नान करता है, उसके सारे पाप धुल जाते हैं और वह जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जाता है।

पूर्णिमाके दिन जो ताँबेके पात्रमें मधुसहित पकवान चन्द्रमा-को बलि देता है उसकी बलिको साध्य, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण और वसु देवता भी ग्रहण कर लेते हैं।

ये सब धर्मकी कथाएँ भीष्मजीने युधिष्ठिरको सुनाई थीं जिनका उल्लेख महाभारतमें हुआ है। किन्तु सब धर्मोंका मर्म यही है कि मनुष्य निरन्तर सबका कल्याण करता रहे और सब प्राणियोंका हित करनेमें रस लेता रहे। इस प्रकार गृहस्थ-धर्मका पालन करने वाला मनुष्य (स्त्री या पुरुष) निश्चय ही ब्रह्म-साक्षात्कार कर लेता है। [शान्तिपर्व अध्याय १२७-१३४

———

समत्व-बुद्धिसे ब्रह्म-प्राप्ति

शर-शय्यापर पड़े भीष्म पितामहसे युधिष्ठिरने पूछा कि किस प्रकारके शील, आचरण, विद्या और पराक्रमसे अविनाशी ब्रह्म-पदको मनुष्य प्राप्त कर सकता है। उत्तरमें भीष्मजीने कहा कि एक बार जैगिषीव्य मुनिसे असित देवलने पूछा था कि आप न तो किसीके प्रणाम करनेपर प्रसन्न होते, न निन्दा करनेपर क्रोध करते। ऐसी समत्व बुद्धि आपको मिल कहाँसे गई? इसके उत्तरमें जैगिषीव्यने कहा—भाई देवलजी! महापुरुष वही है कि यदि कोई उसकी निन्दा करे या प्रशंसाके पुल बाँधे या उसके सदाचार और पुण्यको प्रकट ही न होने दे तब भी वह निश्चल बना रहे, कोई बुरा-भला भी कहे तो बदलेमें कुछ न कहे, जो उसका अहित भी करे उसका भी हित करता रहे और जो उसे मारे-पीटे भी, उसका भी कल्याण चाहता रहे। महापुरुष न तो सामने आई हुई भविष्य-की विपत्तिके लिये शोक या चिन्ता करता, न बीती हुई बातके लिये शोक करता और न किसी भी बातकी प्रतिज्ञा करता। यदि कोई मनुष्य किसी कामनासे उसके पास आ भी जाय तो यथाशक्ति उसकी सहायता कर देता है। ऐसे ही महापुरुषका ज्ञान परिपक्व होता है। ऐसे महाज्ञानीके मनमें कभी क्रोध नहीं होता। वे जितेन्द्रिय होते हैं और मन, वाणी तथा शरीरसे कभी किसीका अपराध नहीं करते। वे न तो कभी किसीसे ईर्ष्या करते, न किसी जीवकी हिंसा करते, न दूसरोंकी समृद्धिसे द्वेष ही करते हैं। वे न तो किसीकी निन्दा करते, न प्रशंसा करते और न अपनी निन्दा या प्रशंसासे ही प्रभावित होते। वे सदा शान्त होकर सबके कल्याणमें लगे रहते हैं। वे न तो कभी क्रोध करते और न हर्षित होते। वे अपने हृदयके अज्ञानकी गाँठें खोलकर आनन्दसे चारों ओर विचरते हैं। न तो

उनके ही कोई भाई-बन्धु होते न वे ही किसीके भाई-बन्धु होते। न तो वे ही किसीके शत्रु होते न उनके ही कोई शत्रु होते। वे सदा सुखसे जीवन बिताते हैं। ऐसा तत्त्वज्ञ पुरुष अपमानको भी अमृत समझकर पी जाता है और उससे सन्तुष्ट हुआ रहता है। ऐसा विद्वान् मनुष्य सम्मानको विषके तुल्य समझकर सदा उससे डरता रहता है। सब दोषोंसे मुक्त ऐसा महापुरुष अपमानित होकर भी इस लोक और परलोकमें निर्भय होकर सुखसे सोता है। इस समत्व-भावके व्रतका आश्रय लेनेपर मनुष्यको सर्वोत्तम गति अर्थात् अविनाशी ब्रह्म-पद अवश्य प्राप्त हो जाता है।

[शान्तिपर्व, अध्याय २२९

अनासक्तिसे ब्रह्मकी प्राप्ति

जो महात्मा पुरुष इन्द्रियोंके विषयों (सांसारिक भोगों)-में आसक्त नहीं होते, वे मस्त पुरुष अत्यन्त शीघ्र ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेते हैं। इसलिये मनुष्यको चाहिए कि वह मन, वाणी और शरीरसे पवित्र होकर, अहंकार छोड़कर, शान्त-चित्त, ज्ञानवान् और इच्छा-रहित होकर सुखपूर्वक विचरण करे। प्राणियोंपर दया करनेसे भी उनके प्रति आसक्ति हो जाती है जैसे मृगके छौनेके प्रति जड भरतको हो गई थी। इसलिये सबके प्रति उपेक्षा रक्खे, सदा शुभ कर्मोंका आचरण करे, अहिंसा, सत्यभाषण, सब प्राणियोंसे सरल व्यवहार, क्षमा तथा सजगता धारण करके सदा सुखका अनुभव करे, क्योंकि इन्हीं गुणोंको धर्म समझनेवाला मनुष्य ही सर्वज्ञ और सुखी होता है। इसलिये बुद्धिके द्वारा मनको एकाग्र करके उस परमात्मामें लगा दे जो सब प्राणियोंमें विद्यमान है। मनुष्यको चाहिए कि न तो किसीका अहित सोचे, न असम्भव वस्तुकी कामना करे और न मिथ्या या नश्वर पदार्थोंकी चिन्ता करे वरन् प्रयत्न करके अपना मन ज्ञानके साधनमें लगा दे। उसे केवल ऐसी बात कहनी चाहिए जो सत्य हो किन्तु जिससे किसीकी न तो हिंसा होती हो न जिससे पर-निन्दा होती हो। बहुत थोड़ी मात्रामें और स्थिरचित्त होकर ऐसी ही वाणी बोलनी चाहिए जिसमें शठता (कुटिलता), कठोरता, क्रूरता और पिशुनता (चुगली) आदि दोष न हों। जो मनुष्य किसी प्रकारका संग्रह नहीं करता, किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता, एकान्तवासी, अल्पाहारी, तपस्वी और जितेन्द्रिय होता है, जिसके सारे क्लेश ज्ञानकी अग्निसे जला डाले गए हैं, जो योगका अनुष्ठान करता और मनको वशमें रखता है वह निःसन्देह अपने निश्चल चित्तके द्वारा परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।

इस साधनाके लिये पहले बुद्धिको वशमें किया जाय, फिर बुद्धिके द्वारा मनको और मनके द्वारा अपनी इन्द्रियोंको उनके विषयोंकी ओरसे रोककर अपने अधीन कर लिया जाय। ऐसा करनेसे इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता प्रसन्नतासे प्रकाशित होने लगते हैं और ईश्वरकी ओर प्रवृत्त कर देते हैं। इस प्रकार इन्द्रियोंके देवताओंसे जिसका मन जुड़ जाता है उसके अन्तःकरणमें परब्रह्म परमात्मा स्वयं प्रकाशित हो उठते हैं और धीरे-धीरे सत्त्वगुण प्राप्त हो जानेपर वह मनुष्य स्वयं ब्रह्म हो जाता है।

यह साधन आरम्भ कर देनेपर उसे बीचमें नहीं छोड़ना चाहिए। जैसे आगको धीरे-धीरे हौंक-हौंककर जगाते या तीव्र कहते हैं उसी प्रकार ज्ञानके साधनको भी निरन्तर उद्दीप्त करते रहना चाहिए। ऐसा करनेसे सारा ज्ञान सूर्यके समान प्रकाशित होने लगता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष जरा और मृत्युको जीतकर सनातन ब्रह्मको जानकर उस अक्षर, अविकारी, अमृत ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्म-प्राप्तिका सबसे सरल उपाय

अर्जुनने श्रीकृष्णजीसे पूछा कि आपके भक्तोंमें एक तो वे हैं जो आपके इस वर्त्तमान रूपमें ही सदा सच्ची लगनसे लौ लगाए हुए आपका ही ध्यान करते रहते हैं; दूसरे वे हैं जो आपके अव्यक्त (कभी न दिखाई दे सकनेवाले) और अक्षर (कभी न मिट सकनेवाले) रूपका ध्यान करते रहते हैं। इन दोनोंमेंसे कौन ऐसा है जो आपसे मिलनेका ठीक ढंग जानता हो।

इसके उत्तरमें श्रीकृष्णजीने समझाया—देख अर्जुन ! इन दोनोंमें अच्छे वे ही हैं जो बड़ी लगनसे मेरे इसी रूपकी सच्चे मनसे उपासना करते हैं। अपनी सब इन्द्रियोंको वशमें किए रखनेवाले जो मनुष्य सब जीवोंको बराबर एक-सा समझते हुए मेरे अक्षर (कभी न मिट सकनेवाले), अनिर्देश्य (किसी भी ढंगसे समझाए न जा सकनेवाले), अव्यक्त (कभी दिखाई न दे सकनेवाले), सबमें रमे हुए, कभी सोचे-तक भी न जा सकनेवाले, सबसे बड़े, कभी न डिग सकनेवाले और सदा ज्योंके त्यों बने रहनेवाले मेरे उस अमिट रूपका ध्यान करते रहते हैं ऐसे, सब जीवोंको सुख पहुँचाते रहनेमें ही मगन रहनेवाले लोग भी पहुँचते तो मेरे ही पास हैं पर उस अव्यक्त (दिखाई न दे सकनेवाले) ब्रह्ममें मन लगाए रखना बड़ा दूभर काम है। क्योंकि जो लोग अपनी देहसे बहुत बँधे रहते हैं उन्हें उस दिखाई न दे सकनेवाले ब्रह्म-तक पहुँच पानेमें बड़ी कठिनाई होती है, पर जो लोग मुझमें ही लौ लगाए हुए अपने सारे कर्म मुझे सौंपते चलते हैं और सब कुछ छोड़कर मुझमें ही मन लगाए हुए मेरे ही ध्यानमें मगन रहते हैं, ऐसे जो मेरे भक्त मुझसे ही सच्ची लौ लगाए रखते हैं उन्हें तो मैं इस मिट जानेवाले संसारके समुद्रसे झट बाहर थाम निकालता हूँ। इसलिये अर्जुन ! जो तू भी

अपनी सारी समझ और अपना मन मुझमें ही ला लगावेगा तो तू भी मुझमें ही आ रहेगा। और अर्जुन ! तुझसे यह भी न हो सकता हो कि सच्ची लगनके साथ मुझसे ही लौ लगाए रह सके तो तू बार-बार अपने मनको मोड़ते चलनेकी बान डालकर मुझे पा लेनेका जतन किया कर। यदि यह भी तुझसे न हो पा सके तो अपने उन कर्मोंका फल देना, भोगना तू मुझपर ही छोड़ दे, जो तू मेरे ही लिये करता चलेगा तब सब कर्म करते रहनेपर भी तू मुझे पा ही लेगा। यदि यह भी तुझसे न हो पा सके तो अपनेको अपने वशमें करके मुझमें ही मन लगाकर अपने सारे कर्मोंका फल ही मुझे सौंपता चल क्योंकि किसी बातको बिना जाने और कोरे उसके पीछे पड़े रहनेसे तो कहीं अच्छा परमात्माको पहचाननेका उपाय जानना (ज्ञान) है, ऐसे ज्ञानसे भी कहीं अच्छा तो परमात्मामें ध्यान लगाए रखना है और सब कर्मोंके फल मुझे सौंपकर उन कर्मोंके फलोंसे छुटकारा पाए रहना तो ध्यानसे भी अच्छा है क्योंकि जहाँ कर्मके फलकी चिन्ता मिटी कि जी हलका हुआ और मनको चैन मिला। इस ढंगसे चलता हुआ जो मनुष्य किसीसे बैर नहीं करता, सबसे मेल बनाए रखता है, सबपर दया दिखाता है (सबका दुःख दूर करता रहता है), किसीपर अपना रौब नहीं झाड़ता, कभी घमंड नहीं करता, दुःख और सुख दोनोंको एक-सा समझता है, अपनेको सतानेवालेका भी बुरा नहीं मानता, जितना मिल जाय उतनेमें ही मगन रहता है, सदा मुझसे ही लौ लगाए रहता है, अपनेको सदा अपने वशमें किए रखता है, अपनी आनका पक्का होता है, वह अपना मन और अपनी सारी समझ (बुद्धि) मुझे सौंप चुका रहनेवाला मेरा भक्त (मुझे ही सब कुछ माननेवाला) मुझे बड़ा प्यारा है। जो मनुष्य न तो दूसरे जीवोंको दबाता-सताता न किसीसे दबता-डरता, न तो कुछ मिलनेपर फूल उठता, न किसीपर बिगड़ता-बौखलाता, न डरता और न घबराता वह मेरा भक्त (मुझे ही अपना सब कुछ माननेवाला) मुझे बड़ा प्यारा है। जो मनुष्य किसीसे भी कुछ

चाहता नहीं, जिसके मनमें कोई खोट नहीं रह गई है (जो पवित्र है), जो अपना सारा काम ऐसे सँभलकर करता चलता है कि उससे किसीका बुरा न हो, किसीको दुःख न पहुँचे, जो न किसीसे बहुत लगाव रखता न किसीसे बैर ठानता, जो सब दुःखोंसे छुटकारा पा चुका है (दुःखको भी सुख ही समझता है) और कोई भी नया काम छेड़नेकी बात ही नहीं सोचता, वही भक्त मुझे बड़ा प्यारा है। जो बड़ेसे बड़ा सुख मिल जानेपर भी न तो फूल उठता, न किसीसे बैर मोल लेता, न आगेकी चिन्तामें ही घुलता फिरता और न किसीसे कुछ चाहता वह सभी अच्छे-बुरे फलोंकी चाह छोड़-चुकनेवाला मेरा भक्त मुझे बड़ा प्यारा है। जो वैरी और मित्र, बड़ाई और हेठी, सर्दी और गर्मी, सुख और दुःख सबको बराबर एकसा समझे बैठा हो, किसीसे कोई लगाव न रखता हो, जो बुराई-बड़ाईको बराबर समझता हो, सदा चुप मारे शान्त हुआ बैठा रहता हो, जैसा जब जहाँ रहना पड़ जाय उसीमें सदा मगन रहता हो (जाही विधि राखै राम, वाही विधि रहिए) और जिसका कोई कहीं ठौर ठिकाना न हो, ऐसी पक्की सधी हुई समझवाला मनुष्य मुझे बड़ा प्यारा है। उपर बताए हुए अच्छे चलन-से चलते हुए जो भक्त मुझमें सच्ची लगनसे रमे रहते हैं वे तो मुझे बहुत ही प्यारे हैं। अब इससे बढ़कर ब्रह्म-साक्षात्कारका दूसरा कौन-सा सरल उपाय हो सकता है।

—श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १२

माता-पिता, अतिथि और पति-सेवासे ब्रह्म-प्राप्ति

पति और माता-पिताकी सेवा

महाभारतमें कथा आई है कि कौशिक नामके एक ऋषि जब एक वृक्षके नीचे बैठे तपस्या कर रहे थे, उस समय एक बगलीने उनपर बींट कर दी। ज्योंही कौशिकने उस बगलीकी ओर क्रोधसे ताका त्योंही वह निर्जीव होकर नीचे गिर पड़ी। कौशिकको इससे बहुत दुःख तो हुआ किन्तु अब चारा ही क्या था। वे भिक्षाके लिये एक पतिव्रताके घर जा पहुँचे। संयोगसे उस समय अपने पतिकी सेवामें व्यस्त होनेके कारण उस देवीको भिक्षा लानेमें कुछ बिलम्ब हो गया। उसने आकर क्षमा-याचना भी की किन्तु कौशिककी भौंहे फिर भी तनी रहीं। तब उस देवीने कहा—ब्राह्मण देव ! मैं वह बगली नहीं हूँ जो आपके क्रोधसे नष्ट हो जाऊँगी। अभी आप धर्मका तत्त्व नहीं समझ पाए हैं। आप मिथिलामें धर्मव्याधके पास चले जाइए। वह आपको धर्मका सम्पूर्ण तत्त्व समझा देगा। जब वे सीधे मिथिला पहुँचे तो वहाँ धर्म-व्याधके यहाँ पहुँचकर देखा कि वह अपनी दूकानपर बैठा मांस वेच रहा है। कौशिकको यह देखकर बड़ी ग्लानि हुई। किन्तु धर्मव्याधने उनका सत्कार करके उनसे कहा कि आपको उस पतिव्रता स्त्रीने भेजा है। मैं यह व्यापार इसलिये करता हूँ कि यह मेरा परम्परागत व्यवसाय है किन्तु इससे मेरा कोई लगाव नहीं है। कौशिकने जब उससे पूछा कि तुम्हें यह धर्मज्ञान कैसे हुआ, तब उसने उन्हें माता-पिताकी सेवा महत्त्व बताकर कहा कि मुझे इसी तपस्या (माता-पिताकी सेवा)-से ही यह ज्ञान प्राप्त हुआ है।

इस कथाका तत्त्व यही है जो स्त्री पूर्णतः सत्यनिष्ठाके साथ अपने पतिकी सेवा-शुश्रूषा करती है, सदा उसे सुख ही सुख पहुँचानेकी चेष्टा करती रहती है, कभी उसकी इच्छाके विरुद्ध मुँह नहीं खोलती, दुःख और विपत्तिमें भी सदा सहयोग देती रहती है और पतिकी सेवाको ही परमानन्द मानती है उसे परब्रह्मका साक्षात्कार हो ही जाता है क्योंकि आनन्द ही ब्रह्म है। पति-सेवाके आनन्दसे उसके ज्ञान-नेत्र खुल जाते हैं और वह भूत; भविष्य, वर्तमानको हस्तामलकवत् देखने लगती है। किसी भी प्रकारके आचरणमें एकाग्रता, निष्ठा और सत्यता उसी प्रकार आवश्यक है जैसे योगीके लिये मनकी एकाग्रता। मनुष्य कोई भी काम यदि सत्यनिष्ठा (ईमानदारी), पर-सेवाकी भावना, छल-रहित और असंग होकर करता रहे तो निश्चय ही वह त्रिकालज्ञ हो जाता है और उसे परब्रह्मका दर्शन हो जाता है।

धर्म-व्याध भी असंग होकर अपना व्यवसाय करता था, अत्यन्त सात्त्विक निष्ठाके साथ तन्मय होकर अपने माता-पिताकी सेवा करता था, उन्हें सदा सुखी रखनेका प्रयत्न करता था और कोई ऐसा अवसर नहीं आने देता था कि माता-पिताको किसी भी प्रकारकी असुविधा, अभाव या मानसिक कष्टका अनुभव हो। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मके अनुभव या साक्षात्कारके लिये वैराग्य-भावना या असंगत्व तो आवश्यक है ही किन्तु साथ ही अपने व्यवहारमें एकान्त निष्ठा अर्थात् एकाग्रतापूर्ण आचरण भी नितान्त अपेक्षित है।

इसीलिये तैत्तिरीय उपनिषद् (वल्ली १, अनुवाक ११) में कहा गया है—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव।

[माता, पिता; गुरु और अतिथिको पूज्य देवता मानकर उनकी सेवा करो।] यही आदेश, उपदेश और वेदोपनिषत् है। इससे बड़ी क्या बात होगी ?

अतिथि-सेवा

अनुशासन पर्व (अ० २) में कथा है कि अग्नि-पुत्र सुदर्शनने अतिथि-सेवाका अखंड व्रत ले रक्खा था। उन्होंने नियम बना लिया था कि अतिथि चाहे जिस प्रकार भी व्यवहार करे, उसका सत्कार और उसकी सेवा करना गृहस्थका परम कर्तव्य है। अपने इस अतिथि-सेवाके एकाग्र व्यवहार और पुण्यके कारण सुदर्शनने मृत्यु, आत्मा, लोक, पंच-भूत, बुद्धि, काल, मन, आकाश, काम, क्रोध, सबको जीत धरा था।

अतिथि-सेवाके सम्बन्धमें एक उक्ति प्रसिद्ध है—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्त्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥

[जिसके घरसे कोई अतिथि निराश होकर लौट जाता है वह उस गृहस्थको अपना सम्पूर्ण पाप देकर, उसका पुण्य लेकर चला जाता है।]

(वनपर्व, अ० १९६–२०६)

ब्रह्मज्ञान तथा परमार्थतत्त्व

ऊपर ब्रह्म-साक्षात्कारके अनेक उपाय और साधव बताते हुए समझाया गया है कि सब प्रकारकी कामनाओंसे दूर रहकर परमात्माको ही प्राप्त करनेका प्रयत्न करना मनुष्यका धर्म है, शुद्ध भोग प्राप्त करना नहीं। जब मन नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करके राग आदि दोष दूर करके दर्पणके समान स्वच्छ और दीप्तिमान् हो जाता है तब वह सद्-असद् विवेकके प्रकाशसे युक्त तथा नित्य (परमात्म-सुख)-का अभिलाषी होकर निर्वाणकी भावनासे धर्ममें प्रवृत्त होकर उस तेजोमय परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है जो कर्म-मार्गसे अतीत और कामनाओंसे रहित है। मोक्ष दिलानेवाला कर्म तो सनातन कहलाता है और नश्वर भोग प्राप्त करानेवाला कर्म विनाशशील कहलाता है। इसलिये फलकी इच्छा त्याग करके अपने कर्मको सनातन बनानेसे ही परब्रह्मकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मका स्वरूप

प्रारंभमें ही बताया जा चुका है कि जिससे यह सारा जगत् उत्पन्व हुआ है, जिसे जान लेनेपर मनको वशमें रखनेवाले ज्ञानी पुरुष इस संसारको लाँघ जाते हैं, वह अनिर्वचनीय तत्त्व सब प्रकारके रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और रूपसे शून्य है तथा मन, बुद्धि और वाणीसे भी उसे नहीं समझा जा सकता। वह अव्यक्त, अद्वितीय और रूप-रंगसे रहित होनेपर भी प्रजाके लिये रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध उत्पन्न करता है। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है, न सत् है, न असत् है और न सद्-असद् हैं केवल ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही उसका साक्षात्कार कर पाते हैं। उसका कभी क्षय नहीं होता इसलिये वह अविनाशी परब्रह्म परमात्मा अक्षर कहलाता है।

सनातन तत्त्व

एक बार जब बहुत शास्त्रार्थ करनेपर भी अनेक ऋषि यह नहीं निश्चित कर सके कि सनातन तत्त्व क्या है तब पहले वे वशिष्ठजीके पास पहुँचे। वशिष्ठजीने कहा कि मैं तो उसके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानता। नारदजीसे पूछनेपर उन्होंने भी यही बात कही। अन्तमें उन्हें देववाणी सुनाई पड़ी कि जाकर सनत्कुमारजीसे कहो कि हमें सनातन-तत्त्वका उपदेश कीजिए। पूछनेपर सनत्कुमारजीने कहा कि वह विश्वरूप परमात्मा ही सबको उत्पन्न करनेवाला है। जो मनुष्य उस सर्वस्वरूप परमेश्वरको जान लेता है वह न तो भयभीत होता, न कहीं आता-जाता, न यही सोचता है कि मैं कहाँ हूँ, किसका हूँ, किसका नहीं हूँ और किसके साधनसे काम करता हूँ। वह तो उस परमात्माका अनुभव कर लेता है जो युग-युगमें व्यापक होते हुए भी सबसे अलग है। उस परमात्मासे भिन्न जितनी भी जड़ वस्तुएँ हैं उनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। जो आत्मा है वही परमात्मा है। वही सबको देखता है, सबकी बातें सुनता है, सभी गन्धोंको सूँघता है और सबसे बातचीत करता है। इस प्रकार शरीरके भीतर अन्तर्यामी रूपसे जो भगवान् नारायण हैं वे ही सनातन तत्त्व हैं। उन्हें जाननेका प्रयत्न करो। आप लोगोंको गिरते-पड़ते, चलते-फिरते, खाते-पीते और प्रत्येक कार्य करते समय सब देशों और दिशाओंमें ऐसा अनुभव करना चाहिए कि भगवान् नारायण सबमें विराजमान हैं। उनका दिव्य स्वर्णमय धाम ही परमपद ब्रह्म है। उन्हें पाकर जीवन सफल हो जाता है। वे स्वयं ही अपने प्रकाशक और स्वयं अपने आपमें अन्तर्यामी आत्मा है। जो ज्ञानी पुरुष केवल लोक-संग्रहके लिये ही सब लौकिक विषयोंका अनुभव करता है वह न तो मोहमें पड़ता न क्षीण होता है।

उस परमात्माको कोई अपने चर्म चक्षुसे नहीं देख सकता। केवल ज्ञानी पुरुष ही अपनी निर्मल बुद्धिसे उस अन्तःकरणमें स्थित

परमात्माको देख पाता है। वह अमृतस्वरूप परमात्मा न धर्मी है न अधर्मी, वह सब प्रकारके द्वन्द्वों (सुख-दुःख, भूख-प्यास, जरा-मृत्यु, शोक-मोह और ईर्ष्या-द्वेष) से शून्य है। उस अनन्त परमात्माको पूर्णतः भला कौन जान सकता है ? मुझसे जहाँतक बन पाया मैंने उसका स्वरूप बता दिया।

आत्मानुभव

एक बार प्रह्लादने इन्द्रको समझाते हुए कहा था कि मुझे इसी लिये शोक या मोह नहीं होता कि मैं अपनी बुद्धि राग-द्वेषसे रहित करके आत्माका अनुभव करता हूँ। इन्द्रने उनसे पूछा कि आप इस जगत्‌में आत्मज्ञानका सर्वश्रेष्ठ साधन क्या मानते हैं ? प्रह्लादने उनको समझाया कि मोह तो उसे ही होता है जिसे यह विवेक नहीं होता कि प्राणियोंकी प्रवृत्ति क्या है, उन्हें क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। किन्तु जिसे आत्माका साक्षात्कार हो गया रहता है, उसे कभी मोह नहीं होता। धर्मकी सारी बिधियाँ जानते हुए भी मैं भली भाँति समझता हूँ कि संसारमें सब कुछ नाशवान् है। इसलिये मैं किसीके लिये शोक नहीं करता और ममता, अहंकार तथा सब कामनाएँ छोड़कर, आत्मनिष्ठ होकर और सबसे असंग होकर सब प्राणियोंकी उत्पत्ति और उनके विनाशका तमाशा देखता रहता हूँ। मैंने अपनी बुद्धिको शुद्ध कर लिया है। अपने मन और अपनी इन्द्रियोंको अपने अधीन कर लिया है। मेरे मनमें कोई तृष्णा या कामना नहीं बच रही है। मैं सदा यही विचार करता रहता हूँ कि आत्मा अविनाशी है। उसीपर मेरी दृष्टि लगी रहती है इसीलिये मुझे कभी कोई कष्ट नहीं होता। प्रकृति और उसके कार्योंके प्रति न तो मेरे मनमें राग है न द्वेष। मैं किसीको भी न तो अपना द्वेषी समझता हूँ और न अपना सगा समझता हूँ। मुझे ऊपर या नीचेके किसी भी लोकमें जानेकी कामना नहीं है। ज्ञान, विज्ञान और ज्ञेयके लिये भी मैं कोई कर्म करना आवश्यक नहीं समझता।

इन्द्रके पूछनेपर कि ऐसी बुद्धि और ऐसी शान्ति कैसे प्राप्त होती है, प्रह्लादने कहा—देखिए इन्द्रजी ! सरलता (निष्कपटता), सदा सावधान रहना कि मुझसे कोई अशुभ कार्य न हो जाय, बुद्धिको निर्मल रखना, चित्तको स्थिर रखना और बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करना ऐसे साधन हैं जिनसे मनुष्यको महापद ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है। इन गुणोंको अपनालेनेपर स्वभावसे ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है, स्वभावसे ही शान्ति मिल जाती है और स्वभावसे ही सब कुछ हाथ आ जाता है। [शान्तिपर्व, अध्याय २२२

इसी प्रकार इन्द्रके ही पूछनेपर नमुचिने कहा था कि मैं इसी लिये शोक नहीं करता क्योंकि मैं जानता हूँ कि यह सारा वैभव नाशवान् है। अतः, समझदार मनुष्यको वैमनस्यसे उत्पन्न दुःखको मिटाकर मन ही मन उस हृदय-स्थित कल्याणमय परमात्माका चिन्तन करना चाहिए क्योंकि मनुष्य जब-जब कल्याण-स्वरूप परमात्माका मनोयोगके साथ चिन्तन करने लगता है तब-तब उसके सारे मनोरथ सिद्ध होते चलते हैं। मैं सब प्राणियोंके उदय और पराभवको भी जानता हूँ, श्रेष्ठ तत्त्वसे भी परिचित हूँ और यह भी समझता हूँ कि ज्ञानसे कल्याणकी प्राप्ति होती है, किन्तु मैं तो वही कार्य करता चलता हूँ जिसके लिये अन्तर्यामीकी प्रेरणा होती है। जिसके हृदयमें इस प्रकारकी भावना होती है उसे कभी मोह नहीं होता।

संसारमें कोई भी ऋषि, असुर, मुनि ऐसा नहीं हुआ जिसपर आपत्तियाँ न आई हों किन्तु उनमेंसे जिन्हें सत् और असत्का विवेक रहा है, वे कभी क्लेश, मोह या भ्रममें नहीं पड़े क्योंकि समझदार श्रेष्ठ पुरुष न कभी क्रोध करता, न किसीसे लगाव रखता, न अनिष्ट होनेपर दुःखसे व्याकुल होता, न प्रिय वस्तु पाकर अत्यन्त हर्षित ही होता, न आर्थिक कठिनाई या संकटमें शोक करता, न कभी अपना धैर्य या विवेक खोता। जिस अवस्थामें भी

मनुष्य रहे उसीमें मस्त होकर आनन्द मानना ही श्रेष्ठ पुरुषका लक्षण है।

हारिए न हिम्मत बिसारिए न हरि नाम।
जाही बिधि राखै राम वाही बिधि रहिए।

इन्द्रियोंसे उनके विषय बलवान् हैं, विषयोंसे मन बलवान् है, मनसे बुद्धि बलवान् है, बुद्धिसे जीवात्मा बलवान् है, जीवात्मासे अव्यक्त (मूल प्रकृति, सबको उत्पन्न करनेवाली शक्ति) बलवान् है और अव्यक्तसे वह अमृत-स्वरूप परमात्मा बलवान् और श्रेष्ठ है जो इन्द्रियों-द्वारा नहीं जाना जा सकता वरन् जिसे सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी महात्मा अपनी सूक्ष्म और श्रेष्ठ बुद्धि-द्वारा ही देख पाते हैं। जब योगी अपनी बुद्धिके द्वारा मनके साथ-साथ सभी इन्द्रियों और उनके विषयोंको अन्तरात्मामें लीन करके सब प्रकारका चिन्तन छोड़कर विवेकसे विशुद्ध किए हुए मनको ध्यानके द्वारा सब ओरसे हटाकर यह समझ लेता है कि मैं किसी भी कामका कर्ता नहीं हूँ (कर्त्तापनका अभिमान हटा लेता है), तब उसका मन अविचल तथा परम शान्तिसे सम्पन्न हो जाता है और वह अमृत-स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसलिये सब प्रकारके संकल्पोंका नाश करके साधक अपने चित्तको सूक्ष्म बुद्धिमें लीन करनेपर कालको भी जीत लेता है। ऐसा शुद्ध चित्तवाला योगी इस जगत्में शुभ और अशुभ सब त्याग देता है और प्रसन्नचित्त तथा आत्मनिष्ठ होकर अक्षय सुखका उपभोग करता है। मनकी परम शुद्धताका लक्षण यही है कि सब अवस्थाओंमें वह दीपककी निष्कम्प लौके समान स्थिर हुआ रहे।

बुद्धि

बुद्धि ही प्राणियोंकी सब इन्द्रियोंकी अधिष्ठात्री है इसलिये वह जीवात्माके समान ही उनका आत्मा मानी गई है। जब बुद्धि स्वयं अपनेमें भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करनेके लिये अनेक प्रकारके

रूप धारण कर लेती है तब वह मन बन जाती है। इस प्रकार इन्द्रियाँ ही बुद्धिके विकार हैं। उन सबमें जीवात्मा अधिष्ठित रहता है। उस जीवात्मामें स्थित होकर ही बुद्धि सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भावोंमें प्रकट होती रहती है। जब मनुष्य किसी वस्तुकी इच्छा करता है तब बुद्धि ही मनका रूप धारण कर लेती है। मेधा कहते हैं रूप आदिके ज्ञानको और उसमें हितकर या सहायक होनेके कारण ही इन्द्रियोंको मेध्य कहा गया है। योगीको चाहिए कि सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें कर ले। जो मनुष्य अपने मनके द्वारा इन्द्रिय-रूपी घोड़ोंकी रास कसकर पकड़े रखकर उन्हें भली प्रकार वशमें किए रहता है उसे ज्ञानके प्रकाशमें आत्माका दर्शन उसी प्रकार हो जाता है जैसे दीपकके प्रकाशमें विभिन्न वस्तुओंका। तात्पर्य यह है कि अज्ञानका नाश होनेपर ही ज्ञान-स्वरूप आत्माका साक्षात्कार होता है। जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई रहती है वह मुक्तात्मा योगी संसारमें रहता हुआ और निर्लिप्त भावसे सब विषयोंका सेवन करता हुआ भी उनके दोषोंसे लिप्त नहीं हो पाता। जो योगी अपने पहले किए हुए कर्मोंके सब संस्कार छोड़कर सदा परमात्मामें ही अनुरक्त रहता है वह सब प्राणियोंका आत्मा हो जाता है और कभी विषयोंमें आसक्त नहीं होता।

प्रकृति

सत्त्व, रज, तम गुणोंको प्रकृति ही उत्पन्न करती है। क्षेत्रज्ञ या आत्मा तो उदासीनके समान उन सब विकारशील गुणोंको केवल देखा भर करता है। वह तो पूर्ण स्वाधीन और उन सबका अधिष्ठाता मात्र है।

आत्माका न आदि है न अन्त है। जो मनुष्य उसे जान लेता है वह सदा हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदिसे मुक्त होकर निश्चिन्त होकर विचरता है। इसलिये साधकको चाहिए कि हृदयकी अविद्याकी गाँठ काटकर, शोक और सन्देहसे मुक्त होकर, सुखपूर्वक परब्रह्ममें

स्थित हो जाय। उस ज्ञानस्वरूप विशुद्ध आत्माको प्राप्त हुआ तत्त्ववेत्ता निश्चय ही संसार-सागरको पार कर जाता है। जो मनुष्य सब प्राणियोंके आवागमनको जानता और उनकी दुर्गतिपर विचार करता रहता है उसे ही परम शान्ति मिल पाती है।

किसी भी मनुष्यको यदि ब्रह्मका साक्षात्कार करना अभीष्ट हो तो अपनी इन्द्रियोंको बुद्धिके द्वारा बलपूर्वक वशमें कर ले, क्योंकि मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही ब्रह्म-साक्षात्कारकी सबसे बड़ी साधना और परम तप है और फिर सारी इन्द्रियोंको बुद्धिके द्वारा स्थिर करके सब विषयोंकी ओरसे मन हटाकर अपने आत्मामें तृप्त होकर निश्चिन्त और निश्चल हो जाय। जिस समय ये इन्द्रियाँ अपने विषयोंसे हटकर बुद्धिमें स्थित हो जायँगी उस समय मनुष्यको स्वयं ही सनातन परमात्माका दर्शन होने लगेगा जो बिना धुएँवाली अग्निके समान चमकता है, जो सबका आत्मा और परम महान् है। उसे केवल महात्मा और ज्ञानी पुरुष ही देख पाते हैं।

जैसे फल-फूलोंसे लदा हुआ, अनेक शाखाओंवाला वृक्ष अपने ही विषयमें यह नहीं जानता कि मेरे फल और फूल कहाँ हैं, वैसे ही जीवात्मा भी यह नहीं जानता कि मैं कहाँसे आया हूँ और कहाँ जाऊँगा। किन्तु शरीरमें जीवसे भिन्न एक दूसरा ही अन्तरात्मा है जो सबको, सब प्रकारसे, निरन्तर सब कुछ देखता रहता है। प्रज्वलित ज्ञानमय प्रदीपके द्वारा अपने ही भीतर साधक परमात्माका दर्शन कर पा सकता है। साधक पुरुष इस प्रकार आत्माके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करके सर्वज्ञ हो जाता है।

दुःख और सुखसे रहित तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमान-स्वरूप ब्रह्म तो न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक ही है। इस ब्रह्मको जो पुरुष या स्त्री जान ले उसका पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होता। वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।

आत्मज्ञानके बिना केवल यज्ञोंका अनुष्ठान करने मात्रसे ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं होता। साधकको चाहिए कि गन्ध और रस आदि

किसी भी विषयका उपभोग न करे, विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखकी ओर न लपके, किसी प्रकारके आभूषण न धारण करे, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे, सब प्राणियोंको अपना कुटुम्बी समझकर उनपर दया करे। जो ब्रह्म-तत्त्वका ज्ञाता और तत्त्वज्ञ कामनासे रहित हो जाता है वह कभी मृत्युके पाशमें नहीं बंधता और जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये छूट जाता है। जब यह स्थिति आ जाय कि न तो वही किसी दूसरे प्राणीसे डरे और न दूसरे ही उससे भयभीत हों और उसके मनसे इच्छा और द्वेष निकल जायँ तब उसे ब्रह्मभाव प्राप्त हो ही जाता है। जब वह मन, वाणी और कर्मके द्वारा किसीकी बुराई करनेका विचार तक न करे, कामनाके बन्धनसे छूट जाय (मनमें कोई कामना ही न करे), उसे ब्रह्मभाव प्राप्त हो ही जाता है। जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें सब प्रकारके भोग स्वयं बिना किसी प्रकारका विचार उत्पन्न किए प्रविष्ट हो जाते हैं वही पुरुष परम शान्ति प्राप्त कर पा सकता है क्योंकि स्वयं भोग ही स्थितप्रज्ञ पुरुषकी कामना किया करते हैं, वह पुरुष कभी भोगोंकी कामना नहीं करता।

मुक्त पुरुष

वेदका सार है सत्यवचन, सत्यका सार है इन्द्रियोंका संयम, संयमका सार है दान, दानका सार है तपस्या, तपस्याका सार है त्याग, त्यागका सार है सुख, सुखका सार है स्वर्ग और स्वर्गका भी सार है शान्ति या ब्रह्म-साक्षात्कार। इसलिये मनुष्यको सन्तोषपूर्वक शान्ति प्राप्त करनेके उपाय अर्थात् सत्त्वगुणको अपनाना चाहिए क्योंकि सत्त्वगुणसे ही मनकी तृष्णा, शोक और संकल्प सब नष्ट हो पाते हैं।

जो मनुष्य शोक-शून्य, ममता-रहित, शान्त, प्रसन्नचित्त, मात्सर्य-हीन और सन्तोषी रहकर पूर्णतः ज्ञानसे तृप्त हुआ रहता है वह परम शान्ति प्राप्त करके ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है। जो

मनुष्य देहाभिमानसे मुक्त होकर सत्य, दम, दान, तप, त्याग और श्रम, इन छह गुणोंको अपनालेता है और श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनके द्वारा शरीर रहते हुए ही आत्माको जान लेता है वह उस परम शान्तिस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त करके ऐसा अक्षय सुख पा लेता है जो उत्पत्ति और विनाशसे रहित, स्वभाव-सिद्ध, संस्कार-शून्य और शरीरके भीतर सुकृत नामसे प्रसिद्ध है।

मनको इधर उधर भटकनेसे रोककर आत्मामें सम्पूर्ण रूपसे स्थापित कर लेनेपर पुरुषको जो सन्तोष और सुख प्राप्त होता है वह किसी भी अन्य उपायसे प्राप्त नहीं हो पा सकता। जिसे प्राप्त करके मनुष्य बिना भोजनके भी तृप्त हुआ रहता है, जिसे प्राप्त करके निर्धन भी पूर्ण सन्तुष्ट हो जाता है, जिसका आश्रय मिलनेपर मनुष्यमें अनन्त बल आ जाता है, उस ब्रह्मको जो जानता है वही वास्तवमें वेदोंके तत्त्वोंको जानता है। जो मनुष्य अपनी इन्द्रियोंके द्वारोंको सब ओरसे बन्द करके नित्य ब्रह्मका चिन्तन करता है, वही श्रेष्ठ ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) आत्माराम कहलाता है। जो साधक अपनी सब कामनाएँ नष्ट करके अपने चित्तको परमतत्त्वरूपी परमात्मामें एकाग्र कर लेता है, सब भूतों और भौतिक गुणोंका परित्याग कर देता है, उसका दुःख उसी प्रकार सुख-पूर्वक नष्ट हो जाता है जैसे सूर्योदयसे अन्धकार। गुणोंके ऐश्वर्य और कर्मोंका परित्याग करनेवाले तथा सब विषय-वासनाओंसे रहित ब्रह्मवेत्ता पुरुषको जरा और मृत्यु व्याप्त नहीं होती। जब मनुष्य सब बन्धनोंसे पूर्णतः मुक्त होकर समतामें स्थित हो जाता है उस समय वह शरीरके भीतर रहकर भी इन्द्रियों और उनके विषयोंकी पहुँचसे बाहर हो जाता है। इस प्रकार सबके कारण-स्वरूप (सबको उत्पन्न करनेवाले) ब्रह्मको प्राप्त करके जो इस प्रकृति (सबको उत्पन्न करनेवाली शक्ति)-की सीमाको भी लाँघ जाता है उसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है और उसे फिर कभी संसारमें नहीं लौटना पड़ता।

ब्रह्मके दो रूप हैं—शब्द-ब्रह्म (ॐ) और परब्रह्म (सच्चिदानन्द-घन परमात्मा)। जो पुरुष शब्द-ब्रह्ममें पारंगत हो जाता है वह परब्रह्मको भी प्राप्त कर लेता है।

—शान्तिपर्व अध्याय २७०

तैत्तिरीयोपनिषद् (वल्ली १, अनुवाक ९) में कहा भी गया है—

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्।

[ओम् ही ब्रह्म है। यह सब जो कुछ है सब ओम् ही है।] पहले बताया भी जा चुका है कि ॐकी उपासना, उसका जप और चिन्तन ही ब्रह्मकी उपासना, उसका जप तथा चिन्तन है। उससे ही परब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है। वह साक्षात् ब्रह्म ही है।

यह नहीं समझना चाहिए कि केवल योग या ज्ञान (सांख्य)-से ही ब्रह्म प्राप्त होता है। यदि मनुष्य सब प्राणियोंको समान समझे, सरल, सन्तुष्ट, ज्ञान-निष्ठ और शुद्ध-चित्त होकर शब्द-ब्रह्म और परब्रह्म दोनोंमें श्रद्धा रक्खे, वह ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी, सभी ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेते हैं। सन्तोष, त्याग और ज्ञानका आश्रय लेनेसे ही ब्रह्मका साक्षात्कार करनेकी वृत्ति हो जाती है। सब प्राणियोंपर दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, सरलता, अद्रोह, निरभिमानता, तितिक्षा और शमके द्वारा भी मनुष्यको परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। जब मनुष्य सब प्रकारसे सन्तुष्ट, विशुद्धचित्त और ज्ञाननिष्ठ हो जाता है तब उसे स्वभावतः परम गति प्राप्त हो जाती है।

वह ब्रह्म ऋत, सत्य, ज्ञात, ज्ञातव्य, सबका आत्मा, स्थावर-जंगम स्वरूपवाला, सम्पूर्ण सुखरूप, कल्याणमय, सर्वोत्कृष्ट, अव्यक्त, सबको उत्पन्न करनेवाला और अविनाशी है। तेज, क्षमा और शान्तिरूपी शुभ साधनोंके द्वारा उस आकाशके समान असंग, अविनाशी और सदा एकरस रहनेवाले तत्त्वका साक्षात्कार सभी पुरुष अपने ज्ञान-नेत्रोंसे कर पा सकते हैं। [शान्तिपर्व, अध्याय २७०

ब्रह्म-साधनाके आवश्यक साधन

दम

महर्षियोंने ब्रह्म-प्राप्तिके लिये धर्म-पालन अर्थात् संयत जीवन बितानेकी जो अनेक विधियाँ बताई है उन सबका आधार दम (मन और इन्द्रियोंका संयम) ही है। दमसे मनुष्यके तेजकी वृद्धि होती है और यह ऐसा पवित्र साधन है कि इसके द्वारा जो तेजस्वी पुरुष पाप-रहित हो जाता है वह परम पद (ब्रह्म) प्राप्त कर लेता है। जो अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है, वह सुखसे सोता, सुखसे जागता और सुखपूर्वक प्रसन्न मनसे सब लोकोंमें विचरता है। क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्य-वादिता, सरलता, इन्द्रिय-विजय, दक्षता, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, क्रोधहीनता, सन्तोष, प्रिय भाषण, किसीको कष्ट न देना और दूसरोंके दोष न देखना—इन सब गुणोंका उदय होना ही दम कहलाता है।

दम अर्थात् संयममें एक ही दोष है कि क्षमाशील होनेके कारण लोग उसे दुर्बल और असमर्थ समझने लगते हैं किन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि यही उसका सबसे बड़ा गुण भी है क्योंकि क्षमासे सहिष्णुता बढ़ जाती है और क्षमा धारण करनेसे ही उसे पुण्यलोक और ब्रह्मकी भी प्राप्ति हो जाती है। इस संयमके लिये कहीं वनमें जानेकी आवश्यकता नहीं। इसकी साधना तो मनुष्य कहीं भी रहकर कर सकता है। क्रिया, तप और सत्य सभी दमके आधारपर ही प्रतिष्ठित हैं। दमसे ही तेजकी वृद्धि होती है और दान्त अर्थात् मन और इन्द्रियोंका संयम करनेवाला पुरुष निर्भय होकर महत्त्व पद प्राप्त कर लेता और सदा प्रसन्न रहता है।

यह दम निम्नांकित उपायोंसे सिद्ध होता है—अदैन्य, (किसीके आगे न गिड़गिड़ाना), शान्ति (उत्तेजित न होना), सन्तोष, श्रद्धा,

अक्रोध, सरलता (निष्कपटता), मित भाषण, निरभिमानिता, गुरुसेवा, किसीके गुणोंमें दोष न देखना, जीव-दया, अपिशुनता (चुगली न करना), लोकापवाद, असत्य भाषण, निन्दा स्तुति-आदिका त्याग, सत्संग, सुखकी इच्छा, दुःखकी चिन्ता न करना, किसीसे वैर न करना और सबसे स्नेहपूर्ण व्यवहार करना। वही पुरुष दान्त (दमयुक्त) होता है जो निन्दा-स्तुतिसे अविचलित, सदाचारी, शीलवान्, प्रसन्नचित्त, धैर्यवान् तथा दोषोंका दमन करनेमें समर्थ होता है। दमनशील पुरुष सब प्राणियोंको सुख पहुँचानेमें ही सुखी और आनन्दित होता, सबका हित करनेमें सुख पाता, किसीसे द्वेष नहीं करता, गम्भीर रहता, कभी क्षुब्ध न होता तथा सदा ज्ञानके आनन्दसे तृप्त और प्रसन्न रहता है। ऐसे पुरुषको न तो किसी अन्य प्राणीसे ही भय होता न अन्य प्राणी ही उससे भयभीत होते। दान्त पुरुषका लक्षण है कि वह सम्पत्ति पाकर प्रसन्न नहीं होता, संकटमें दुखी नहीं होता, किसीके दोष नहीं देखता, सबको क्षमा करता, शान्त और सन्तुष्ट रहता, मधुर वचन बोलता तथा सत्य, दान और क्रिया (शुभ कर्म)-से कभी नहीं थकता।

तप

युधिष्ठिरको समझाते हुए भीष्मने कहा कि प्रजापतिने तपस्यासे ही संसारकी सृष्टि की है। ऋषियोंने भी तपसे ही वेदोंका ज्ञान प्राप्त किया। तपस्यासे सिद्ध होकर एकाग्र चित्तवाले महात्मा पुरुष तीनों लोकोंको ऐसे प्रत्यक्ष देखते हैं मानो हाथपर रक्खा हुआ आँवला हो। सब क्रियाएँ, सब साधन और सब सिद्धियाँ तपस्यासे ही मिलती हैं यहाँतक कि घोर पापी भी तपस्याके द्वारा पापसे मुक्त हो जाता है।

यद्यपि तपस्याके अनेक रूप हैं किन्तु जो निवृत्ति-मार्गसे अर्थात् वैराग्य लेकर चल रहा हो उसके लिये उपवाससे बढ़कर कोई दूसरा तप नहीं, यहाँतक कि अहिंसा, सत्य-भाषण, दान और इन्द्रिय-संयमसे

भी तप ही बढ़कर हैं। दानसे बढ़कर कोई दुष्कर तप नहीं है, माताकी सेवासे बड़ा कोई दूसरा आश्रय नहीं है, तीनों वेदोंके विद्वानोंसे श्रेष्ठ कोई विद्वान् नहीं है और संन्याससे बड़ा कोई रूप नहीं है। तपस्यासे देवत्व भी प्राप्त हो जाता है और ब्रह्मका भी साक्षात्कार हो जाता है जैसे ध्रुवको हुआ था। शान्तिपर्व (अ० १९) में तपका लक्षण बताते हुए कहा है—

> अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा।
> एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ॥

[किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रूरताका व्यवहार न करना, मन और इन्द्रियोंपर संयम रखना और सबके प्रति दयाभाव बनाए रखना ही तप माना गया है। शरीरको सुखाना तप नहीं है।] यह स्मरण रखना चाहिए कि कुटिलता ही सारे दोषोंकी जड़ है और सरलता अर्थात् निष्कपटतासे ही परब्रह्म प्राप्ति होती है।

सत्य

सत्यनिष्ठा ही तपस्वीका सबसे बड़ा गुण है। आदि कालसे ही भारतीय साहित्यमें सत्यका बड़ा महत्त्व माना गया है। महाराजा हरिश्चन्द्रने तो स्वप्नमें दिए हुए दानको भी सत्य मानकर सत्यकी रक्षा की। भीष्मजीने कहा है कि सत्य ही धर्म, तप, योग, सनातन ब्रह्म और परम यज्ञ है। सब कुछ सत्यपर ही टिका हुआ है।

सत्यकी सिद्धिका उपाय बताते हुए उन्होंने सत्यके तेरह स्वरूप बताएँ हैं—सत्य, समता, दम, निर्मत्सरता, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, सहनशीलता, अनसूया, परमात्माका ध्यान, आर्यता (श्रेष्ठ आचरण), परम धैर्य और अहिंसा। सत्यकी साधना ही यह है कि सदा एकरस, अविनाशी और अविकारी होते हुए धर्मके अनुकूल कर्त्तव्य-पालनके द्वारा सत्यकी सिद्धि की जाय।

ऊपर सत्य-सिद्धिके जो अन्य स्वरूप गिनाए गए हैं इनकी सिद्धिके लिये उपाय बताते हुए कहा गया है कि प्रिय और अप्रियमें समानभाव रखना ही समता है। इसकी सिद्धि इच्छा, द्वेष, काम और क्रोधको मिटानेसे होती है। किसी दूसरेकी वस्तु लेनेकी इच्छा न करना, सदा धीर, गम्भीर और निर्भय रहना तथा मनको शान्त रखना ही दम है। इसकी सिद्धि ज्ञानसे होती है। कोई काम करते समय दूसरोंकी वृद्धि देखकर किसीसे ईर्ष्या न करना ही निर्मत्सरता है। सत्य (निष्कपट) व्यवहार करनेसे निर्मत्सरता सिद्ध होती है। सहनीय और असहनीय व्यवहार तथा प्रिय और अप्रिय वचनको सहन कर लेना ही क्षमा है। सत्य-व्यवहारसे क्षमाकी सिद्धि होती है। इसीलिये सदा सबसे सत्य व्यवहार करना चाहिए। जो पुरुष दूसरोंका कल्याण करता हुआ मनमें कभी खिन्न नहीं होता, अपना मन और अपनी वाणी शान्त रखता है और अपनी प्रशंसा सुनकर लज्जित होता है वह लज्जाशील माना जाता है। धार्मिक आचरणसे इस लज्जाकी सिद्धि होती है। धर्म और अर्थके लिये सब प्रकारके कष्ट सहन करनेको तितिक्षा कहते हैं। इसकी सिद्धि धैर्यसे होती है। दूसरोंके दोष न देखना ही अनसूया है। सबसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करनेसे अनसूया सिद्ध होती है। सब विषयोंकी आसक्ति छोड़ देनेको ही त्याग कहते हैं। मनसे राग-द्वेष मिटा देनेसे त्यागकी सिद्धि होती है। ध्यानपूर्वक एकाग्रताके अभ्यासके द्वारा परमात्माके चिन्तनसे ध्यानकी सिद्धि होती है। अपनेको प्रकट किए बिना प्रयत्न-पूर्वक सब प्राणियोंकी भलाई करते रहना ही आर्यता है। धर्म-बुद्धि और आसक्तिके त्यागसे आर्यता सिद्ध होती है। सुख या दुःख किसी भी अवस्थामें विचलित न होनेको धृति कहते हैं। तितिक्षाके अभ्याससे धृति सिद्ध होती है। हर्ष, भय और क्रोधको त्याग देनेसे तथा क्षमाशील और सत्यशील होनेसे धैर्यकी सिद्धि होती है। मन, वाणी और क्रिया-द्वारा किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करना, उनपर दया करना और उनके मनको भी कष्ट न पहुँचाना अहिंसा

कहलाती है। समता और आत्मवत्ताका भाव पुष्ट करनेसे अहिंसाकी सिद्धि होती है। दया, क्षमा और दम ही श्रेष्ठ पुरुषोंका सनातन धर्म है।

भृगुजीने कहा है कि सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही तप है, सत्य ही प्रजाकी सृष्टि करता है। सत्यके ही आधारपर संसार टिका है और सत्यके ही प्रभावसे मनुष्य ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकता है। जो सत्य है वही धर्म है, जो धर्म है वही प्रकाश है, जो प्रकाश है वही परमानन्द है। यह आनन्द दो प्रकारका बताया गया है—शारीरिक और मानसिक। सत्यसे दोनों प्रकारका आनन्द मिल जाता है।

[शान्तिपर्व, अध्याय १८९

त्याग

भीष्मजीने युधिष्ठिरको शम्पाक ब्राह्मणका वचन सुनाते हुए कहा था कि यदि तुम सब कुछ त्यागकर किसी भी वस्तुका संग्रह नहीं करोगे तो स्वेच्छापूर्वक कहीं भी विचरते हुए आनन्दका अनुभव करोगे क्योंकि जो अकिञ्चन होता है वह सुखसे सोता और जागता है। यही हितकारी, कल्याणकारी और निरापद सुखका साधन है। जो अकिञ्चन, शुद्ध और वैराग्य-सम्पन्न मनुष्य धनकी आसक्ति त्यागकर मुक्त हो जाता है, उसपर न तो अग्नि और अनिष्टकारी ग्रहोंका प्रभाव होता है, न मृत्यु ही उसका कुछ बिगाड़ सकती। देवता भी उसकी प्रशंसा करते हैं। त्याग किए बिना न तो किसीको सुख हो सकता, न कोई निर्भय ही सो सकता और न परब्रह्मको ही प्राप्त कर पा सकता। शम्पाक ब्राह्मणने हस्तिनापुरमें त्यागकी इसी महिमाका वर्णन करते हुए त्यागको ही अत्यन्त श्रेष्ठ बताया था।

[शान्तिपर्व, अध्याय १७६

परमानन्द-प्राप्तिके लिये आवश्यक गुण

युधिष्ठिरको समझाते हुए भीष्मने कहा था कि जिस मनुष्यमें समता, व्यर्थ परिश्रमका अभाव, सत्य-भाषण, संसारसे वैराग्य और

कर्ममें आसक्तिका अभाव होता है वही सुखी होता है। इन्हीं पाँचों गुणोंसे ही शान्ति और परम सुख मिल पाता है। इस प्रसंगमें उन्होंने मंकि मुनिकी कथा सुनाकर बताया था कि जब उन्होंने धनकी सारी तृष्णा छोड़ दी तभी वे परम सुखी हो गए। [शान्तिपर्व अ० १७७

महाभारतके युद्धके पश्चात् जब युधिष्ठिर संन्यास लेनेकी इच्छा करने लगे, उस समय सहदेवने उन्हें समझाते हुए कहा था कि शरीरके उपयोगमें आनेवाले द्रव्योंकी ममता त्यागकर अनासक्त भावसे पृथ्वीका शासन करनेवाले राजाको धन और सुख सबकी प्राप्ति होती है। दो अक्षरोंवाला 'मम' (यह मेरा है) तो मृत्यु है और तीन अक्षरों वाला 'न मम' (यह मेरा नहीं है) ही अमृतत्व या सनातन ब्रह्म है। इसलिये ममत्व-भावका त्याग ही सुख या परमानन्दके लिये नितान्त आवश्यक है।

ममता और आसक्तिका बन्धन तथा सकाम कर्म ही आमिष है। जो इन दोनोंसे मुक्त हो जाता है वही परब्रह्म या परमपद प्राप्त कर लेता है जैसे जनकने किया था जिन्होंने कहा था कि यदि सारी मिथिला जल भी जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलेगा क्योंकि जिस धनको लोग मेरा समझते हैं वह मेरा है ही नहीं। जब पुरुष यह समझ लेता है कि सब प्राणी एक मात्र परमात्मामें स्थित हैं और उसी परमात्मासे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है तब वह उस सच्चिदानन्द-घन ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है जिसे बुद्धिमान् तपस्वी ही प्राप्त कर पाते हैं।

इसीलिये कहा गया है कि संन्यासीको तो मन और इन्द्रियोंपर संयम रखते हुए न तो किसी वस्तुकी कामना करनी चाहिए, न अपने लिये मठ या कुटी बनवानी चाहिए। उसे कहीं एक स्थानपर स्थिर न रहकर घूमते रहना चाहिए। चरैवैति चरैवैति। जहाँ सूर्यास्त हो जाय वहीं ठहर जाना चाहिए और प्रारब्धवश जो कुछ मिल जाय उसीसे सन्तुष्ट होकर जीवन-निर्वाह करना चाहिए।

आशा-तृष्णाका भाव दूर करके, सबके प्रति समान भाव रखते हुए, भोगोंसे दूर रहकर मनमें कोई विकार नहीं आने देना चाहिए। इसलिये इस आश्रमको क्षेम-आश्रम, कल्याण-प्राप्तिका या ब्रह्मकी प्राप्तिका आश्रम कहते हैं।

धैर्य

जब वामन भगवान्‌ने अपने पैरोंसे तीनों लोक नाप लिए और इन्द्र, देवताओंके राजा हो गए, उस समय इन्द्र अपने ऐरावत हाथीपर चढ़कर उस पर्वतकी गुफामें जा पहुँचे जहाँ बलि बैठे हुए थे। किन्तु हाथमें वज्र लिए हुए इन्द्रको देखकर भी बलिके मनमें न कोई शोक हुआ, न भय, न कष्ट। यह देखकर इन्द्रने उनसे पूछा—क्यों दैत्यराज! तुम्हें अपने शत्रुकी समृद्धि देखकर भी व्यथा क्यों नहीं होती? क्या शौर्य; वृद्ध-जनकी सेवा या तपस्यासे तुम्हारा अन्तःकरण इतना शुद्ध हो गया है कि तुम्हें शोक नहीं होता। ऐसी और भी अनेक कठोर बातें इन्द्रने कहीं किन्तु बलि बड़े प्रेम और आनन्दसे बिना घबराए सब सुनते रहे। उसके पश्चात् पहले तो बलिने इन्द्रको बहुत फटकारा और फिर कहा कि प्रत्येक पुरुष बारी-बारीसे सुख और दुःख पाता ही रहता है। तुम भी अपने पराक्रमसे नहीं, वरन् काल-क्रमसे इन्द्र बने हो। उसी कालने मुझे भी इस दशामें ला पहुँचाया है। इसलिये यदि सबसे बड़ा कोई है तो काल ही है। उसीके बलसे मैंने तुमपर विजय पाई थी और कालके ही सहयोगसे तुमने मुझे पराजित किया है। तुम मोहवश जिस राज-लक्ष्मीको अपनी माने बैठे हो वह न तो तुम्हारी है न हमारी है न किन्हीं औरोंकी। वह तो कालके सहारे इधर-उधर आती जाती नाचती फिरती है। वास्तवमें काल ही सबसे अधिक बलवान् है। जो मनुष्य कालके प्रभावको जानता है वह कभी शोक नहीं करता क्योंकि शोक करनेसे विपत्ति दूर करनेमें कभी कोई सहायता नहीं मिलती। उलटे, शोकसे तो मनुष्यकी शक्ति क्षीण हो जाती है, इसलिये मैं शोक करता ही नहीं हूँ।

यह सुनकर इन्द्रने कहा—मेरे हाथमें वज्र देखकर तो सबका हृदय दहल जाता है किन्तु तुम्हारी बुद्धि तो तत्त्वको जाननेवाली और स्थिर है इसलिये वह तनिक भी विचलित नहीं होती। निश्चय ही धैर्यके कारण तुम्हें कोई व्यथा नहीं हो रही है। तुम ठीक कह रहे हो कि कालपर किसीका वश नहीं चलता। वह सनातन धर्म-स्वरूप और सबपर समभाव रखनेवाला है। उसके हाथसे कोई बचकर नहीं निकल सकता। निश्चय ही तुम्हारी बुद्धि तत्त्वको जाननेवाली और स्थिर है इसीलिये तुम्हें कोई व्यथा नहीं होती। सामान्य लोग ईर्ष्या, अभिमान, लोभ, काम, क्रोध, भय, स्पृहा, मोह और अभिमानमें फँसकर अपना विवेक खो बैठते हैं किन्तु तुम तो विद्वान्, ज्ञानी और तपस्वी हो, समस्त पदार्थों और शास्त्रोंका तत्त्व जानते हो। तुम कालकी लीला और उसके तत्त्वको समझते हुए अपने मनको वशमें रखनेवाले आदर्श पुरुष हो। तुम सर्वत्र विचरते हुए भी सबसे मुक्त हो। तुम्हारी कहीं भी आसक्ति नहीं है क्योंकि तुमने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है। तुम उस आत्माकी उपासना करते हो जो हर्षसे रहित, सन्तापसे शून्य, सब प्राणियोंका मित्र, निर्भय और शान्तचित्त है।

यह कहकर देवराज इन्द्र चले गए। वास्तवमें धैर्य बहुत बड़ा गुण है जो काल और प्रारब्धको भी चुनौती दिए रहता है। धैर्यकी परिभाषा देते हुए महाकवि कालिदासने कहा है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

[विकारका कारण होनेपर भी जिनका मन कभी विकृत नहीं होता, वे ही पुरुष धीर कहलाते हैं।] सब प्रकारकी साधना करनेमें धैर्य ही सबसे बड़ा आलम्बन होता है क्योंकि अधिकांश साधक थोड़ी-सी बाधा, असुविधा और व्यथा होते ही साधना छोड़कर भाग खड़े होते हैं। इसीलिये तन्त्र-शास्त्रोंमें भी और योग-साधनाके ग्रन्थोंमें भी साधकको निरन्तर सजग किया गया है कि उसे किसी भी

अवस्थामें विचलित नहीं होना चाहिए और निरन्तर बाधा पड़ते रहनेपर भी स्थिर रहना चाहिए।

शील

ऊपर बताया गया है कि शील ही मनुष्यका सबसे बड़ा गुण है। जिसमें शील होता है उसमें सारे गुण स्वयं आ समाते हैं। जब युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें दुर्योधनने इन्द्रप्रस्थमें जाकर उनका ऐश्वर्य देखा तो वह ईर्ष्यासे कुढ़ गया और दुखी रहने लगा। उसके पिता धृतराष्ट्रने उसे समझाया भी कि तुम्हें ही कौन सी कमी है। फिर भी दुर्योधनकी आँखोंमें पाण्डवोंका ऐश्वर्य बहुत खटके जा रहा था। इसपर धृतराष्ट्रने उससे कहा—युधिष्ठिरके पास जितनी और जैसी सम्पत्ति है वैसी या उससे बढ़कर राजलक्ष्मी यदि तुम पाना चाहो तो शीलवान् बनो। इस शीलकी व्याख्या करते हुए धृतराष्ट्रने उसे प्रह्लादकी कथा सुनाई कि दैत्यराज प्रह्लादने शीलके बलपर ही इन्द्रका भी राज्य पा लिया और तीनों लोकोंको भी अपने वशमें कर लिया।

इन्द्रने जब बृहस्पतिजीसे अपने कल्याणका उपाय पूछा तो उन्होंने कल्याणका एक उपाय बता दिया। इसके पश्चात् इन्द्रने पूछा—क्या इससे भी बढ़कर कोई कल्याणकी बात है? बृहस्पतिने कहा—शुक्राचार्यजीके पास जाओ, वे बतावेंगे। शुक्राचार्यजीसे श्रेय या कल्याणका उपाय जानकर इन्द्रने उनसे पूछा—क्या इससे भी बढ़कर कुछ श्रेय है? शुक्राचार्यजीने कहा—हाँ! इससे भी बढ़कर है। तुम प्रह्लादसे उसका ज्ञान प्राप्त करो।

जब इन्द्रने ब्राह्मणका वेश धारण करके प्रह्लादके पास जाकर भक्ति-पूर्वक उनकी सेवा करके उनसे पूछा कि आपको यह त्रिलोकीका उत्तम राज्य कैसे प्राप्त हुआ, तो उत्तरमें प्रह्लादने कहा—देखो ब्राह्मण! मैं राजा होनेके कारण कभी ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं करता। जब वे उपदेश करते हैं तो मैं ध्यानपूर्वक उनकी बातें सुनकर

ग्रहण करता हूँ। मैं सदा नीति-मार्गपर चलता, ब्राह्मणोंकी सेवा करता, किसीके दोष नहीं देखता, धर्ममें मन लगाए रखता, क्रोधको जीतकर मन और इन्द्रियोंको वशमें किसे रखता हूँ। ब्राह्मणोंके मुखमें जो शुक्राचार्यकी नीतिके अमृत वाक्य हैं वे ही मेरे सर्वोत्तम नेत्र हैं। इतना ही श्रेय है।

इसके पश्चात् ब्राह्मण इन्द्रकी सेवासे प्रसन्न होकर प्रह्लादने उनसे कहा—वर माँगो। ब्राह्मण-रूपी इन्द्रने कहा—यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो अपना शील मुझे दे दीजिए। प्रह्लादने 'तथास्तु' कह तो दिया किन्तु बड़ी चिन्तामें पड़ गए। उसी समय उनके शरीरसे छाया-तेज निकलकर बाहर आ खड़ा हुआ। प्रह्लादने पूछा—आप कौन हैं? उसने उत्तर दिया—मैं शील हूँ। आपने मुझे त्याग दिया इसलिये मैं जाकर उस ब्राह्मण (इन्द्र)-के शरीरमें जा रहूँगा। इसके पश्चात् बारी-बारीसे प्रह्लादके शरीरसे धर्म, सत्य, सदाचार, बल आदि निकलकर चले गए और अन्तमें प्रभामयी देवीके रूपमें लक्ष्मी भी आ प्रकट हुई। उन्होंने कहा कि इन्द्रने ब्राह्मणके रूपमें तुमसे शील माँगकर तुम्हारा सम्पूर्ण ऐश्वर्य हर लिया है। धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं (लक्ष्मी) सब शीलवान्के पास ही रहते है। जिसमें शील नहीं उसके पास ये कोई गुण नहीं रह पाते।

जब दुर्योधनने धृतराष्ट्रसे शीलकी प्राप्तिका उपाय पूछा तो उन्होंने बताया कि मन, वाणी या क्रिया-द्वारा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, सबपर दया करना, यथाशक्ति दान देना, अपना सम्पूर्ण पुरुषार्थ और कर्म दूसरोंके हितके लिये ही प्रयुक्त करना शील कहलाता है। शीलवान् पुरुषको ऐसा ही कर्म करना चाहिए जिससे समाजमें उसकी प्रशंसा हो।

शीलवान् पुरुषकी यही विशेषता होती है कि यदि कोई उसके प्रति थोड़ा-सा भी उपकार कर दे तो वह उसके उपकारके ऋणसे अपनेको सदा दबा समझता, बढ़-बढ़कर उसकी प्रशंसा करता और

मानता रहता है कि मैं इसके उपकारसे कभी उऋण नहीं हो सकता। वह न तो कभी अपनी प्रशंसा सुनता, न करने देता और यदि कोई प्रशंसा करता भी है तो झट उसे रोक देता या टाल जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने रामके शीलका वर्णन करते हुए कहा है कि शबरीने जो उन्हें जूठे बेर खिला दिए थे उसकी इतनी प्रशंसा राम करते रहे कि अयोध्या तथा मिथिलाके स्वादिष्ट भोजनको भी यही बताते रहते थे कि शबरीके बेरोंमें जैसा स्वाद था वह इनमेंसे किसीमें नहीं है। हनुमानजीने जो सीताकी खोज करके उनके प्रति उपकार किया था उसकी निरन्तर सराहना करते हुए वे कहते रहते थे कि मैं तुम्हें लक्ष्मण और भरतसे भी अधिक मानता हूँ। मैं इतना कृतज्ञ हूँ कि तुमसे उऋण नहीं हो सकता। जिस जटायुने उनकी पत्नी सीताकी रक्षाके लिये अपने प्राण दे दिए थे, उसका उन्होंने पितासे भी अधिक आदर किया था। शीलवान् पुरुषका यह सबसे बड़ा लक्षण है कि वह किसीका कभी अपमान नहीं करता और दूसरेके किए हुए उपकारको सदा निरन्तर स्मरण करता रहता है। कृतज्ञता ही शीलवान् पुरुषका सबसे बढ़ा लक्षण है।

आशा

आशा ही सबसे बड़ा दुःख है और निराशा सबसे बड़ा सुख है। अपनी चोंचका आमिष फेंककर निश्चिन्त होनेवाले क्रौंच पक्षी, चूहेके विलमें निश्चिन्त जा रहनेवाले सर्प, चातक, एकाग्र होकर बाण बनानेवाले शरकार और अतिथि-सत्कारके समय खनखनाते कड़ोंको उतारकर धान कूटनेवाली कुमारी कन्याके समान निश्चिन्त होकर आशा छोड़कर सुख प्राप्त करना चाहिए।

[शान्तिपर्व, अध्याय १७८]

आजगर वृत्ति या वैराग्य

यह सारा संसार परमात्मासे ही उत्पन्न, परिवर्धित, क्षीण और विनष्ट होता रहता है इसलिये संसारके किसी भी प्राणीके लिये न

हर्ष ही प्रकट करना चाहिए, न दुःख। सबसे बड़ा ज्ञान यही जानना है कि सत्त्व, रज और तम गुणोंसे पूर्ण जितने प्राणी हैं सब नाशवान् हैं और जिनकी उत्पत्ति हुई है उनका नाश अवश्य होगा ही। इस तत्त्वको भली भाँति समझकर सबके प्रति समान भावके साथ सुखसे सोना चाहिए। यह अजगर-वृत्ति अत्यन्त सुदृढ, मृत्युसे दूर रखने-वाली, कल्याणमय, शोकहीन, शुद्ध, अनुपम और विद्वानोंके मतानुकूल है। इसलिये किसीसे कुछ न चाहते हुए, किसीसे द्वेष न करते हुए, अपने धर्ममें दृढ रहकर, अविचल बुद्धिसे उत्तम और अधमका विवेक करते हुए, अत्यन्त परिमित सांसारिक व्यवहार रखते हुए, भय, राग, द्वेष, लोभ और मोह सबको दूर करके, पवित्र भावसे आजगर व्रतका पालन करना चाहिए अर्थात् जो जब मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहना चाहिए। भय, राग, मोह और अभिमान नष्ट करके, धृति, मति और बुद्धिसे सम्पन्न होकर पूर्णतः शान्त रहना चाहिए और दम, नियम, व्रत, सत्य और शौचाचारका पालन करके कर्मफलके संचयका नाश कर डालना चाहिए। जो महापुरुष राग, भय, लोभ, मोह और क्रोधको त्यागकर इस आजगर व्रतका पालन करता है वह इस लोकमें तो आनन्दके साथ विचरण करता ही है, परलोकमें भी ब्रह्मानन्द प्राप्त कर लेता है।

[शान्तिपर्व, अध्याय १७९]

कल्याणके अन्य उपाय

श्रुति कहती है कि नगरमें रहकर स्त्री-पुत्रमें आसक्ति ही मृत्युका मुख है और वनका आश्रय लेना ही इन्द्रिय-रूपी गौओंको बाँधे रखनेकी गोशाला है। जो मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करता उसकी तो हिंसक प्राणी भी हिंसा नहीं करते।

सत्यमें अमृतत्व है। सत्य-योगका आश्रय लेकर, मन और इन्द्रियोंका संयम करके मनुष्य मृत्युपर भी विजय पा सकता है। मोहसे

मृत्यु और सत्यसे अमृत प्राप्त होता है। काम और क्रोधको मनसे निकालकर, दुःख और सुखमें समान भाव रखकर और सबका कल्याण करके मनुष्य देवताओंके समान अमर हो सकता है। मनुष्यको चाहिए कि मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर ब्रह्म-यज्ञ (स्वाध्याय) करे। उत्तरायणके मार्गसे जानेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको जप और स्वाध्यायका वाग्-यज्ञ, ध्यानका मनोयज्ञ और गुरु-माता-पिता तथा अतिथिकी सेवा आदिका कर्मयज्ञ करना चाहिए। त्याग, तपस्या, तितिक्षा और सत्यसे मनुष्यको सब कुछ प्राप्त हो सकता है। न तो ज्ञानके समान कोई दूसरा नेत्र है, न सत्यके समान कोई तप, न रागके समान कोई दुःख है, न त्यागके समान कोई सुख। परमात्माके साथ एक हो जाना, सत्यनिष्ठा, सदाचार, ब्रह्मज्ञान, अहिंसा, निष्कपटता और सब प्रकारके सकाम कर्मोंसे मन हटा लेना ही सबसे बड़ा धर्म और आत्मकल्याणका उपाय है।

[शान्तिपर्व, अध्याय १७५]

अकिञ्चनता

सबमें समता, व्यर्थ परिश्रमका अभाव, सत्य-भाषण, संसारसे वैराग्य और कर्मासक्तिका अभाव—ये पाँचों गुण जिस मनुष्यमें होते हैं वही परम सुखकी प्राप्ति करता है। जो मनुष्य धनकी इच्छासे विरक्त हो जाता है वह सुखकी नींद सोता है। इसलिये धन आदिकी ओरसे वैराग्य ही रखना चाहिए। तृष्णा, शोक और परिश्रम सब काम (कामना या इच्छा)-से प्रकट होते हैं। अतः, इच्छाका त्याग तो करना ही चाहिए। सदा सन्तुष्ट और स्वस्थ इन्द्रिय-सम्पन्न रहकर जो भाग्यवश मिल जाय उसीसे जीवन-निर्वाह करना चाहिए; यहाँतक कि जो तिरस्कार और द्वेष करे या बुरा-भला कहे उसपर भी अप्रसन्न नहीं होना चाहिए।

वैराग्य, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा और सब प्राणियोंके प्रति दया-भाव, ऐसे सद्गुण हैं जो मनुष्यको सत्त्वगुणमें स्थापित

कर देते हैं। काम और लोभका त्याग करके ही मनुष्य सुखी हो पाता है। वह जिस-जिस कामनाको छोड़ता चलता है उसी-उसी ओरसे निश्चिन्त और सुखी होता चलता है।

काम और क्रोधसे दुःख, निर्लज्जता और असन्तोष ही प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममता—इन सात शत्रुओंका नाश कर डालता है वह पुरुष अविनश्वर ब्रह्मपुरमें सुखके साथ जा पहुँचता है क्योंकि समस्त कामनाओंका परित्याग करके ही मनुष्य मंकि मुनिके समान परब्रह्मको प्राप्त कर ले सकता है। [शान्तिपर्व, अध्याय १७७]

शुभ कर्मोंसे दिव्य लोकोंकी प्राप्ति

पुराणोंमें ऐसी अनेक घटनाओंका वर्णन है जिनमें विभिन्न प्रकार-के परहित, लोक-कल्याण, शरणागत-रक्षा तथा आत्म-त्याग आदिके द्वारा महापुरुषोंने दिव्य लोक प्राप्त कर लिए।

महान् व्रतधारी राजा सत्यसंधने एक ब्राह्मणके प्राणोंकी रक्षाके लिये अपने प्राण देकर स्वर्ग-लोक प्राप्त किया।

संकृतके पुत्र राजा रंचदेवने महात्मा वसिष्ठको शीतोष्ण जल देकर स्वर्गलोक प्राप्त किया।

अत्रिवंशीय राजा इन्द्रदमनने एक सुयोग्य ब्राह्मणको अनेक प्रकारका धन देकर अक्षय लोक प्राप्त किया।

उशीनरके पुत्र राजा शिबिने किसी ब्राह्मणके लिये अपना शरीर तथा सगा पुत्र दान कर दिया था जिससे वे स्वर्ग-लोकमें गए।

काशिराज प्रतर्दनने किसी ब्राह्मणको दोनों नेत्र प्रदान करके इस लोकमें अनुपम कीर्ति प्राप्त की और वे परलोकमें भी उत्तम सुख भोग रहे हैं।

राजा देवावृद्धने आठ तीलियोंवाला स्वर्णका बहुमूल्य छत्र प्रदान करके अपनी प्रजाके साथ स्वर्गलोक प्राप्त किया।

अत्रिवंशीय महा तेजस्वी सांकृति तो अपने शिष्योंको निर्गुण ब्रह्मका उपदेश देकर ही उत्तम लोकोंमें जा पहुँचे।

प्रतापी राजा अंबरीषने ब्राह्मणोंको एक अरब दस करोड़ गौएँ दान देकर देशवासियों-सहित स्वर्ग-लोक प्राप्त किया।

सावित्रीने दो दिव्य कुण्डल देकर और राजा जनमेजयने एक ब्राह्मणके लिये अपना शरीर देकर उत्तम लोक प्राप्त किए।

वृषदर्भके पुत्र युवनाश्वने सब प्रकारके रत्न, स्त्रियां और सुन्दर घर दान करके स्वर्ग प्राप्त किया।

विदेहराज निमिने अपना राज्य, और परशुराम तथा राजा गयने सारी पृथ्वी ब्राह्मणोंको दान देकर श्रेष्ठ लोक प्राप्त किए।

एक बार पानी न बरसनेपर महर्षि वशिष्ठने सम्पूर्ण प्रजाको जीवन (जल) दान दिया था जिससे उनकी सब लोकोंमें बड़ी प्रतिष्ठा हुई।

करन्धमके पुण्यात्मा पुत्र राजा मरुत्तने महर्षि अंगिराको कन्यादान करके तत्काल स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया।

पाञ्चाल-राज ब्रह्मदत्तने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको अपूर्व निधि देकर पुण्य-लोक प्राप्त किया।

राजा मित्रसह तो महात्मा वशिष्ठको अपनी प्यारी रानी मदयन्ती देकर उसके साथ ही स्वर्गलोक चले गए।

राजर्षि सहस्रजित्‌ने ब्राह्मणके लिये अपने प्राण देकर उत्तम लोक प्राप्त किया।

महाराज शतद्युम्नने मुद्‌गल ब्राह्मणको समस्त भोगोंसे सम्पन्न स्वर्णमय भवन देकर स्वर्गलोक प्राप्त किया।

शल्वराज द्युतिमान्‌ने ऋचि नामक ऋषिको राज्य देकर उत्तम लोक प्राप्त किया।

ऋषि शृङ्ग मुनिको अपनी पुत्री शान्ताका दान करके राजर्षि लोमपाद सब प्रकारसे सम्पन्न हो गए।

हिरण्यहस्तको अपनी सुन्दरी कन्या देकर राजर्षि मदिराश्व देव-वन्दित लोकोंमें चले गए।

राजा प्रसेनजित्‌ने एक लाख सवत्सा गौएँ दान करके उत्तम लोक प्राप्त किया।

इस प्रकार अनेक तपस्वी, त्यागी, जितेन्द्रिय और दानी महापुरुषोंने अपनी तपस्या और पुण्य कर्मोंसे स्वर्गलोक प्राप्त किया।

[शान्तिपर्व, अध्याय २३४]

द्वादशचक्र वेध (कुण्डलिनी-योग)

सुषुम्णाके मार्गसे कुंडलिनी-योगसे सम्बद्ध हठयोग आदिके सभी ग्रन्थोंमें कुंडलिनी-द्वारा षट्चक्र-वेधका ही विवरण दिया हुआ मिलता है किन्तु काशीके प्रसिद्ध सिद्ध महापुरुष श्रीकिनाराम बाबाकी परम्परामें मान्य अवधूत श्रीभगवान्‌रामजी महाराजसे एक प्राचीन लपेटन (वेष्टित पत्रक) प्राप्त हुआ है जिसमें द्वादश चक्रोंके वेधका उल्लेख और विवरण मिलता है। बारहवें कमलदलको समाधि-परब्रह्म-स्थान महासन बताया गया है।

इस लपेटनमें सबसे ऊपर वट वृक्षपर संस्थित अपने हाथसे अपने पैरका अँगूठा चूसते हुए बालमुकुन्द दिखाए गए हैं और वृक्षके नीचे महासिद्ध किनारामजी खड़े चित्रित हैं।

इस पत्रकमें द्वादश चक्रोंका विवरण इस प्रकार है—

१—चार दलवाला आधारचक्र (गुदामें)
२—छह दलका स्वाधिष्ठान चक्र (लिंगमें)
३—कुंडलिनी चक्र (गर्भस्थानमें)
४—दस दलवाला मणिपूरक चक्र (नाभिमें)
५—आठदलवाला मनश्चक्र (नाभि-मध्य)
६—बारह दलवाला अनाहत चक्र (हृदयमें)
७—सोलह दलवाला विशुद्ध चक्र (कंठमें)
८—तीन दलवाला बलवा चक्र (नासिकामें)
९—दो दलवाले कमलका आज्ञाचक्र (भौहोंके बीच)
१०—बाइस दलवाला पूर्णगिरि पाटलचक्र (ललाटमें)
११—सहस्रदल चक्र (मूर्धामें)
१२—ब्रह्मरन्ध्र अमरस्थान (सिरके बीचोंबीच)

इस विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि हमारे यहाँ कुंडलिनी-योग-पद्धतिके कुछ सिद्ध महापुरुषोंकी साधन-परम्परामें द्वादशचक्र-भेदनकी रीति भी विद्यमान थी। इस पत्रकमें सहस्रार चक्रपर सोहं—हंसः लिखा है और बलवा चक्रपर त्रिकोणके दोनों ओर हं क्षः। सोऽहं अजपाजापका निर्देश तो प्राप्त होता है किन्तु हंक्षःका निर्देश केवल इस द्वादशचक्रके विवरणमें ही मिलता है। हठयोग-के साधकोंको इसका भी अध्ययन करना चाहिए। इस पद्धतिमें चक्रोंके स्थानमें भी भिन्नता है। इसका पाठ शुद्ध नहीं है फिर भी ज्योंका त्यों यथासंभव सुधारके साथ दिया जा रहा है।

॥ ॐ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ द्वादशं अमरस्थानं शिरःस्थानं पीतवर्णं सूर्यकोटि-प्रभृतीकाशं तेजस्विनी दोनभा शिवो देवता मूलमाया शक्तिः परमात्मा ऋषिः लयावस्था ४ नी स्थितिः तादात्म्यकं शून्यमुद्रा मूलमाया प्रकृतिः देह वामन गोचर निश्चयं च निःसंशयं निस्तरङ्ग निर्लेप लयक्षय ३ समाधिपरब्रह्मस्थानं महासनं जपेत्।

ध्यानम्

आधारे लिङ्गनाभौ हृदयसरसिते तालमूले ललाटे
द्वे पत्रे षोडशारे द्विदशदशदले द्वादशार्धे चतुष्के।
वासाते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे सुराणाम्
हंसः तत्त्वार्थयुक्तं सकलदलगतं वर्णरूपं नमामि॥

ॐ ब्रह्मरन्ध्रदेह सुषुम्णावस्था योगात्मकं ब्रह्मरन्ध्रदेवेति अग्नि-चक्रे मकारो भवति।

ॐ ब्रह्मरन्ध्रदेह सुषुम्णा अवस्था ऊर्ध्वाम्नयोगात्मा।

ॐ एकादशं सहस्रदलचक्रं मूर्ध्निस्थानं गुरुः देवता चैतन्यशक्तिः विराड् ऋषिः सर्वोत्कृष्टसम्पत्तिः तुरीयातीत चैतन्यात्मक सुवर्ण-

सर्वमात्रा सर्वदा देहस्थितिः अवस्था प्रज्ञा वाचा सोऽहं वेद अनुपमस्थानं अजपाजापैकसहस्रम् घ० १० प० ६० ।

एकविंशति सहस्राणि षट्शतानि तथैव च ।
निशाहे वहते प्राणः सर्वकालं हि विश्यति ॥
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशत्युतः ।
साक्षी भूताक्षयोर्वैराट् हंसहंसेति (जीवो जपति) सर्वदा ॥
वित्यशः पाठः ।

सोऽहं । हंसः

ॐ दशमे पूर्णगिरिपाटे ललाटमण्डले चन्द्रो देवता अमृता शक्तिः परमात्मा ऋषिः द्वाविंशद्दलानि अमृतवासिनीकला अम्बिका लम्बिका चम्बिका नालिका देहस्वरूपं काकमुखं नरनेत्रं गोश्रृङ्गं ललाट-ब्रह्मपुरं हयग्रीवं मयूरपुच्छं हंसवत् पादातिष्ठानं वारे ।

वामभागे इडा प्रोक्ता दक्षिणे पिङ्गला स्मृता ।
सूक्ष्मतेजोमयोना ॐ सुषुम्णा मध्यमा स्मृता ॥
यस्योमिति इदं विश्वं स्तोत्रं च पठतं स्तुवन् ।
योगिभिस्तु प्रयत्नेन विज्ञेया देहवर्तिनी ॥
तां न जानन्ति ये मूढाः वृथा ते भारवाहकाः ।
तस्मादिदं सुचक्रं च ध्येयं च विज्ञवित्तमैः ॥

ॐ नवमे स्थाने आज्ञा चक्रं भ्रुवोः स्थानं रक्तवर्णं अग्नि-दैवता सुषुम्णा शक्तिः हंस ऋषिः चैतन्य वाहनं ज्ञानदेहो विज्ञाना-वस्था अनुपमा वाचा सुषुम्णाभेदश्चैतन्यशून्यं द्विदलं १ द्विमात्रा १ हं बहिर्मात्रास्थितिः प्रमानि २ अजपाजापैकसहस्रम् १००० घ० २० पलानि ४६, अक्षरं ४० प्रसादलिङ्गम् अर्धे मात्रे आकाशे तत्तेज हंस ४ पूजा मानसिकी प्रोक्ता सोऽहं भावेन पूजयेत् । अत्र गन्धादि समर्पयेत् ।

ॐ अष्टमस्थानं बलवाचक्रं नासिकास्थानं ॐकारो देवता सुषुम्णा शक्तिः त्रिवर्णरु त्रिदलरु त्रिमात्रारु अकार उकार मकार सत्त्वरजस्तमः ब्रह्मा विष्णु रुद्रा ४थी अवस्था जीवायुः आकाशं प्राणापानसमानोदानव्यानः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धः ५ नागकूर्म-कृकरदेवदत्तधनञ्जयः ।

हं । क्षः

ॐ मनोबुद्धिचित्ताहङ्कारः अन्तःकरणं इडा पिङ्गला २ सुषुम्णा ।

ॐ सप्तमं विशुद्धचक्रं कण्ठस्थानं धूम्रवर्णं जीवो देवता अविद्या शक्तिः विराट् ऋषिः वायुवाहनः उदानवायुः जालाकाल-ज्वालोऽग्निर्महाकारणदेहं तुर्यावस्था परा वाणी अथर्वणवेद जङ्घासु लिङ्गे समिता भूमिका सुलोकता मोक्ष षोडशदल १६ षोडशमात्रा १६ अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः १६ इति ;अन्तर्मात्रा अथ बहिर्मात्रा १६ विद्या (१) अविद्या (२) इच्छा (३) ज्ञान (४) क्रिया-शक्ति (५) शीतला (६) महाविद्या (७) महामाया (८) बुद्धिः (९) तामसी (१०) मैत्रा (११) मैत्रायणी (१२) कुमारी (१३) रौद्रा (१४) पूषा (१५) सिंहिणी (१६)। अजपा-जापैकसहस्रम् १००० घ० २० प० ५६ अक्षर ४ पूजा मानसिकी प्रोक्ता सोऽहंभावेन पूजयेत् । अत्र गन्धादि समर्पयेत् ।

ॐ विशुद्धकारं चक्रं च कण्ठस्थाने प्रतिष्ठितम् ।
धूम्रवर्णं रजोयुक्तं कलाषोडशभिर्युतम् ।
विद्याविद्ये तथेच्छा च क्रियाज्ञाने च शीतला ।
महाविद्या महामाया बुद्धिः स्यात्तामसी तथा ।
मैत्रा मैत्रायणी प्रोक्ता कुमारी रौद्रिका परा ।
पोषिणी सिंहिणी प्रोक्ताः कलाः षोडश योगिभिः ।।

ॐ षष्ठं अनाहतं चक्रं हृत्स्थानं श्वेतवर्णं तमो गुणं मकाररुद्रो देवता उमा शक्तिः हिरण्यगर्भ ऋषिः नंदी वाहनं प्राण वायुः ज्योतिः

कलाकारदेह सुषुम्णावस्था पश्यंती वाक् सामवेदं अहमस्मित्यग्निः शिवलिंगप्राप्ता भूमिका सायुज्यता मोक्ष द्वादशकला १२ अन्तर्मात्रा १२ कामित्याद्यर्धं इत्येते बहिर्मात्रा १२ रुद्राणी (१) तेजसा (२) तापिनी (३) सुखदा (४) चैतन्या (५) शिवा (६) शान्तिः (७) उमा (८) गौरी (९) मातरः (१०) ज्वाला (११) प्रज्वालिनी (१२) देवता। अजपाजाप्य षट् सहस्रं ६००० घ० १६ पलं १४।

षष्ठं त्वनाहतं चक्रं श्वेतवर्णं हृदि स्थितम्।
तस्य तत्स्मरणेनापि नरो मुच्येत पातकात्॥
अनाहतं महाचक्रं सर्वशक्तिसमन्वितम्।
मनसा धारयेच्छ्रीमान् महापापस्य नाशकम्॥
तस्माच्चक्रमिदं ज्ञेयं ध्येयं च यत्नतत्त्वतः।
पूजा मानसिकी प्रोक्ता सोऽहंभावेन पूजयेत्॥
अत्र गन्धादि समर्पयेत्।

ॐ पञ्चमं मनश्चक्रं मनो देवता बुद्धि शक्तिः आत्मा ऋषिः

ॐ नाभिमध्ये स्थितं पद्मं नाल तस्य दशाङ्गुलम्।
कोमलं तस्य तन्नालं निर्मलं चाप्यधोमुखम्।
कदलीपुष्पसंकाशं तन्मध्ये च प्रतिष्ठितम्।
पूर्वदले श्वेतवर्णे यदा विश्राम्यते मनः
तदा धर्मकीर्ति-मतिर्भवेत्॥ १॥

अग्निदले रक्तवर्णं यदा विश्राम्यते मनः।
तदा क्रोधमात्सर्यमतिर्भवेत् ॥ २॥

दक्षिणदले कृष्णवर्णे यदा विश्राम्यते मनः।
तदा क्रोधमात्ममतिर्भवेत् ॥ ३॥
नैर्ऋत्यदले नीलवर्णे यदा विश्राम्यते मनः।
तदा ममतामतिर्भवेत् ॥ ४॥
मे स्वर्गा मे वित्तं मे धारा

पंचमदले कपिलवर्णे यदा विश्राम्यते मनः ।
तदानन्तोत्साहमतिर्भवेत् ॥ ५ ॥
वायव्यदले श्यामवर्णे यदा विश्राम्यते मनः ।
तदा उच्चाटनमतिर्भवेत् ॥ ६ ॥
उत्तरदले पीतवर्णे यदा विश्राम्यते मनः ।
तदा कामहास्यामतिर्भवेत् ॥ ७ ॥
ईशानदले गौरवर्णे यदा विश्राम्यते मनः ।
तदा क्षमाक्रियाज्ञानवान्मतिर्भवेत् ॥ ८ ॥
संधि संधि त्रिदोषः वात-पित्त-कफमध्ये स्थितिः ॥ ९ ॥

ॐ चतुर्थं मणिपूरकं चक्रं नाभिस्थानं कपिलवर्णं उकार सत्त्व गुणं विष्णुः देवता लक्ष्मी शक्तिः गरुडवाहनं प्रजापति ऋषिः समान वायुः लिंग देह सुषुम्णावस्था मध्यमा वाक् यजुर्वेदः दक्षिणाग्निः आगता भूमिका स्वरूपता मोक्ष दशदल १० दशमात्रा १० शान्तिः १ क्षमा २ मेधा ३ तीव्रा ४ दया ५ धिषणा ६ पुष्करा ७ हंसगामिनी ८ तन्मया ९ लक्ष्मी १० ।

तन्तुना मणिवत्प्रोतो पत्रच्छन्दसुषुम्णया ।
तत्रापि मंडलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥

अमृता देवता १० अजपाजप षट्सहस्रं ६००० घ० १६ पल १४ अ० १।

पूजा मानसिकी प्रोक्ता सोऽहंभावेन पूजयेत् ।
अत्र गन्धादि समर्पयेत् ।

ॐ तृतीयं कुंडलिनीचक्रं सिन्दूरवर्णं सर्पाकारं अधोमुखं अग्निर्देवता ॐ हरिणी शक्तिः ब्रह्मा ऋषिः कूर्मकधूम्रला उद्यानबंधू कामरूप-मंडला कामाख्या देवी मलयाग्निः जठराग्निः गर्भवासस्थानं कामरूपनिवासिनी योगिनी मोक्षदायिनी जठराग्नि-प्रवेशनाभिस्थानं कुण्डलिनी शक्तिः रक्तवर्णं अधोमुखी धूमजगन्माता योगिना चाभ्यसेत् ।

ॐ द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं लिंगस्थानं पीतवर्णं रजोगुणं अकार ब्रह्मा देवता सावित्री शक्तिः वरुण ऋषिः कामाग्निः उजयिनी धारणा स्थूल देह जाग्रदवस्था वैखरी वाक् ऋग्वेद आचार्यं लिंगगता भूमिका सायुज्यता मोक्ष हंसवाहन षण्मात्रा ६ क्षमा १ कामाख्या २ तेजस्विनी ३ उल्लासा ४ वेष्टिता ५ मिथुनी ६ देवता अजपाजाप्य षट्सहस्रं ६००० घ० १६ पल ४० अ० ४०

पूजा मानसिकी प्रोक्ता सोऽहंभावेन पूजयेत् ।
स्वाधिष्ठानं द्वितीयं तु लिङ्गस्थाने ह्यधिष्ठितम् ॥
पीतवर्णं रजोयुक्तं अकारेण समन्वितम् ।
स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयात् ।
अस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते ॥

ॐ प्रथमं आधारचक्रं गुदस्थानं रक्तवर्णं गणेशो देवता सिद्धिः बुद्धिः शक्तिः मूषकवाहनः अपानवायुः उत्सकला अंकोचर मुद्रा मूलबंधः चतुर्दल ४ चतुर्मात्रा ४ वं शं षं सं अंतर्मात्रा ४ बहिर्मात्रा ४ आनन्द १ योगानन्द २ चिदानन्द ३ श्रीपरमानन्द ४। अजपाजाप्य षट्शतसहस्र ६००००० घ० २० प० ४० अ० ४० ।

पूजा मानसिकी प्रोक्ता सोऽहंभावेन पूजयेत् ।
अत्र गन्धादि समर्पयेत् ।

ॐ सप्तद्वीपवती पृथ्वी नवखंडा तथोच्यते । अहंकार उकारकं अहं तत्त्वहेतुर्विराट् शेष प्रकृति देह सहज अधिमात्रा १० ।

द्वीप	अतल पाताले १
जंबूद्वीपः १	गोवन्दिगणः उच्चभालश्रृंगः १
प्लक्षद्वीपः २	गर्दभभालश्रृंगः २
कुशद्वीपः ३	महिष्यश्रृंगः ३
क्रौञ्चद्वीपः ४	माल्यवन्तश्रृंगः ४
शाकद्वीपः ५	वैडूर्यश्रृंगः ५
शाल्मली द्वीपः ६	विलसश्रृंगः ६
पुष्करद्वीपः ७	पुंडरीकश्रृंगः ७

महापुंडरीक शृंगः ८

——

वितल पातालः २ वराहः

——

सुतल पातालः ३ शेषः
शेष प्रमाणं सहस्रकोटिः १००००००००००
अर्धं कोटि नेत्रं

——

पाताल पातालः ४ इच्छाशक्तिः

——

महातल पातालः ५ मायाशक्तिः

——

रसातल पातालः ६ कालाग्निरुद्राः

——

तलातल पाताल : ७ कूर्मः
अथ कूर्मविस्तरं मुखकोटिः १००००००

——

मद्रकः

——

ॐ मत्स्यप्रमाणं पृष्ठ कोटिः ५०००००० नेत्र १८ नासा चाख कोटि पादद्वयं द्वयं दशयोजन कोटि सप्तपातालाश्रयी पृथ्वी १९ सहस्रविस्तार ऊर्ध्वंगताः सुवामेरुरष्टशृंगः तस्याननाम अष्टशृंगः निलिखने नवखंडमयी पृथ्वी विस्तार ४६०००००० भारतखंड, १०००००० योजनं किन्नर खंडः ९०००० योजन २ यलदं खंडः ९००००० योजन ३ रसि खंडः ९००००० योजनं ४ धर्महिरण्यखंडः, ९००००० योजनं ५ ब्राह्मण वर्णं राजा १८ कुरु खंडः ९००००० योजनं ६ लोक युग ४ भारद्वाज खंडः ९०००००, योजन ७ लोक ३

वर्ण कीतुमाल खंड: ९००००० योजन ८ संध्या ३ वेद ४ विन्ध्याचल पर्वत २००००० योजनं मलयाचल पर्वत २००००० योजनं विखंडाचल पर्वत २००००० योजनं अस्ताचल पर्वत २००००० योजनं द्रोणाचल पर्वत २००००० योजनं नमः विशुद्धचक्रं प्रति चतुर्दलचक्रं तावत् एकविंशति स्वर्गाः २१ विश्वकर्मालोकः २१ देवलोकः २० स्वर्गलोकः १९ पिप्यलोकः १८, दिव्यलोकः १७ सत्यलोकः १६ महर्लोकः १५ तपोलोकः १४, पितृलोकः १३ गंधर्वलोकः १२ धर्मराजलोकः ११ चित्ररथलोकः १० काललोकः ९ राक्षसलोकः ८ ब्रह्मराक्षसलोकः ७ चित्रलोकः ६ यक्षलोकः ५ यमलोकः ४ अन्तरिक्षलोकः ३ भूतस्वर्गलोकः २ प्रथमं वासुक्यलोकः १ एकविंशति स्वर्गाणि २१ ।

चित्कण : ज्ञानतन्तु

श्रीकृष्णकी प्रतिज्ञा (द्रौपदीसे)

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा भवेत् ।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रान्नमे मोघो वचं भवेत् ॥
—उद्योग पर्व, ८२।४८

(दुर्योधनसे)

नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नान्यकारणात् ।
न हेतुवादाल्लोभाद्वा धर्मं जह्यां कदाचन ॥
—उद्योग पर्व , ९१–२४

[चाहे हिमालय डगमगा उठे, धरती टूक-टूक हो जाय, तारोंके साथ सारा आकाश गिरकर चूर-चूर हो जाय पर मेरा वचन झूठा नहीं हो सकता ।

मैं कभी किसी कामना, उत्तेजना, द्वेष, अन्य किसी कारण, तर्क-वितर्क या लोभ आदि किसी भी भाव या किसीके प्रभावसे धर्मका पथ नहीं छोड़ता हूँ ।]

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः ।
ततो भवति गोविन्दो यतो कृष्णस्ततो जयः ॥
—उद्योग पर्व ६८।९

यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥
(गीताका अन्तिम श्लोक)

श्रवसोः कुण्डलमक्ष्णोरंजनमुरसी महेन्द्रमणिदाम ।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति ॥

[जहाँ सत्य, धर्म, ह्री (अपनी प्रशंसासे सकुचाना) और सरलता हो वहीं गोविन्द कृष्ण रहते हैं और वहीं विजय होती है।

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा कि जहाँ परामर्श और सहायता देनेवाले योगेश्वर कृष्ण हों और उनके आदेशके अनुसार काम करनेवाला धनुर्धर अर्जुन हो वहीं श्री (शोभा, संपत्ति), विजय, ऐश्वर्य और पक्की (कभी न चूकनेवाली) नीति होती है।]

वृन्दावनकी नवेलियोंके कानोंके कुंडल, आँखके आँजन, छातीपरके नीलमके हार सब कुछ आभूषण बने हुए कृष्णकी जय हो।]

न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान्भजते तथा यथा सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः ॥
—भागवत, १०।३८।२२

[कृष्णके न तो कोई बहुत प्यारे मित्र हैं, न कोई शत्रु, न द्वेषी या उपेक्षित हैं फिर भी वे अपने भक्तोंका सदा वैसे ही कल्याण करते रहते हैं जैसे अपनी शरणमें आए हुए लोगोंकी कामनाएँ कल्पवृक्ष पूरी करता रहता है।]

कृषिर्भूवाचकश्शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः ॥

[कृष्णके नाममें कृषिका अर्थ तो पृथ्वी है और ण का अर्थ है आनन्द। इन दोनोंके योगसे विष्णु ही सात्वत कृष्ण हो जाते हैं।]

इन्द्रियोंके देवता

इन्द्रिय	देवता	कार्य
वाक् (वाणी)	अग्नि	वाणी (बोलना)
जिह्वा (जीभ)	वरुण	रस लेना
नासिका	अश्विनीकुमार	सूँघना, गन्ध लेना
नेत्र	सूर्य	रूप देखना

त्वक् (खाल)	वायु	स्पर्शका अनुभव करना
कान	दसों दिशाएँ	शब्द सुनना
चर्म	ओषधियाँ	खुजली होना
शिश्न (लिंग)	प्रजापति	विषयानन्द लेना
पायु (गुदा)	मित्र	मलत्याग
हाथ	इन्द्र	क्रय-विक्रय, लेना-देना
पैर	विष्णु	गति, चलना
बुद्धि	वागीश	अच्छे-बुरेमें विवेक करना
हृदय (मन)	चन्द्रमा	संकल्प-विकल्प करना
अहंकार	रुद्र	अभिमान करना
चित्त	वासुदेव	चेतनाशक्ति बनी रहना

दस दिशाएँ

१. पूर्व, २. आग्नेय (पूर्व और दक्षिणके बीच), ३. दक्षिण, ४. नैर्ऋत्य (दक्षिण-पश्चिमके बीच), ५. पश्चिम, ६. वायव्य (पश्चिम-उत्तरके बीच), ७. उत्तर, ८. ईशान (उत्तर-पूर्वके बीच) ९. ऊपर, १०. नीचे ।

रसोईघर या अग्निका स्थान कभी ईशान कोणमें नहीं बनाना चाहिए, वह शिवकी दिशा है। वहाँ अग्नि जलानेसे रोग और अकल्याण होता है। अग्नि (रसोई) सदा आग्नेय कोणमें ही होनी चाहिए।

विराट् पुरुष

विराट् पुरुषके चरणोंमें भूलोक, नाभिमें भुवर्लोक और मस्तकमें स्वर्गलोक विराजमान है। —भागवत २।५।२१-३१

चौबीस अवतार

१. वराह, २. सुयज्ञ, ३. कपिल, ४. दत्तात्रेय, ५. सनकादि (सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार), ६. नर-नारायण, ७. हरि

(ध्रुवके निमित्त), ८. पृथु, ९. ऋषभ, १०. हयग्रीव, ११. मत्स्य, १२. कच्छप, १३. नृसिंह, १४. हरि (ग्राहके उद्धारके लिये); १५. वामन, १६. हंस, १७. मन्वन्तर, १८. धन्वन्तरि, १९. परशुराम, २०. राम, २१. बलराम, २२. व्यास, २३. बुद्ध, २४. कल्कि। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं'के अनुसार कृष्णको साक्षात् भगवान् माना जाता है इसलिये उनकी गणना अवतारोंमें नहीं की जाती। जो लोग कृष्णको भी अवतार मानते हैं वे कहते हैं कि ध्रुव और गजके लिये एक 'हरि' अवतार ही हुआ, इसलिये अवतार २४ ही हैं।

दस अवतार

१. वराह, २. मत्स्य, ३. कच्छप, ४. नृसिंह, ५. वामन, ६. परशुराम, ७ राम, ८. कृष्ण, ९. बुद्ध, १०. कल्कि।

जो लोग कृष्णको साक्षात् भगवान् मानते हैं, वे कृष्णके बदले बलरामका नाम जोड़ देते हैं। जो कृष्णको दस अवतारोंमें गिनते हैं उनका कथन है कि बलरान तो शेषके अवतार थे, भगवान् नारायणके नहीं।

दस प्रकारकी सृष्टि

१. महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व), २. अहंकार, ३. तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), ४. ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ— कान, नाक, आँख, जीभ, त्वचा), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, मुख, लिंग (योनि), गुदा और ग्यारहवीं उभयेन्द्रिय मन), ५. इन्द्रियोंके देवता (ऊपर देखो), ६. पंचपर्वा अविद्या (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश)। ये छह तो प्राकृतिक सर्ग (सृष्टि) हैं। ७. स्थावर (वृक्ष आदि), ८. तिर्यक् (पशु-पक्षी आदि) और ९. मनुष्य, ये तीन वैकृतिक सृष्टियाँ हैं। १०. सनत्कुमार आदि ऋषियोंकी सृष्टि वैकृतिक-प्राकृतिक दोनों हैं।

समयकी माप

दो परमाणु = १ अणु		दो दंड (घड़ी)	= १ मुहूर्त्त
तीन अणु = १ त्रसरेणु		छह या सात घड़ी	= ३ मुहूर्त्त, एक याम (प्रहर)
तीन त्रसरेणु = १ त्रुटि		चार प्रहर	= १ दिन या १ रात
सौ त्रुटियाँ = १ वेध		सात दिन	= १ सप्ताह
तीन वेध = १ लव		पन्द्रह दिन	= १ पक्ष
तीन लव = १ निमेष		दो पक्ष	= १ मास
तीन निमेष = १ क्षण		दो मास	= १ ऋतु
पाँच क्षण = १ काष्ठा		छह मास	= १ अयन
दो काष्ठा = १ लघु		दो अयन	= १ वर्ष
पन्द्रह लघु = १ दंड (घड़ी)			

वर्षके पाँच रूप होते हैं—संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर, वत्सर।

दिव्य मानके अनुसार—

सत्ययुग ४८०० वर्ष
त्रेतायुग ३६०० वर्ष
द्वापर २४०० वर्ष
कलियुग १२०० वर्ष
प्रत्येक युगके आदिमें संध्या १०० वर्ष
प्रत्येक युगके अन्तमें अंश १०० वर्ष

त्रिलोकसे बाहर महः लोकसे ब्रह्मलोकतक सहस्र चतुर्युग = १ दिन (ब्रह्माका एक कल्प)। १ कल्पमें १४ मनु (उनका राज्यकाल मन्वन्तर) जिसमें मनु, मनु-पुत्र, ऋषि, देवता, इन्द्र और भगवान्‌का अंशावतार—ये छह होते हैं। ब्रह्माके एक दिनपर त्रिलोकीका प्रलय होता है। ब्रह्माकी आयुका आधा परार्द्ध होता है। अब द्वितीय परार्द्ध चल रहा है। द्विपरार्द्ध = भगवान्‌का निमेष।

छह ऋतुएँ

१. वसन्त (चैत्र, वैशाख), २. ग्रीष्म (ज्येष्ठ, आषाढ), ३. वर्षा (श्रावण, भाद्रपद), ४. शरत् (आश्विन, कार्त्तिक), ५. हेमन्त (मार्गशीर्ष, पौष), ६. शिशिर (माघ, फाल्गुन)।

दो अयन

१. दक्षिणायन (जब सूर्य पृथ्वीके दक्षिणी गोलार्द्धकी ओर रहता है)—१४ या १५ जुलाई से १३ या १४ जनवरीतक।

२. उत्तरायण (जब सूर्य पृथ्वीके उत्तरी गोलार्द्धकी ओर रहता है)—१४ या १५ जनवरीसे १३ या १४ जुलाईतक।

भारतीय दार्शनिकोंका मत है कि उत्तरायणमें जिनका निधन होता है वे देवयान मार्गसे स्वर्गमें जाते हैं।

जननी-जन्मभूमि

जब लंकाके सुबेल पर्वतपर पहुँचकर रामने लक्ष्मण और सुग्रीव आदिको लंका-गढ़का विवरण जाननेको भेजा और लंकाका वैभव देखकर लक्ष्मणने उस वैभवका सराहनापूर्वक वर्णन करना प्रारम्भ किया तब रामने झट टोककर कहा—

> अपि स्वर्णमयी लङ्का न मे लक्ष्मण रोचते।
> पितृक्रमागताऽयोध्या निर्धनाऽपि सुखायते॥

[देखो लक्ष्मण ! यह लंका भले ही स्वर्णमयी (सोनेकी बनी) हो किन्तु मुझे तो परंपरासे प्राप्त मेरी निर्धन अयोध्या ही कहीं अच्छी है।]

क्योंकि रामको यह शंका हो गई कि लंका जीतनेके पश्चात् कहीं लक्ष्मण यह न कहने लगें कि अब यहीं बस रहा जाय।

इस श्लोकके दूसरे चरणका एक पाठ यह भी है—

> जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

[अपनी माता और जन्मभूमि तो स्वर्गसे भी बढ़कर हैं।]

नवधा भक्ति (८१ प्रकारकी)

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

[भगवान्‌के गुणोंको सुनना, उनके गुणोंका कीर्त्तन-गायन-वर्णन करना, उनका नाम स्मरण करना, उनके चरणोंकी सेवा करना, उनकी पूजा करना, उनकी वन्दना करना, उनका दास बनकर उनकी सेवा-टहल करना, उनका सखा बनकर उनका जी बहलाना और अपनेको उनके हाथ सौंप देना।] यह नौ प्रकारकी भक्ति बताई गई है। ये सब नौ प्रकारकी क्रियाएँ सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भावसे की जाती हैं इसलिये ये ९×९=८१ प्रकारकी होती हैं।

काल, कर्म, स्वभाव

जब भगवान् एकसे अनेक होना चाहते हैं तब प्रकृति और पुरुष अलग हो जाते हैं और पुरुषमें काल, कर्म, स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं।

कालसे प्रकृतिके गुणोंका क्षोभ होता है।

स्वभावसे उसमें परिणाम होता है।

कर्मसे महत्तत्व (बुद्धितत्त्व)-का जन्म होता है।

महत्तत्त्वसे सात्त्विक, राजस, तामस अहंकार उत्पन्न होता है।

सात्त्विक अहंकारसे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता और मन उत्पन्न होते हैं। इसके देवता अनिरुद्ध हैं।

राजस अहंकारसे इन्द्रियाँ और बुद्धि उत्पन्न होती हैं। प्रद्युम्न इसके देवता हैं।

तामस अहंकारसे पंच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं।

प्रस्थान-त्रयी

(१) श्रुति-प्रस्थान=उपनिषद्, (२) न्याय-प्रस्थान=ब्रह्मसूत्र, (३) स्मृति-प्रस्थान (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता)।

गीता-त्रयी

(१) श्रीमद्भगवद्गीता (महाभारत-युद्धसे पूव कुरुक्षेत्रमें अर्जुनको उपदेश, भीष्मपर्वमें), (२) अनुगीता (महाभारत युद्धके पश्चात् इन्द्रप्रस्थमें अर्जुनको उपदेश, आश्वमेधिक पर्वमें), (३) उद्धवगीता (स्वलोक-जानेसे पूर्व उद्धवको उपदेश, भागवत, स्कन्ध ११) ।

भागवत महापुराणके दस लक्षण

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं षोषणमूतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥

—भागवत, २।१०।१

[सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय ।]

पोषणं तदनुग्रहः । भगवान्‌की कृपा ही पोषण है ।

पुराणके पाँच लक्षण

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

[सृष्टि, एक प्रलयके पश्चात् दूसरी सृष्टि, वंश, मन्वन्तर, राजाओंके वंशोंका चरित, ये पुराणके पाँच लक्षण हैं ।]

सन्ध्या-समय निषिद्ध कर्म

चत्वारीमानि कर्माणि सन्ध्यायां परिवर्जयेत् ।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायं च चतुर्थकम् ॥

[सन्ध्याके समय चार काम नहीं करने चाहिएँ—भोजन, मैथुन, शयन और अध्ययन ।]

अष्टांग योग

१. यम : अहिंसा, सत्य, अस्तेय (दूसरोंकी वस्तु या धन लेनेकी इच्छातक भी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (किसीसे कुछ न लेना) ।

नियम : शौच (शरीर, मन, बुद्धिकी पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान (भगवान्‌का चिन्तन) ।

आसन : जिस मुद्रासे सुखपूर्वक बैठकर साधना की जा सके ।

प्राणायाम : पूरक, कुंभक, रेचक (साँस भीतर लेने, रोकने और निकालने) का अभ्यास करके प्राणको वशमें करना) ।

प्रत्याहार : मनके द्वारा सब इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटा लेना ।

धारणा : भगवान्‌के स्थूल रूपमें मन स्थिर कर लेना ।

ध्यान : चित्तको पूर्णतः एकाग्र कर लेना । ध्यानकी अवस्थामें ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी बनी रहती है ।

समाधि : वह अवस्था जिसमें ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी भी समाप्त हो जाती है और साधक पूर्णतः आत्मलीन होकर परमानन्दमें मग्न हो जाता है ।

तीन दैवी वीणाएँ

१. कच्छपी : सरस्वतीकी वीणा
२. आलंबी : शिवकी वीणा
३. महती : नारदकी वीणा

खरा मनुष्य

१. अपनी हानि उठाकर भी दूसरेका हित करते रहनेवाला खरा मनुष्य होता है ।

२. जहाँ आत्म-सम्मानको ठेस लगती हो वहाँ क्षण भर भी न टिकनेवाला मनुष्य खरा होता है ।

३. किसीका छल जानकर भी जो उसका प्रतिकार न करके अपनेको संयत रखता है और अपनेसे छल करनेवालेके साथ भी निश्छल व्यवहार करता है वही खरा मनुष्य होता है।

४. जो क्रोध, लोभ, भयका कारण होनेपर भी विचलित नहीं होता वही खरा मनुष्य होता है।

५. जो सत्य और असत्य, न्याय और अन्यायमें कभी समझौता नहीं करता वही खरा मनुष्य होता है।

६. जो अपने ठाने हुए कार्य और दिए हुए वचनका दृढतापूर्वक पालन करता है वही खरा मनुष्य है।

अंगणवेदी वसुधा कुल्या जलधिः स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य॥

[जो वीर अपनी प्रतिज्ञाका पक्का होता है उसके लिये सारी पृथ्वी आँगनमें आ सिमटती है, समुद्र भी तलैया बन जाता है, पाताल भी वेदी बन जाता है और सुमेरु पर्वत भी मिट्टीकी बाँबी-जैसा छोटा हो जाता है।]

७. उपकार करनेवालेके साथ उपकार करना कोई बड़ी बात नहीं है। खरा मनुष्य वह है जो अपने साथ बुराई करनेवालेके साथ भी भलाई करे।

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते॥
जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।
तोकों फूलके फूल हैं, वाको हैं तिरसूल॥

८. जो पुरुष या स्त्री अपने घरको स्वच्छ रखता/रखती, सबसे स्नेह करता/करती, है शान्तिके साथ धीरेसे प्रेमसे मुसकराकर बोलता/बोलती है वही खरा/खरी है। उसीके घर सदा लक्ष्मी (शोभा, शान्ति, सम्पत्ति) बनी रहती है।

९. जो स्त्री या पुरुष मानवताके सुमनों (बच्चों)-को मारते-पीटते हैं वे न तो माता-पिता होनेके योग्य हैं, न अध्यापक-अध्यापिका। ऐसे लोग समाजके पाप और अभिशाप हैं। उनमें मानवी वृत्ति न होकर राक्षसी वृत्ति होती है। खरा वह है जो बच्चोंसे प्यार करे।

१०. जो दूसरोंके धनको ठीकरा, परस्त्रीको माता, बहिन, बेटी और सारे संसारके जीवोंको अपने-जैसा समझता है वही खरा मनुष्य है।

११. सबसे खरा मनुष्य यह है जो तन, मन, धनसे, 'सर्वभूतहिते रत' रहकर सदा सबका उपकार करनेमें ही मगन हुआ रहता है।

१२. खरा मनुष्य वही है जो विचार और विवेकके साथ सब काम करता है, हड़बड़ीमें कोई काम नहीं करता है।

भगवान्का निवास-स्थान

नारदजीके पूछनेपर भगवान्ने कहा—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

[देखो नारद! न तो मैं वैकुण्ठमें रहता हूँ, न योगियोंके हृदयमें रहता हूँ, मैं तो वहीं जमकर बसा रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त बैठे मेरा भजन किया करते हैं।]

पाँच वकारसे सम्मान

विद्यया वपुषा वाचा वस्त्रेण विनयेन च।
वकारैः पञ्चभिर्युक्तो नरः संयाति मान्यताम्॥

[विद्या, वपुष्मत्ता (दर्शनीय हृष्ट-पुष्ट शरीर), मधुर वाणी, स्वच्छ सादे वस्त्र और विनयपूर्ण नम्र व्यवहारसे मनुष्यका सर्वत्र सम्मान होता है।]

सत्यनिष्ठा और मनःशुद्धि

सत मत छोड़ो साहबा, सत छोड़े पत जाय।
सतकी बाँधी लिच्छमी, फेर मिलेगी आय॥
धरम घटेते धन घटै, धन घटि, मन घटि जाय।
मनहि घटे महिमा घटै, ताहि घटे, घट जाय॥
माखी बैठी सहदपै, पंख गए लपटाय।
हाथ मलै अरु सिर धुनै, लालच बुरी बलाय॥
चंदन पर्‍यौ चमार-घर, नित उठि कूटै चाम।
बपुरो चंदन का करै, पर्‍यौ नीचसौं काम॥
चन्दनकी गिटकी भली, गाड़ी भरा न काठ।
चातुर तो इकला भला, मूरख भले न साठ॥

सत्संग

सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥
क्षनेणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ भागवत, ४।२४।५७
तुलयाय लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ भागवत, ४।३०।३४
तात स्वर्ग अपवर्ग-सुख, धरहु तुला इक अंग।
तुलै न ताही सकल मिलि, तुलसी लव सतसंग॥ (रामचरितमानस)

कुसंग

करि कुसंग चाहत कुसल, तुलसी बड़ अफसोस।
महिमा घटी समुद्रकी, रावन बसे पड़ोस॥

कुन्तीके वचन (भगवान्‌को भूलना ही विपत्ति है)

विपदः सन्तु नः शश्वद् यत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥
विपदो नैव विपदः संपदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

[हे जगद्‌गुरु कृष्ण ! हमें निरन्तर जहाँ-तहाँ विपत्तियाँ ही विपत्तियाँ पड़ती रहें तो अच्छा हो जिससे कि आपका वह दर्शन तो मिलता रह सके जिससे फिर-फिर संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता। सच पूछिए तो न तो सांसारिक विपत्तियाँ विपत्तियाँ ही हैं न सांसारिक सम्पत्ति सम्पत्ति ही है। वास्तवमें भगवान्‌को भूल जाना ही विपत्ति है और उन्हें स्मरण करते रहना ही सम्पत्ति है।]

निर्गुण, गुणी और गुण-ग्राहक

गुन ना हेरानो गुन - गाहक हेरानो है ॥
बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
बैठनको छाया नहीं, फल लागैं अति दूर ॥
पंडित और मसालची, दोऊ उलटी रीत।
औरन दिखवइँ चाँदना, आप अँधेरे मीत ॥
गहिली जोबन, मुरुख धन, नदी नीर हर लेत।
बलिहारी नृप कूपकी, गुन-बिन बूँद न देत ॥
जाका पड़ा सुभाव, जायगो जीवसे।
नीम न मीठी होय, सींच गुड़ घीवसे ॥

राम और सीताकी एकात्मता

अशोक-वाटिकामें बैठी सीताजी देखती क्या हैं कि एक भृंगी कीट दूसरे कीटको पकड़ लाया है जो उस भृंगीकी गुनगुनाहटको तन्मयताके साथ सुनता हुआ थोड़ी देरमें भृंगी हो जायगा। यह देखकर उन्होंने पास बैठी त्रिजटासे कहा—

कीटोऽयं भ्रमरी भविष्यति निदिध्यासैर्यथाहं तथा।
स्यामेवं रघुनन्दनेति त्रिजटे दाम्पत्यसौख्यं गतम् ॥

[देखो त्रिजटे ! यह कीड़ा जिस प्रकार इस भृंगीमें तन्मयताके साथ ध्यान लगाकर थोड़ी देरमें भृंगी बन जायगा उसी प्रकार राममें एकाग्रताके साथ ध्यान लगाए रहनेके कारण कहीं मैं भी राम हो गई तब तो मेरा दाम्पत्य-जीवन ही समाप्त हो जायगा।]

यह सुनकर त्रिजटा बोली—

शोकं मा वह मैथिलेशतनये तेवापि योगः कृतः ।
सीता सोऽपि भविष्यतीति सरले तन्नो मतं जानकि ।।

[हे सीते ! आप क्यों जी छोटा किए जा रही हैं । राम भी तो आपमें वैसी ही एकाग्रताके ध्यान लगाए हुए हैं । वे सीता हो जायँगे, आप राम हो जाओगी, आपका दाम्पत्य-जीवन ज्योंका त्यों बना रहेगा ।]

पति-पत्नीमें ऐसी ही एकात्मता होनी चाहिए ।

युगधर्म

[सत्ययुगमें तप, त्रेतामें ज्ञान, द्वापरमें यज्ञ और कलियुगमें दान ही प्रधान धर्म है ।

त्रिपथगा

गंगाजी स्वर्गमें मन्दाकिनी नामसे, पृथ्वीपर (मर्त्यलोकमें) भागीरथी नामसे और पातालमें भोगवती नामसे बहती हैं । इसीलिये वे त्रिपथगा कहलती हैं ।

वाणी

वेदमें वाक् पुरुष (वाणी)-के विषयमें कहा गया है कि वह बड़ा भारी देव-जैसा साँड़ यहाँ मानवोंके बीच आकर चिग्घाड़ रहा है जिसके चार सींग हैं (परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी), तीन पैर हैं (भूत, भविष्य, वर्त्तमान या पुरुष, लिंग, वचन), दो सिर हैं (ध्वनि और वर्ण या व्यंग्य और व्यंजक या शब्द और अर्थ), सात हाथ हैं (सातों विभक्तियाँ) और जो तीन प्रकारसे बँधा हुआ है (हृदयमें, कंठमें और मुखमें)—

चत्वारि शृंगास्त्रयोऽस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ।। यजु०

जैसेके साथ तैसा व्यवहार

यस्मिन्यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्त्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ।।

[जैसेके साथ तैसा व्यवहार करना ही मनुष्यका उचित धर्म है । मायावी या दुष्टको माया (चालबाज़ी)-से हराना चाहिए और सज्जनके साथ सज्जनताका व्यवहार करना चाहिए ।]

कृते प्रति कृतिं कुर्यात् हिंसिते प्रति हिंसितम् ।
न तत्र दोषं पश्यामि शठे शाठ्यं समाचरेत् ।।

[जो भलाई करे उसके साथ भलाई करनी चाहिए, जो मारने आवे उसको मारना ही चाहिए और दुष्टके साथ दुष्टता ही करनी चाहिए ।]

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।।

[वे मूर्ख लोग अवश्य धोखा खाते हैं जो धूर्तोंके साथ धूर्तताका व्यवहार नहीं करते ।]

कृष्ण-बलरामके अस्त्र-शस्त्र

कृष्णके चक्रका नाम सुदर्शन, गदाका नाम कौमोदकी, शंखका नाम पांचजन्य, धनुष्का नाम शार्ङ्ग, तलवारका नाम नन्दन, मालाका नाम कौस्तुभ, छातीपर गोल श्वेत बालोंके गुच्छेका नाम श्रीवत्स और घोड़ोंके नाम शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक थे । ये चारों घोड़े चार रंगके थे—शैव्य : हरा, आगे दाएँ जुता हुआ; सुग्रीव : लाल, आगे बाएँ जुता हुआ; इनके पीछे मेघपुष्प : काला, शैव्यके पीछे जुता हुआ; बलाहक : श्वेत, सुग्रीवके पीछे जुता हुआ । कृष्णकी ध्वजापर गरुड अंकित था । दारुक उनका सारथि था ।

बलरामके हलका नाम संवर्त्तक और मूसलका नाम सौनन्द था ।

जनकका वैराग्य

जनकने कहा था—

मिथिलायां समृद्धायां न मे ऋध्यति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन ।।

[यदि मिथिला समृद्ध होती है तो मुझे कुछ हर्ष नहीं और यदि मिथिला जल जाती है तो मुझे कुछ आँच नहीं आती ।]

भारतीय सेना-योजना

१ रथ, १ हाथी, ५ पैदल, ३ घोड़े = १ पत्ति

३ पत्ति = १ सेनामुख
३ सेनामुख = १ गुल्म
३ गुल्म = १ गण
३ गण = १ वाहिनी
३ वाहिनी = १ पृतना
३ पृतना = १ चमू
३ चमू = ५ अनीकिनी
१० अनीकिनी = १ अक्षौहिणी

अक्षौहिणीका एक विवरण यह भी है—

अयुत च नागास्त्रिगुणीरथानां लक्षैकयोधा दशलक्षवाजिनाम् ।
पदातिसंख्या षट्त्रिंशकोटयः अक्षौहिणी तां मुनयो वदन्ति ।।

[१० सहस्र हाथी, ३० सहस्र रथ, एक लाख योद्धा, दस लाख घोड़े और ३६ करोड़ पैदलको मुनि लोग अक्षौहिणी कहते हैं ।]

अक्षौहिणीका दूसरा विवरण यह है—

२१८७० रथ, २१८७० हाथी, ६५६१० घोड़े, १०८३५० पैदल ।

तीन प्रकारके जीव

प्रवाह : जो आए और हाथ झाड़ते चले गए ।
मर्यादा : जो वेद-शास्त्र-समाजकी मर्यादाके अनुसार चलते रहे ।
पुष्ट : जिनपर भगवान्‌की कृपा होती है ।

स्त्रियाँ सदा शुद्ध होती हैं

स्त्रीणां शौचं ददौ सोमः पावकः सर्वमेध्यताम् ।
कल्याणवाणीं गन्धर्वास्तेन मेध्याः सदा स्त्रियः ॥

[स्त्रियोंको सोमने पवित्रता प्रदान की, अग्निने सब प्रकारकी शुचिता प्रदान की और गन्धर्वोंने कल्याणकारी वाणी प्रदान की, इसलिये स्त्रियाँ सदा पवित्र रहती हैं ।]

मन्त्र

पञ्चाक्षर मन्त्र—ॐ नमः शिवाय ।
षडक्षर मन्त्र—ॐरामाय नमः ।
अष्टाक्षर मन्त्र—ॐनमो नारायणाय
श्रीकृष्णः शरणं मम ।
द्वादशाक्षर मन्त्र—ॐनमो भगवते वासुदेवाय ।
त्रयोदशाक्षर मन्त्र—श्रीराम जय राम जय जय राम ।
तारक मन्त्र—राम (ॐरामाय नमः)

शिवजीके पाँच मुख

१. सद्योजात—इससे श्री रागकी उत्पत्ति हुई ।
२. वामदेव—इससे वसन्त राग उत्पन्न हुआ ।
३. अघोर—इससे भैरव राग जनमा ।
४. तत्पुरुष—इससे पंचम राग हुआ ।
५. ईशान—इससे मेघ राग प्रकट हुआ ।

वेदके अंग

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥

[छन्द तो वेदके पैर हैं, कल्प (कर्मकांड) वेदके हाथ हैं, ज्योतिष् वेदके नेत्र हैं, निरुक्त कान हैं; शिक्षा नाक है, व्याकरण

मुख है इसलिये जो इन अङ्गोंके साथ वेदका अध्ययन करता है वही ब्रह्मलोकमें आनन्द पाता है।]

नमामि शिवकान्ताम्

सरिगमपधनि-रतान्तां　　वीणासंक्रान्तकान्तहस्तान्ताम्।
शान्तां मृदुलस्वान्तां कुचभरश्रान्तां नमामि शिवकान्ताम्॥

[मैं शिवकी कान्ता पार्वतीजीकी वन्दना करता हूँ जो वीणापर अपनी उँगलियाँ चलाती हुई सा रे गा मा पा धा नी स्वरोंमें शान्त होकर मग्न हैं, जिनका हृदय बड़ा कोमल है और जो अपने पीन स्तनोंके भारसे थकी हुई-सी लगती हैं।]

पाँचकी पकड़

निम्नांकित पाँचकी पकड़ बड़ी प्रबल होती है—
ऊँट, घोड़ा, कछुआ, मगर और स्त्रीका हठ।

जिन सोलहका मन कभी नहीं भरता

१. समुद्रका नदियोंसे, २. आगका ईंधनसे, ३. राजाका राज्य-विस्तार (और कुर्सी) से, ४. मूर्ख और दुष्टका पापसे, ५. स्त्रीका काम, अलंकार और सन्ततिसे (अब अधिक सन्ततिसे मन भरने लगा है), ६. ब्राह्मणका मन्त्रसे, ७. ध्यानीका ध्यानसे, ८. विद्या-प्रेमीका अध्ययन और ज्ञानार्जनसे, ९. अल्पेच्छुका त्यागसे, १०. पुरुषार्थीका पराक्रमसे, ११. धर्म-कथाकारका धर्मचर्चासे, १२. विद्वान्का सभा और परिषद्से, १३. श्रद्धालुका सेवासे १४. दाताका दानसे, १५. पंडितका धर्म-श्रवणसे, १६. भक्तका भगवद्दर्शनसे।

पंचशूना (गृहस्थके पाँच पाप-स्थान)

पंचशूना　गृहस्थस्य　चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कंडणी　चोदकुम्भश्च वध्यते :यास्तु वाहयन्॥

—मनुस्मृति, ३।६८

[गृहस्थके घरमें जीव-हत्याके पाँच स्थान बताए गए हैं जहाँ जीव-हत्या अनजाने होती रहती है—चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली, पानीका घड़ा (पनघड़ा)।

पाँच देवतरु

मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पतरु, हरिचन्दन।

कामदेवके पाँच बाण

अरविन्द, अशोक, आमकी मंजरी, नवमल्लिका (चमेली) और नीला कमल।

कामके पाँच बाणोंका प्रभाव--१. द्रावण (घुलाते रखना), २. शोषण (सुखाकर दुबला कर देना), ३. तापन (जलाते रहना), ४. मोहन (मूर्च्छित किए रखना, सुध-बुध भुलाए रखना), ५. उन्मादन (पागल बनाए रखना)।

३३ कोटि (श्रेष्ठतम) देवता

८ वसु—धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभास।

११ रुद्र—मृगव्याध, सर्प, निर्ऋति, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, दहन, ईश्वर, कपाली, स्थाणु, भव।

१२. आदित्य—धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा, विष्णु।

इन्द्र।

प्रजापति। —वनपर्व, २६१।२५

तेंतीस कोटिका अर्थ तेंतीस करोड़ नहीं है।

आदिपर्व (६६।७७) में इन्द्रके बदले वषट्कारकी गणना है।

पंचरत्न (विभिन्न मतोंके अनुसार)

१. नीलम, हीरा, लाल, मोती और मूँगा।

२. सोना चाँदी, मोती, लाजवर्द और मूँगा।

३. सोना, हीरा, नीलम, लाल, मोती।

नवरत्न

मोती, माणिक्य (लाल), वैदूर्य, गोमेद, हीरा, मूँगा, पुष्यराग (पुखराज), पन्ना (मरकत) और नीलम ।

पंचांग

तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण ।

पंचामृत

गौका दूध, शक्कर, गौका घी, गौका दही और मधु (शहद) ।

पंचाग्नि

गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य, आवसथ्य ।

प्रणाम

हाथ जोड़कर, घुटने मोड़कर, सिर नीचे झुकाकर, छाती धरतीसे लगाकर, नेत्रोंको गुरु या देवताके चरणोंमें लगाकर प्रणाम करना पंचांग प्रणाम कहलाता है ।

जानुभ्यां च तथा पद्भ्यां पाणिभ्यामुरसा धिया ।
शिरसा वचसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टांग ईरितः ॥

दोनों हाथ, घुटने, पैर जोड़कर फैलाकर और सिर नीचे लगाकर लंबा लेटकर छाती, नेत्र, बुद्धि और वाणीसे प्रणाम करना साष्टांग प्रणाम कहलाता है ।

पाँच प्रकारकी भक्ति

वात्सल्य, सख्य, दास्य, माधुर्य, शान्त ।

किस देवतासे क्या माँगो

आरोग्यं भास्करादिच्छेत् श्रियमिच्छेत् हुताशनात् ।
ज्ञानञ्च शंकरादिच्छेत् मुक्तिमिच्छेज्जनार्दनात् ॥

[स्वस्थताके लिये सूर्यकी, धनके लिये अग्निकी, ज्ञानके लिये शिवजीकी और मुक्तिके लिये विष्णुकी उपासना करनी चाहिए ।]

अमावास्या और पूर्णिमा (विभिन्न मत)

१. अमावास्याके आठ प्रहरोंमेंसे प्रथम प्रहरको सिनीवाली, बीचके पाँच प्रहरोंको दर्श और अन्तिम दो प्रहरोंको कुहू कहते हैं।

२. तीन कला रात शेष रहनेके समयसे लेकर रात्रिकी समाप्ति-तकको सिनीवाली, प्रतिपदा-विद्धको कुहू और चतुर्दशी-विद्धको दर्श कहते हैं।

३. चतुर्दशी-युक्त सिनीवाली, प्रतिपदायुक्त कुहू, दिनके क्षय या दिनकी वृद्धि होनेपर सारी अमावास्या दर्श कहलाती है।

४. सिनीवाली—चतुर्दशीयुक्त अमावास्या।
अर्चिष्मती पौर्णमासी—दृश्यादृश्या
राका—प्रतिपद्युक्ता पूर्णिमा
अनुमती—चतुर्दशीयुक्ता पूर्णिमा
महामती—प्रतिपद्युक्ता अमावास्या
कुहू—शुद्ध अमावास्या, जिसमें चन्द्रकी एक ही कला रहती है।

अमावास्याको अमावस्या, अमावसी, अमावासी, अमामसी और अमामासी भी कहते हैं।

सात द्वीप

१. जंबू द्वीप—अपनेसे दुगुने विस्तारवाले खारे (लवण) समुद्रसे घिरा हुआ।
२. जम्बू द्वीपसे दुगुना शाक द्वीप - क्षीरसमुद्रसे घिरा हुआ।
३. शाक द्वीपसे दुगुना कुश द्वीप—घृत-समुद्रसे घिरा हुआ।
४. कुश द्वीपसे दुगुना क्रौंच द्वीप—दधि-समुद्रसे घिरा हुआ।
५. क्रौंच द्वीपसे दुगुना शाल्मली द्वीप—मधु-समुद्रसे घिरा हुआ।
६. शाल्मली द्वीपसे दुगुना प्लक्ष द्वीप—ईखके रसके समुद्रसे घिरा हुआ
७. प्लक्ष द्वीपसे दुगुना पुष्कर द्वीप—मीठे जलके समुद्रसे घिरा हुआ।

छह विकार (सब पदार्थोंमें)

जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, क्षयते, नश्यति।

[उत्पन्न होना, बने रहना, बढ़ना, पकना, सूखना, नष्ट हो जाना।]

सन्त या सत्पुरुष

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं त्यजन्तीह ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं निघ्नन्ति स्वार्थाय वै।
येऽपि घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥ १ ॥

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा—
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥ २ ॥

सुजनं व्यजनं मन्ये चारुवंशसमुद्भवम्।
आत्मानं च परिभ्राम्य परतापं हि शाम्यति ॥

[एक तो ऐसे सत्पुरुष होते हैं जो अपना स्वार्थ छोड़कर दूसरोंका ही कल्याण करनेमें लगे रहते हैं। साधारण भले लोग वे हैं जो अपने स्वार्थ-साधनके साथ-साथ दूसरोंका भी हित करते रहते हैं। किन्तु वे तो मानव-राक्षस हैं जो अपना स्वार्थ साधनेके लिये दूसरोंका अहित करनेमें नहीं चूकते। और जो बिना कारण ही दूसरोंको हानि पहुँचाते रहते हैं उन्हें क्या कहकर पुकारा जाय, हम नहीं जानते ॥ १ ॥

जिन सज्जन पुरुषोंके मन, वचन, और कर्म पुण्य (परोपकार)-के अमृतसे भरे रहते हैं, जो निरन्तर निर्बाध परोपकारके कार्योंसे तीनों लोकोंको तृप्त किए रहते हैं और जो दूसरोंके छोटेसे गुणको भी पर्वतके समान बड़ा मानकर अपने हृदयमें खिले पड़ते हैं, ऐसे सज्जन पुरुष संसारमें कितने हैं ॥ २ ॥

अच्छे वंशमें उत्पन्न सज्जनको तो हम अच्छे बाँसकी तीलियोंसे बना पंखा समझते हैं जो अपनेको चक्करमें डाले हुए दूसरोंका ताप दूर करता रहता है ॥ ३ ॥]

संत उदय संतत सुखकारी। बिस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी।

साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार-सारको गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय ॥

श्रीरामायण

वाल्मीकि-स्मृति-मन्दरेण मथिता सीता-रमा-संभवः
सुग्रीवामरभूरुहोऽङ्गदगजः सौमित्रिचन्द्रोदयः।
वातोत्पन्नमणिर्विभीषणसुधः पौलस्त्यहालाहलः
श्रीरामायणदुग्धसिन्धुरमलः भूयात्स नः श्रेयसे ॥

[जिसे वाल्मीकिने अपने स्मरण-रूपी मन्दराचलसे मथा और जिसमेंसे सीतारूपी लक्ष्मी, सुग्रीव-रूपी कल्पवृक्ष, अंगद-रूपी ऐरावत हाथी, लक्ष्मण-रूपी चन्द्रमा, हनुमान्-रूपी कौस्तुभ मणि विभीषण-रूपी अमृत और रावण-रूपी हलाहल उत्पन्न हुआ वह श्रीरामायण-रूपी क्षीरसागर हम सबका कल्याण करे।]

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरिताश्च महीतले।
तावद्रामायणी कथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥

[जबतक पृथ्वीपर पर्वत और नदियाँ हैं तबतक रामकी कथा सब लोकोंमें चलती ही रहेगी।]

रामकी महत्ता

जब रावण मारा गया तब विभीषणने रामसे पूछा—अब क्या किया जाय ? रामने तत्काल कहा—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥

[वैर तो शत्रुके मरनेतक होता है। हमारा लक्ष्य पूरा हो गया (रावणत्व समाप्त हो गया)। इसलिये इसका यथोचित

संस्कार कर डालो क्योंकि अब तो यह वैसा ही मेरा भी (बड़ा भाई) है जैसा तुम्हारा है ।]

द्विश्शरं नाभिसन्धत्ते द्विःस्थापयति नाश्रितान् ।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते ॥

[राम कभी दो बाण नहीं चलाते, एक ही बाणमें शत्रुको ढेर कर डालते हैं । वे दो बार किसीको आश्रय नहीं देते, एक बार ही आश्रय देकर उसे सदा बचाए रखते हैं । मंगतोंको वे दो बार नहीं देते, एक बार ही इतना दे डालते हैं कि उन्हें माँगनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती और राम कभी दो बात नहीं कहते । जो कह देते हैं उसे पूरा कर डालते हैं ।]

भगवान्

ऐश्वर्यस्य समग्रस्म वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतींगना ॥ १ ॥

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रिय- ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतींगना ॥ २ ॥

उत्पत्ति प्रलयञ्चैव भूतानामगतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥ ३ ॥

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥ ४ ॥

महतां क्षुद्रजन्तूनां सर्वेषां जीविनां सदा ।
स्रष्टा पाता च शास्ता च भगवान् करुणानिधिः ॥५॥

[सम्पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य (पराक्रम), यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और मोक्षको भग कहते हैं ॥ १-२ ॥

भगवान् वही कहला सकता है जो सब प्राणियोंकी उत्पत्ति, संहार, पतन और कल्याण, विद्या और अविद्याको जानता हो ॥ ३ ॥

भगवान् शब्द उसीके लिये प्रयुक्त होता है जिसमें पूर्ण ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य (पराक्रम) और तेज हो और कोई हेय गुण न हों ॥ ४ ॥

जो बड़े और छोटे सभी जीवोंको उत्पन्न करनेवाला, उनका रक्षक और उनपर शासन करनेवाला है वही करुणानिधि भगवान् है ॥ ५ ॥]

विद्या

गतेऽपि वयसि ग्राह्या विद्या सर्वात्मना बुधैः ।
यदिहस्यान्न फलदा सुलभा स्यादन्यजन्मनि ॥

[वृद्ध हो जानेपर भी बुद्धिमान्को चाहिए कि मन लगाकर विद्या पढ़ता रहे क्योंकि यदि इस जन्ममें उसका कोई फल न मिला तो अगले जन्ममें तो वह सुलभ हो ही जायगी ।]

पृथ्वी किनपर टिकी है ?

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः ।
अलुब्धैर्दानशूरैश्च सप्तभिर्धार्यते मही ॥

[गौ, विप्र (विद्यावान् ब्राह्मण), वेद, पतिव्रता स्त्री, सत्यवादी, निर्लोभी और दानशूरोंके बलपर ही धरती टिकी हुई है ।]

द्विज, विप्र, श्रोत्रिय

जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥

[जन्मसे सब शूद्र होते है, संस्कार (उपनयन) होनेपर ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य द्विज हो जाते हैं, चौदह विद्याएँ पढ़ लेनेपर विप्र हो पाते हैं और तीनों वेदोंका ज्ञाता होनेपर ही श्रोत्रिय हो पाते हैं ।]

धर्मात्मा पाण्डव

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
माद्रीपुत्रौ पुष्पफले समृद्धे मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥

[युधिष्ठिर ही धर्ममय विशाल वृक्ष हैं, जिसका तना अर्जुन, शाखा भीमसेन, बढ़िया पुष्प और फल नकुल-सहदेव और जिनकी जड़ें हैं ब्रह्मस्वरूप कृष्ण और ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण ।]

धर्मो विवर्धति युधिष्ठिर-कीर्त्तनेन पापं प्रणश्यति वृकोदर-कीर्त्तनेन ।
शत्रुर्विनश्यति धनञ्जय-कीर्त्तनेन माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः ॥

[युधिष्ठिरके गुण-कथनसे धर्म बढ़ता, भीमके गुणकीर्त्तनसे पाप मिटते, अर्जुनके गुणकीर्त्तनसे शत्रु नष्ट होते और नकुल-सहदेव-के गुण-कीर्त्तनसे रोग दूर होते हैं।]

धर्म करनेके उपाय

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥

[धर्म साधनेके आठ उपाय हैं—यज्ञ करना, धर्म-ग्रन्थ पढ़ना, दान देना, तप करना, सत्य बोलना, कोई अपना अहित भी करे उसे क्षमा कर देना, जीवोंपर दया करना और कभी लोभ न करना ।]

—उद्योगपर्व, ३५।५६

धर्म, अर्थ, काम

धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठः मध्यमो ह्यर्थ उच्यते ।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

—शान्तिपर्व, १६७।८

[भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा—राजन् ! धर्म, अर्थ, काममेंसे धर्म ही सबसे अच्छा, अर्थ मध्यम और काम सबसे हीन गुण है, ऐसा समझदार लोग कहते हैं ।]

धर्म

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः । —वैशेषिक दर्शन

[जिस कामसे इस लोकमें अभ्युदय (यश, कीर्ति) हो और परलोकमें मोक्ष मिले वही धर्म है ।]

धर्मके चार चरण

तप, शौच, दया, सत्य; या, सत्य, दया, तप, दान । --भागवत ।

वाणी ही सबसे बड़ा भूषण

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्वलाः
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमैश्चालंकृता मूर्धजाः ।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ।।

[मनुष्यकी शोभा केयूर (बाजूबन्द), चन्द्रमाके समान उज्ज्वल हीरेके हार, स्नान, सुगन्धित लेपन और बालोंमें फूलोंसे नहीं होती । मनुष्य तो केवल मधुर शुद्ध वाणीसे ही शोभा देता है क्योंकि अन्य आभूषण तो नष्ट भी हो जाते हैं किन्तु वाणीका भूषण सदा बना रहता है ।]

कामान्दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं कीर्त्ति सूते दुष्कृतं या हिनस्ति ।
तां चाप्येतां मातरं मङ्गलानां धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः ।।

[मधुर वाणी ऐसी गौ है जो इच्छाएँ पूरी करती है, दरिद्रताका नाश करती है, यश प्रदान करती है, पाप दूर करती है और सदा मंगल ही मंगल करती रहती है ।]

ऐसी बानी बोलिए मनका आपा खोय ।
आपहुको सीतल करै औरो सीतल होय ।।
जिभ्यामें अमृत बसै जो कोउ जानै बोल ।
बिस बासिकका ऊतरै जिभ्या काहि हिलोल ।।
कागा कासों लेत है कोयल काको देत ।
मीठी बानी बोलिकै कोयल मन हरि लेत ।।

मधुर वाणीके प्रयोगसे जाता कुछ नहीं, पर मिलता बहुत कुछ है।

तुलसी मीठे बचनतें, सुख उपजत चहुँ ओर।
बसीकरन इक मन्त्र है परिहरु बचन कठोर।।

[मीठे बचन बोलकर सबको अपना बना लीजिए।]

सभाके योग्य वाणी

तास्तु वाचः सभायोग्या या चित्ताकर्षणक्षमाः।
स्वेषां परेषां सर्वेषां द्विषां च विदुषामपि।।

[वही वाणी सभाके योग्य होती है जो अपनों, परायों, शत्रुओं और विद्वानों सबको आकृष्ट कर ले।]

परिषद्, विधान-सभा और संसद्की भाषा

तथ्यं पथ्यं सहेतुं प्रिय-मित-मृदुलं सारवद्दैन्यहीनं
साभिप्रायं दुरापं सविनयमशठं चित्रमल्पाक्षरञ्च।
बह्वर्थं कोपशून्यं स्मितयुतघनदाक्षिण्यसन्देहहीनं
वाक्यं ब्रूयाद्रसज्ञः परिषदि समये सप्रमेयाप्रमत्तम्।।

[रसज्ञ (समझदार) वक्ताको चाहिए कि परिषद्में उचित अवसर देखकर, सावधान होकर, प्रमाण-सहित ऐसी वाणी बोले जो सत्य हो, हितकर हो, तर्कयुक्त हो, प्रिय, संक्षिप्त और मधुर हो, सारयुक्त हो, दैन्यहीन होकर तावसे कही जाय, जिसका कुछ अभिप्राय हो, दुर्लभ (नवीन), विनययुक्त, शुद्ध चित्तसे (धूर्त्ततासे भरी नहीं), कलात्मक ढंगसे, थोड़े अक्षरोंमें, बहुत अर्थसे भरी हुई, प्रसन्न मनसे (क्रोधहीन होकर), मुसकराहटके साथ, अत्यन्त उदारताके साथ (विरोधियोंका सम्मान करते हुए) और सन्देहरहित होकर कही गई हो।]

ग्रहोंका प्रभाव नहीं

अप्रकीर्णेन्द्रियं दान्तं शुचिं नित्यमतन्द्रितम्।
आस्तिकं श्रद्धधानं च वर्जयन्ति सदा ग्रहाः।।

[इन्द्रियोंको भटकने न देनेवाले, इन्द्रियोंका दमन किए रखनेवाले, मन, वचन, कर्मसे पवित्र, सदा सावधान रहनेवाले, आस्तिक, और ईश्वरमें श्रद्धा रखनेवालेको ग्रह नहीं छेड़ते ।]

ग्रहोंकी सूर्य-परिक्रमाका समय और चन्द्रमा

बुध—८७·९०७ (लगभग ८८) दिनमें ×
शुक्र—२२४·७०१ (लगभग २२५) दिनमें ×
पृथ्वी—३६५·२५६ (लगभग ३६५) दिनमें १ चन्द्रमा
मंगल—१·८८१ वर्ष या ६८६·५६५ दिनमें २ चन्द्रमा
गुरु— ११·८६२ वर्ष या ४३२९·६३० दिनमें १२ चन्द्रमा
शनि—२९·४५८ वर्ष या १०७५२·१७ दिनमें १० चन्द्रमा
वरुण (यूरेनस)–८४·०१५ वष या ३०६६५·५०४ दिनमें ४ चन्द्रमा

हर्षल—८६·६० नर्ष या ३०७२१·१२ दिनमें ×
कुबेर (नेप्चून)–१६४·७८८ वर्ष या ६०१४७·६२० दिनमें २ चन्द्रमा

यम (प्लूटो)—२४७·६९७ वर्ष या ८५०४०९·४०५ दिनमें ×

बहुत दूर होनेके कारण वरुण (यूरेनस); हर्षल, कुबेर (नेप्चून) और यम (प्लूटो)-का कोई प्रभाव पृथ्वीपर नहीं नहीं पड़ता इसीलिये भारतीय ज्योतिर्विदोंने उनकी गणना नहीं की ।

नवग्रह

तद्यपि नव ग्रहोंमें सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतुकी गणवा की जाती है तथापि सूर्य केवल तारा मात्र है, चन्द्रमा उपग्रह है जो पृथ्वी ग्रहके चारों ओर घूमता है तथा राहु-केतु तो ग्रहण-कालके छायामात्र (छाया ग्रह) हैं । अतः, नव ग्रहोंमें इनकी गणना नहीं करनी चाहिए। पृथ्वी अवश्य ग्रह है, उसे ग्रहोंमें प्रमुख स्थान मिलना चाहिए ।

देव-प्रदक्षिणा

एका चण्डचा रवेः सप्त तिस्रो दद्याद्विनायके ।
चतस्रो वासुदेवस्य शिवस्यार्द्धा प्रदक्षिणा ।।

[चण्डी (दुर्गा, देवी)-की एक, सूर्यकी सात, गणेशकी तीन, विष्णुकी चार और शिवकी आधी प्रदक्षिणा करनी चाहिए ।]

रथयात्रा

आषाढ शुक्ल द्वितीयाको जगन्नाथपुरीमें जगन्नाथजीको नन्दिघोष नामक रथमें, बलभद्रको तालध्वज नामक रथमें और सुभद्राको देवदलन नामक रथमें बैठाया जाता है ।

कृष्णद्वैपायन व्यास

श्रवणाञ्जलिपुटपेयं विरचितवान्भारताख्यममृतं यः ।
तमहमरागमकृष्णं कृष्णद्वैपायनं वन्दे ।।

[मैं उन राग-रहित और अकृष्ण (जो वासुदेव कृष्ण नहीं हैं) कृष्णद्वैपायन व्यासकी वन्दना करता हूँ जिन्होंने महाभारत नामके उस अमृतकी रचना की जो कानरूपी अंजलिसे पीया जाता है ।]

ब्रह्महत्याका वितरण

वृत्रासुरके बड़े भाई विश्वरूपके तीन सिर थे। एकसे वह सोम पीता, दूसरेसे सुरा पीता, तीसरेसे अन्न खाता था। इन्द्रने जब उसके तीनों सिर काट दिए तब पहला सिर चातक, दूसरा सिर गौरैया और तीसरा सिर तीतर हुआ। इन्द्रने अपनी यह ब्रह्महत्या पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रियोंमें यह वर देकर बाँट दी कि पृथ्वीमें गड्ढा होगा तो स्वयं भर जायगा। ऊसर ही पृथ्वीमें ब्रह्महत्याका लक्षण है। जल सदा बहता रहेगा, फेन, बुद्बुद, ब्रह्महत्याका लक्षण है। वृक्ष, काटने-छाँटनेपर भी फूट निकलेंगे, गोंद उसमें ब्रह्म-हत्याका लक्षण है, स्त्रियाँ सदा पुरुषके साथ सहवास कर सकेंगी, रजोधर्म उनमें ब्रह्महत्याका चिह्न है।   —भागवत ६।९।७९

पितर

अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः ।
साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा ॥

सभापर्वमें निम्नांकित सात पितर गिनाए गए हैं—

वैराज, अग्निष्वात्त, सोमप, गार्हपत्य, एकशृंग, चतुर्वेद और कला।

संन्यास या वैराग्य लेकर

न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद् बहून् ।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित् ॥

[वैराग्य ले लेनेपर न तो चेले साथ रक्खे, न बहुत ग्रन्थ पढ़े, न व्याख्यान दे, न कोई नया काम छेड़े।] —भागवत ७।१३।८

चित्र-शिखंडी

मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और 'वशिष्ठ, ये मिलकर चित्र-शिखंडी कहलाते हैं।

कर्म, अकर्म, विकर्म

कर्म—अपने वर्णके लिये निर्धारित कर्म करना।

अकर्म—अपने वर्णके लिये निर्दिष्ट कर्म न करना।

विकर्म—दूसरे वर्णके लिये निर्दिष्ट कर्म करने लगना।

दिव्य धनुष्

देवताओंके तीन दिव्य धनुष् हैं—

१—गांडीव : वरुणका, जो अग्निदेवने खांडव वन जलानेपर अर्जुनको दे दिया था।

२—विजय नामक धनुष् : इन्द्रका, जो रुक्मिणीके भाई रुक्मीने गन्धमादन पर्वतके किम्पुरुष द्रुमसे प्राप्त किया था।

३—शार्ङ्ग नामक धनुष् : विष्णुका, जो कृष्णको नरकासुरका वध करनेपर मिला था।

धनुर्वेदके चार पाद

ग्रहण, धारण, प्रयोग, प्रतीकार।

बाणकी दस गतियाँ

उन्मुखी, अभिमुखी, तिर्यक्, मन्दा, गोमूत्रिका, ध्रुवा, स्खलिता, यमकाक्रान्ता, क्रुष्टा, अतिक्रुष्टा। —कर्णपर्व, अध्याय २०

चार प्रकारके अस्त्र

१. मुक्त : जो धनुष् या हाथसे फेंके जायँ जैसे बाण, बर्छी।
२. अमुक्त (शस्त्र) : जिसे हाथमें लिए रहें जैसे तलवार, भाला।
३. यन्त्रमुक्त : जो यन्त्रसे छोड़ा जाय जैसे तोपका गोला।
४. मुक्तामुक्त : जो शत्रुको मारकर लौट आवे जैसे चक्र।

अस्त्रके चार पाद : मनन, उपचार, प्रयोग, संहार।

क्रम-योग

स्वाध्याय, गार्हस्थ्य-जीवन, सन्ध्या-वन्दन; कृच्छ्र चान्द्रायण, यज्ञ,-पूर्त्तकर्म (कुआँ, धर्मशाला, मन्दिर आदि बनवाना), योग, दान, गुरुसेवा, समाधि।

सत्त्वके १८ गुण

प्रीति, प्रकाश, उत्कर्ष, हल्कापन (निश्चिन्तता), सुख, अकार्पण्य, अरोष, सन्तोष, श्रद्धा, क्षमा, धृति, अहिंसा, शौच, अक्रोध, सरलता, समता, सत्य, दोष-दृष्टिका अभाव।

मंगल पदार्थ

अनलो गौर्हिरण्यं च दूर्वा गोरोचनामृतम्।
अक्षतं दधि चेत्याष्टौ मङ्गलानि प्रचक्षते ॥

[अग्नि, गौ, स्वर्ण, दूर्वा, गोरोचन, अमृत (घी), अक्षत और दही, ये आठ मंगल पदार्थ माने गए हैं।]

ॐ तत् सत्

१. वेद-पाठ यज्ञ, दान और तप प्रारंभ करनेसे पूर्व ॐ कहना चाहिए।
२. निष्काम यज्ञ, दान और तप करनेसे पूर्व तत् कहना चाहिए।
३. शुद्ध मनसे कोई भी सत्कर्म करनेसे पहले सत् कहना चाहिए।

कुशा और दर्भ

एक अरत्नि (कोहनीसे कानी उँगलीके सिरेतक एक हाथ) लंबी तो कुशा कहलाती है। कुशासे बड़ीको दर्भ कहते हैं।

विशिष्ट विमान

पुष्पक : कुबेरका
सौभ : शाल्वका
कांचन : दत्तात्रेयजीकी कृपासे कार्तवीर्यको मिला था।

घृत और आज्य

जमे हुए घीको घृत और पिघले हुए घीको आज्य कहते हैं। हवनमें आज्यका ही प्रयोग होता है, घृतका नहीं।

दान और तप

दान और तपमें दान ही श्रेष्ठ है। —वनपर्व २५९।२८

विशिष्ट सारथि

अर्जुनके सारथि श्रीकृष्ण
धृतराष्ट्रके सारथि संजय
इन्द्रके सारथि मातलि
दशरथके सारथि सुमन्त्र
परशुरामके सारथि सुमह
कर्णके सारथि शल्य
श्रीकृष्णके सारथि दारुक —विराट्पर्व, १२।९

महाभारत

महाभारतका पाठ यद्यपि 'नारायणं नमस्कृत्य'से प्रारंभ किया जाता है किन्तु कुछ आचार्योंका मत है कि आस्तीक पर्वसे या उपरिचर वसुकी कथा (आदिपर्व, अध्याय ५७)-से पाठ आरंभ करना चाहिए। —आदिपर्व १।५२

महत्त्वाद् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते ।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।

[अपने महत्त्व और गरिमाके कारण ही इसका नाम महाभारत पड़ा है। जो इस व्याख्याको जानता है उसके सब पाप कट जाते हैं।]

महाभारत-युद्धमें भीष्मने १० दिन, द्रोणाचार्यने ५ दिन, कर्णने २ दिन, शल्यने आधे दिन युद्ध किया और आधे दिन भीम-दुर्योधनका गदा-युद्ध हुआ। १८ वें दिन रातको अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्माने पांडवोंके पुत्रों और सैनिकोंको सोतेमें मार डाला।

महाभारत तो धर्म, अर्थ और कामका शास्त्र है।

—आदिपर्व, अध्याय ३१३, ३८३

महाभारतके युद्धमें एक अरब छाछठ करोड़ बीस हज़ार योद्धा मारे गए और चौबीस हज़ार एक सौ पैंसठ लापता हुए।

—स्त्रीपर्व, २६।९-१०

व्यासजीने महाभारतके विषयमें कहा है—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा ।।

—आदिपर्व, १।८१

[महाभारतमें ८८०० श्लोक ऐसे हैं जिन्हें या तो मैं समझता हूँ या मेरा पुत्र शुकदेव समझता है और संजय भी समझता है या नहीं यह नहीं कहा जा सकता।]

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित् ॥

[धर्म; अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें जो कुछ ज्ञान महाभारतमें है वही अन्यत्र भी है, जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है ।]

—आदिपर्व, ६।५५३

सौगन्धिक वन

गन्धमादन पर्वतपर बदरिकाश्रमके पास वर्त्तमान फूलोंकी घाटी ही सौगन्धिक वन है । —वनपर्व, अध्याय १४३।१५२

धर्मचक्र-प्रवर्त्तन

बुद्धसे बहुत पहले गोमतीके तटपर नैमिषारण्यके नागपुर नगरमें धर्मचक्र-प्रवर्त्तन किया गया था । भीष्मने भी धर्मचक्र-प्रवर्त्तन किया था । —आदिपर्व, १०८।१४

वनस्पति, वीरुध, भूरूह

वनस्पति : बिना पुष्पके फल देनेवाले वृक्ष, कटहल, नारियल ।
वीरुध : लता, गुल्म (झाड़ी), बाँस, वल्ली, घास आदि ।
भूरुह : फूल आनेपर फल देनेनाले ।

—आदिपर्व, अध्याय ६६ के अन्तमें

स्तोत्रात्मा

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै स्तोत्रात्मने नमः ॥

[जिस स्तोत्रात्मा अग्निका चार अक्षर (आ श्रावय), चार अक्षर (अस्तु श्रौषट्), दो अक्षर (यज), पाँच अक्षर (ये यजामहे) और दो अक्षर (वषट्) से आवाहन किया जाता है उसे प्रणाम है ।] हलन्त ट् की गिनती नहीं होती ।

नाम क्यों ?

कुलके क्षीण हो जानेपर अभिमन्युका पुत्र उत्पन्न हुआ था इसलिये उसका नाम परिक्षित् पड़ा । —आश्वलायनपर्व, ७०

कर्णका नाम वसुषेण था किन्तु कवच-कुंडल काटकर दे देनेपर उसका नाम वैकर्त्तन और कर्ण पड़ा। —आदिपर्व, ११०।३१

द्रोणाचार्यका पुत्र उत्पन्न होते ही घोड़ेके समान हिनहिनाया था इसलिये उसका नाम अश्वत्थामा पड़ा। —द्रोणपर्व, १९६।२०-३१

वृत्रासुरका वध करनेके कारण इन्द्रका नाम महेन्द्र पड़ा।
—उद्योगपर्व, १३४।२४

शान्तनुके पुत्र भीष्मका नाम देवदत्त और गंगादत्त था।
—आदिपर्व, ९८।२४

शान्तनु

यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं स सुखमनुश्ते।
पुनर्युवा च भवति तस्मात् तं शान्तनुं विदुः॥

[वे जिसे छू देते थे वह बूढ़ा भी जवान और सुखी हो जाता था इसलिये उन्हें लोग शान्तनु कहते थे।] —आदिपर्व, ९५।४६

चौदह वर्ष-तक पाप नहीं

आचतुर्दशद्वर्षान्न भविष्यति पातकम्।
परतः कुर्वतामेवं दोष एव भविष्यति॥

[चौदह वर्षकी अवस्थातक किए हुए किसी भी कामका पाप नहीं लगता। उसके पश्चात् ही लगता है।] —आदिपर्व, १०७।१४

पंचकन्या

१. अहल्याको इन्द्रने चिर कन्या बने रहनेका वर दिया था।
२. द्रौपदीको व्यासजीने चिरकन्या बने रहनेका वर दिया था।
—आदिपर्व १९७।१

एक एक पांडवसे समागम करके द्रौपदी अगले दिन फिर कन्या हो जाती थी।

३. कुन्तीको सूर्यने चिर कन्या बने रहनेका वर दिया था।
—आदिपर्व, १९६।७

४. ताराको मयासुरने चिर कन्या बने रहनेका वर दिया था।

५. रंभाकी कन्या मन्दोदरीको रम्भाने चिर कन्या, चिर युवती और चिर सुन्दरी बने रहनेका वर दिया था।

अहल्या द्रौपदी कुन्ती तारा मन्दोदरी तथा।
पञ्चकन्या स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम् ॥

दिनचर्या

पूर्वाह्णे त्वाचरेद्धर्मं मध्याह्नेऽर्थमुपार्जयेत्।

सायाह्णे चाचरेत् काममित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥

[वैदिक श्रुतिके अनुसार दिनके प्रथम प्रहरमें धर्मकार्य करे, दोपहरमें धनोपार्जनका काम करे और सायंकाल खेलकूद तथा अन्य कामोपभोगके कार्य करे।] —दक्षस्मृति

शरीरकी दस दशाएँ

गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगण्ड, यौवन, वार्धक्य, जरा, प्राणरोध, निधन।

छह दोष छोड़िए

जो अपना कल्याण चाहे उसे छह दोष छोड़ देने चाहिएँ—निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, कठोरता और दीर्घसूत्रता (आजका काम कलपर टाल देना)। —सभापर्व, ५।१२६

पावक, जातवेद, हव्यवाट्

पवित्र होनेके कारण अग्निको पावक, हविष्य ग्रहण करनेके कारण हव्यवाहन और वेदोंका जन्म ही उसके लिये हुआ है इसलिये अग्निको जातवेद कहते हैं।] —सभापर्व, ३१।४८

व्रतमें सेवनीय

जल, मूल (कन्द), फल, फूल, दूध, घी, औषध लेना, ब्राह्मणकी इच्छापूर्ति और गुरुका वचन मानना व्रतमें दोष नहीं होता।

—उद्योगपर्व, ३९।७०

शनिका प्रभाव नहीं

महर्षि दधीचिके पुत्र ऋषि पिप्पलादके आदेशसे १६ वर्षके बालकपर शनिका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसके पश्चात् भी नित्य एक माला (१०८ बार) निम्नांकित श्लोक जपनेसे शनिका प्रभाव नष्ट हो जाता है—

पिप्पलादं च गाधिं च कौशिकं च मुनित्रयम्।
यः स्मरेत् प्रयतो नित्यं शनि-पीडा न बाधते॥

—शतरुद्रसंहिता

मृत्युञ्जय-विधान

भगवान् नृसिंह या विष्णु (लक्ष्मी-नारायण)-के मन्दिरमें या पीपलके वृक्षके नीचे या तुलसीके बिरवेके पास ब्रह्मचर्यपूर्वक ४० दिनोंतक ११ माला नित्य निम्नांकित श्लोकका जप सिद्ध कर लेनेपर साधकमें यह शक्ति आ जाती है कि वह जिस रोगीके सिरपर हाथ रखकर यह श्लोक १० बार पढ़ दे उसकी आई हुई मृत्यु भी लौट जाती है—

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतो मुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥

मन्त्र-दीक्षा

कोई भी मन्त्र किसी श्रोत्रिय ब्राह्मण या मन्त्र-सिद्ध महापुरुषसे लेकर, मन्त्र-दीक्षित होकर ही जपना चाहिए, अन्यथा मन्त्रके जपका कोई फल नहीं होता। पुस्तक देखकर या किसी अप्रामाणिक व्यक्तिसे मन्त्र नहीं ग्रहण करना चाहिए।

॥ 'ब्रह्म-साक्षात्कारके सरल उपाय' नामक ग्रन्थ सम्पूर्ण॥

॥ इति मंगलम्॥